विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

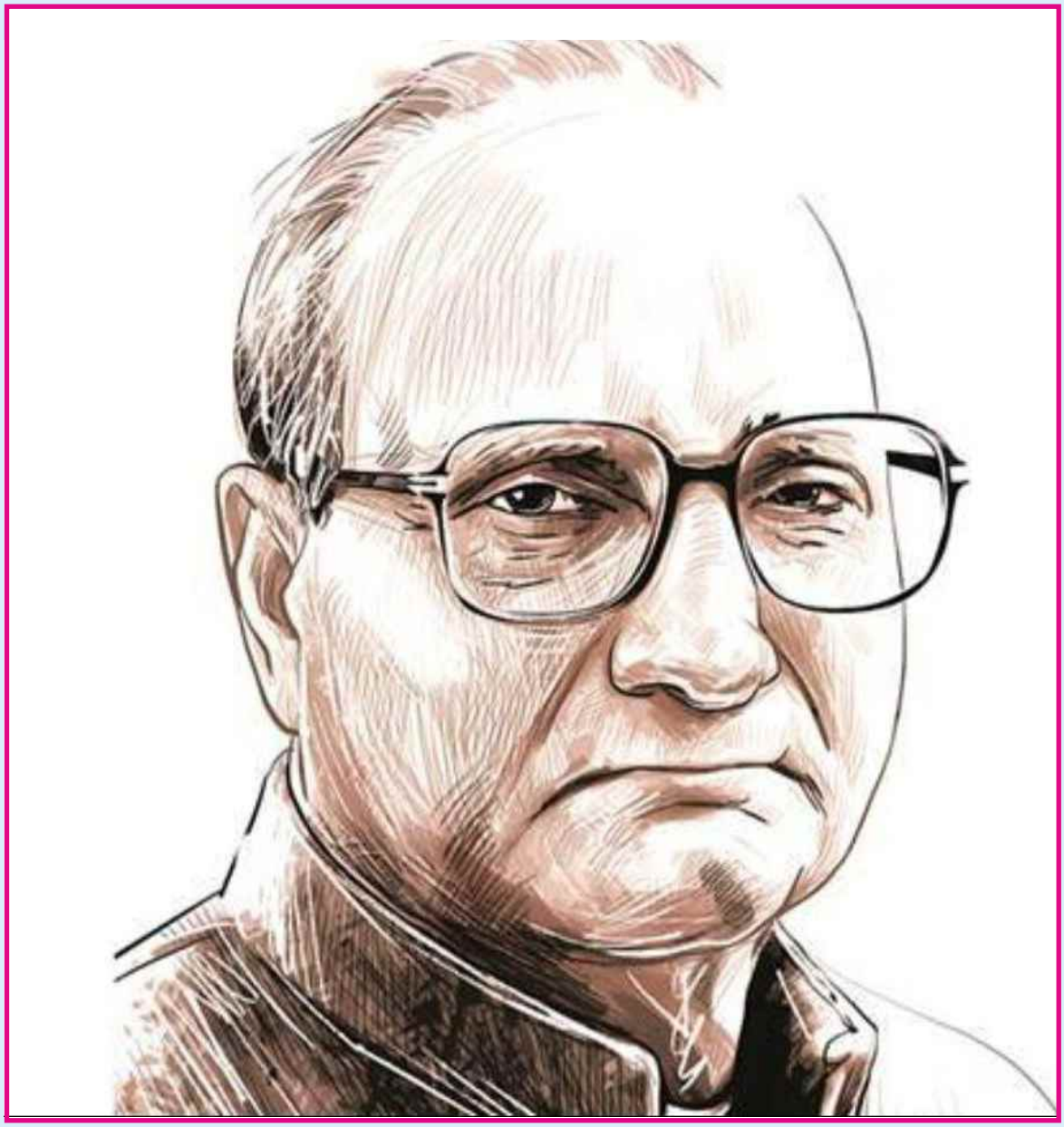

श्रीलाल शुक्ल विशेषांक

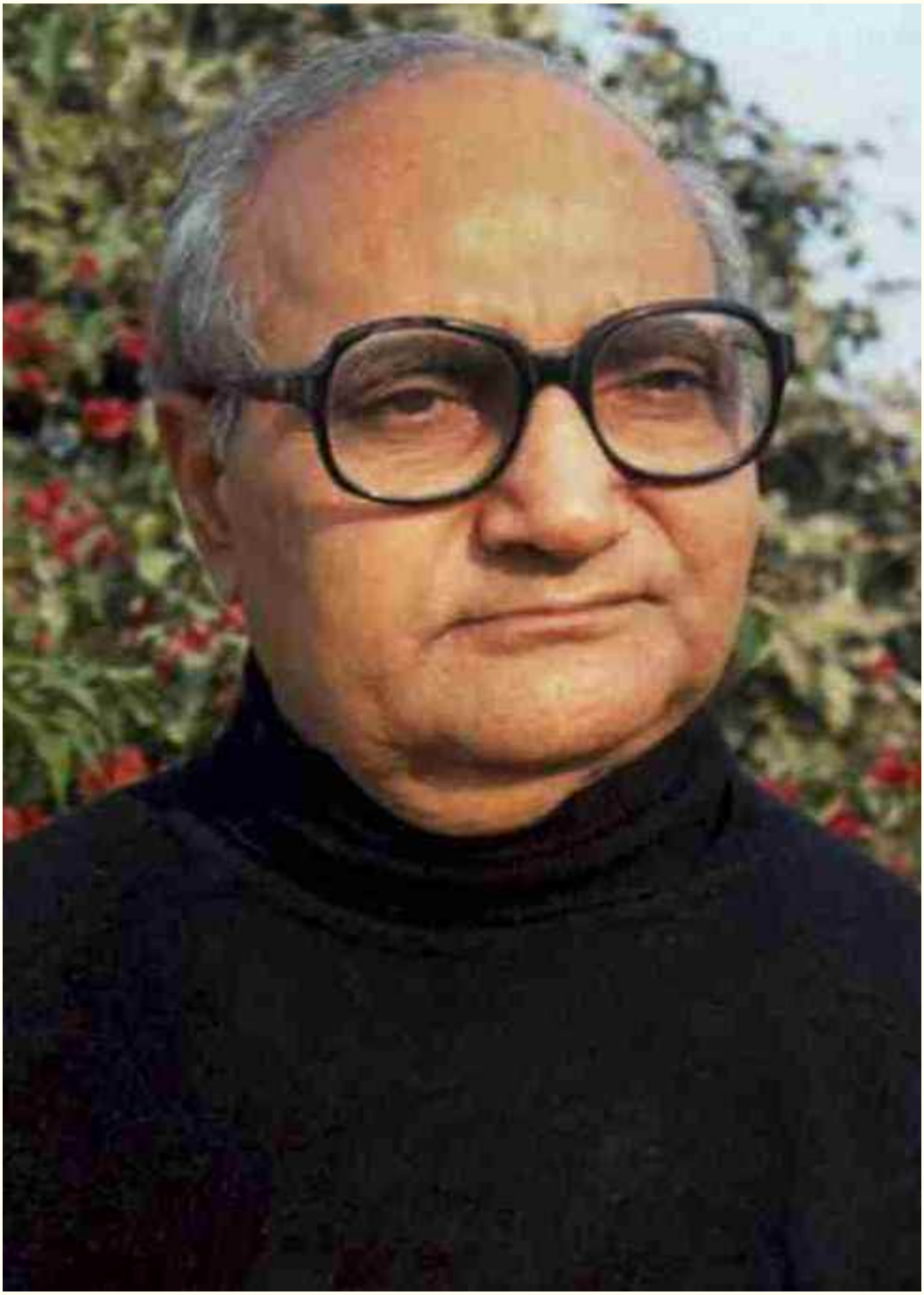

श्रीलाल शुक्ल विशेषांक

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी

वर्ष 39-40, अंक 223-224, नवम्बर, 2023-फरवरी, 2024

मुख्य संपादक

डॉ. पंकज ललित

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि.प्र.

उपसंपादक
अजय शर्मा

संपादक
मनजीत शर्मा

सम्पर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि.प्र.
39-एस.डी.ए., शिमला-171009,
दूरभाष : 0177-2626614-15-16, फैक्स : 2628789
सदस्यता शुल्क बैंक खाते में जमा करवाकर उसका विवरण और अपना पूरा पता
e-mail : vipashapatrika@gmail.com पर भेजें।

बैंक खाता संख्या : 50100562040901, **IFSC:** HDFC0002447
खाता धारक : निदेशक, भाषा एवं संस्कृति
SBI COLLECT: https://www.onlinesbi.sbi/sbicollect/icollecthome.htm?corpID=5493608
त्रैवार्षिक शुल्क : 150 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये, यह अंक : 30 रुपये

क्रम

3. संपादकीय

लेख एवं टिप्पणियाँ

5. अपने बारे में
11. लेखनी / विलास उर्फ लिखने की मजबूरी
13. स्वर्गग्राम और वर्षा
17. सफ़ेद कालर का विद्रोह
20. अगली शताब्दी का शहर
24. लखनऊ-1
30. शलवार के बहाने एक सांस्कृतिक चिंतन
32. वह संसद में जाना चाहता है
34. निराला के बहाने कुछ साहित्य-चर्चा
36. स्वामी से भी ज़्यादा स्वामीभक्त
38. हिन्दी पर दो टिप्पणियाँ

कहानी

44. छुट्टियाँ
57. यह घर मेरा नहीं
65. टी.एम. सिंह की कथा
69. जीवन का एक सुखी दिन
71. पहली चूक

उपन्यास अंश

74. सूनी घाटी का सूरज, 87. अज्ञातवास, 93. राग दरबारी, 115. आदमी का ज़हर
122. सीमाएँ टूटती हैं, 129. मकान 147. पहला पड़ाव 167. बिस्रामपुर का संत
184. बब्बर सिंह और उनके साथी 189. राग-विराग

लेख

200. श्रीलाल शुक्ल के न होने का अर्थ : **प्रेम जनमेजय**
203. मैं व्यंग्य के लिए व्यंग्य नहीं लिखता : **विजय विशाल**
207. राग दरबारी प्रहसन जारी है : **पद्म गुप्त अमिताभ**

संस्मरण

212. श्रीलाल शुक्ल से एक मुलाकात जैसा मैंने जाना : **लालित्य ललित**

परिशिष्ट

215. श्रीलाल शुक्ल

रेखांकन : **आस्था** प्रूफशोधन एवं प्रकाशन सहयोग : **सरोजना नरवाल** प्रचार-प्रसार : **मुनीष गौतम**

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं । **-संपादक**

संपादकीय

राग दरबारी के विलक्षण रचनाकार

विपाशा के माध्यम से हमारा यह प्रयास रहा है कि हमारी साहित्यिक थाती को किसी न किसी रूप में शोधार्थियों व पाठकों के सामने लाया जाए। इस शृंखला में पूर्व अंकों में कई प्रसिद्ध साहित्यकारों पर विशिष्ट सामग्री देने का प्रयास किया गया है। यह अंक श्रीलाल शुक्ल पर केन्द्रित है और उन्हें ही समर्पित है।

31 दिसम्बर, 1925 को उत्तर प्रदेश के अतरौली में जन्मे श्रीलाल शुक्ल का प्रसिद्ध उपन्यास 'राग दरबारी' हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में गिना जाता है जिसे सन् 1970 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से नवाजा गया। यद्यपि यह उपन्यास पहले ही लोकप्रिय हो गया था तथापि दूरदर्शन से इसके प्रसारण से भीष्म साहनी के 'तमस' की तरह इसकी बहुत सराहना हुई और जन-जन तक पहुंच गया। इस सीरियल में हिमाचल प्रदेश के प्रसिद्ध अभिनेता मनोहर सिंह ने वैद्यजी के चरित्र को अपने सशक्त अभिनय से निभाया, जिस वैद्य के बारे में श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है—"वैद्य थे, हैं और रहेंगे। अंग्रेजों के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देसी हकूमत के दिनों में वे देसी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे।"

श्रीलाल शुक्ल का जन्म एक साधारण खेतिहरों के परिवार में हुआ था। एक छोटे खेतिहरों का परिवार आर्थिक रूप से अवश्य एक गरीब परिवार था किन्तु संस्कार उस परिवार के गरीबी के न थे। वे स्वयं कहते हैं कि उनके पिता गरीब थे पर उनके संस्कार गरीबी के न थे। इन्हीं संस्कारों का प्रभाव श्रीलाल शुक्ल के जीवन में उनके लेखन में उनके व्यंग्य में दिखाई पड़ता है। वे गरीबी के गरिमा-मण्डन के विरूद्ध थे। वे स्वयं कहते हैं—"भारतीय भाषाओं में जब साहित्यकार के संघर्षशील क्षणों या उसकी गर्दिश के दिनों का प्रसंग उठता है, तो वह प्रायः उसकी ग़रीबी या अभावों का प्रसंग होता है, अपने परिवेश से टकराने या रचना-प्रक्रिया के तनावों को झेलने का नहीं। संघर्षशील साहित्यकार की एक ख़ास तस्वीर बन गयी है जिसमें वह कविता या कहानी या उपन्यास नहीं लिखता, वह साहित्य-सेवा या साहित्य-साधना करता है। ग़रीबी और अभाव की स्थिति उसके साहित्यिक कृतित्व को अतिरिक्त गरिमा देती जान पड़ती है। एक तरह से साहित्यकार के हक़ में ग़रीबी को एक साहित्यिक मूल्य मान लिया हो। साहित्यकार के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति होने के बावजूद मुझे उसकी ग़रीबी का अनावश्यक गरिमा-मण्डन अप्रिय लगता रहा है।"

एक प्रशासनिक अधिकारी होते हुए श्रीलाल शुक्ल ने हिन्दी सहित्य में अपना नाम कमाया और तीखे व्यंग्य भी लिखे। वे एक कहानीकार, उपन्यासकार, समालोचक तथा बाल साहित्यकार के साथ जाने-माने व्यंग्यकार थे। उनकी कई रचनाएं स्कूल और कॉलेज के सिलेबस में पढ़ाई जाती हैं और अनेक शोधार्थियों ने उनके लेखन पर पी.एच.डी. की है।

लेखन में ख्याति अर्जित करने पर उन्हें अनेक पुरस्कारों और सम्मानों से अलंकृत

किया गया। 'राग दरबारी' के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार के अलावा इन्हें लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान, शरद जोशी सम्मान, व्यास सम्मान, यशभारती पुरस्कार तथा पद्मविभूषण सम्मान सहित कई अन्य सम्मान भी प्रदान किए गए।

श्रीलाल शुक्ल के रचनाकर्म की विशिष्टता यह भी रही है कि वे केवल एक सफल व्यंग्यकार ही नहीं थे अपितु जाने-माने कहानीकार, उपन्यासकार, समालोचक और बाल साहित्यकार भी थे। उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं में सफलतापूर्वक हाथ आजमाया और अपने समय के सशक्त साहित्यकार होकर उभरे। उनका पहला उपन्यास 1957 में 'सूनी घाटी का सूरज' नामक प्रकाशित हुआ तो 'राग दरबारी' 1968 में। 'अज्ञात वास', 'आदमी का जहर', 'सीमाएं टूटती हैं', 'मकान', 'पहला पड़ाव', 'बिस्रामपुर का संत', 'बब्बर सिंह और उसके साथी', 'राग विराग' इनके अन्य उपन्यास हैं। तीन कहानी संग्रह : 'यह घर मेरा नहीं', 'सुरक्षा तथा अन्य कहानियां', 'इस उम्र में' प्रकाशित हुए। प्रथम व्यंग्य संग्रह 1958 में 'अंगद का पांव', 'वहाँ से वहां', 'उमराव नगर में कुछ दिन', 'कुछ ज़मीन पर कुछ हवा में', 'आओ बैठ लें कुछ देर', 'ख़बरों की जुगाली' आदि हैं। अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर पर उन्होंने आलोचनात्मक पुस्तकें लिखीं। शुक्लजी अपने अंतिम समय तक लेखन में सक्रीय रहे। स्ट्रोक के कारण हाथ से लिखने में कठिनाई होते हुए भी वे बराबर लिखते रहे।

श्रीलाल शुक्ल ने अपने व्यंग्य के माध्यम से शाश्वत सामाजिक समस्याओं की ओर इशारा किया। वे अपनी अनूठी शैली और आकर्षक कथ्य से व्यंग्य को एक नई धार प्रदान करते हैं। 'शलवार के बहाने एक सांस्कृतिक चिंतन' में वे लिखते हैं—"आइए, कुछ देर के लिए मान लें कि नग्नता से उबर कर अंजीर की पत्ती से अंग ढकना, फिर बल्कल वस्त्रों का आना, फिर बिना सिले उत्तरीय और अधोवस्त्र का प्रयोग करना और अब शलवार-कुर्ते में पैठ जाना--ये सब सभ्यता-यात्रा की बढ़ती मंजिलों को वैसे ही प्रमाणित करते हैं जैसे हमारे फ़ैशन डिजायनरों की मदद से हमारा फिर उसी पुरानी नग्नता की ओर धीरे-धीरे, पर पक्के तौर पर बढ़ना।"

सरकारी परियोजनाओं के नामकरण पर उनका सटीक व्यंग्य—"अब, परियोजनाओं का जन्म बाद में होता है, नामकरण पहले...सारी परियोजनाएं अब घूम फिर कर एक ही खानदान के तीन-चार नामों के गुब्बार में पटखनी खा कर चित्त पड़ी हैं। सो, इस अफ़सर ने भी उसी खानदान के एक लगभग नाबालिग नाम का सहारा लिया।" (अगली शताब्दी का शहर)

व्यंग्य का एक और नमूना—"किसी खेत के एक कोने में बिरहन खड़ी रो रही है। मतलब यह कि गा रही है। बिरहन वर्षा ऋतु में बहुतायत में पाई जाती हैं। वे गाँवों में रहती हैं। (स्वर्णग्राम और वर्षा)

प्रस्तुत अंक में श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य तथा उपन्यास अंश देने के साथ उन पर महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटाई गई है। इस अंक में श्रीलाल शुक्ल स्वर्गग्राम और वर्षा, सफ़ेद कालर का विद्रोह, लखनऊ-1 जैसे व्यंग्य व लेख; छुट्टियां, यह घर मेरा नहीं जैसी कहानियां और कुछ महत्त्वपूर्ण उपन्यासों के अंश दिए गए हैं। इनके साथ प्रेम जनमेजय, विजय विशाल, पद्म गुप्त अमिताभ, लालित्य ललित के श्रीलाल शुक्ल पर महत्त्वपूर्ण आलेख तथा संस्मरण दिए गए हैं।

लेख एवं टिप्पणियाँ

अपने बारे में

भारतीय भाषाओं में जब साहित्यकार के संघर्षशील क्षणों या उसकी गर्दिश के दिनों का प्रसंग उठता है, तो वह प्रायः उसकी गरीबी या अभावों का प्रसंग होता है, अपने परिवेश से टकराने या रचना-प्रक्रिया के तनावों को झेलने का नहीं। संघर्षशील साहित्यकार की एक ख़ास तस्वीर बन गयी है जिसमें वह कविता या कहानी या उपन्यास नहीं लिखता, वह साहित्य-सेवा या साहित्य-साधना करता है। गरीबी और अभाव की स्थिति उसके साहित्यिक कृतित्व को अतिरिक्त गरिमा देती जान पड़ती है। एक तरह से साहित्यकार के हक में गरीबी को एक साहित्यिक मूल्य मान लिया गया है।

साहित्यकार के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति होने के बावजूद मुझे उसकी गरीबी का अनावश्यक गरिमा-मण्डन अप्रिय लगता रहा है। 'वह तोड़ती पत्थर' की नायिका और उसके रचयिता का अपना विशिष्ट महत्त्व मानते हुए भी मैं यह नहीं मान पाया हूँ कि पत्थर तोड़ने वाली के आर्थिक संघर्ष से निराला का आर्थिक संघर्ष वस्तुतः भिन्न है, या वह किसी अतिरिक्त चिंता का विषय है। बुनियादी तौर पर चिंता का विषय अगर कोई है, तो दोनों की जड़ में मौजूद वह व्यवस्था है जो शोषण के सिद्धान्त पर पनप रही है।

वास्तव में भारत जैसे देश में गरीब या बेरोज़गार होना बड़ी बात नहीं। तभी जब कोई लेखनीधारी नागरिक अपनी विपन्नता के आत्मदयापूर्ण विवरण पेश करता है तो मुझे लगता है कि वह अप्रत्यक्ष रूप से उन सबका अपमान कर रहा है जो उससे भी कड़े अभावों को झेल रहे हैं पर उसकी तरह आत्म-प्रकाशन नहीं कर पा रहे हैं।

यही वजह है कि अपने अतीत के बारे में बात करते हुए मुझे झिझक होती है। पर इसके बावजूद कुछ तथ्यों का ज़िक्र न करना भी पाठकों के साथ ज़्यादती करना होगा, क्योंकि उनकी जानकारी मेरे साहित्य की मानसिकता तक पहुँचने में प्रासंगिक हो सकती है।

आर्थिक सुरक्षा क्या चीज़ है, इसका सही अनुभव मुझे आज भी नहीं है। प्रकटतः लखनऊ के एक हैसियतदार मोहल्ले में रहते हुए मैं एक मध्यमवर्गीय सरकारी अफ़सर की ज़िन्दगी गुज़ार रहा हूँ। पर मेरा एक पैर गरीबी के खेमे में है जिसे मैं जीवन के पूर्वार्द्ध में जान चुका हूँ और दूसरा पैर सम्पन्नता के उस खेमे में है जो मेरे पास-पड़ोस दिखाई देती है। और उन दो में से किसी भी खेमे में सुकून और अपनेपन का अनुभव नहीं कर पाता हूँ।

लखनऊ ज़िले में मैं जहाँ पैदा हुआ, वह पुश्तैनी तौर पर छोटे खेतिहरों का परिवार था। मुझे याद है, सन् 1930-35 की भयंकर आर्थिक गिरावट के दिनों में (मेरा जन्म 1925

के आखिरी दिन हुआ था) अवध के सामान्य खेतिहरों की दुरवस्था से मेरे परिवार को भी निकलना पड़ा था। अफ़सोस है कि किसानों की उस भयानक स्थिति का तथ्यपरक वर्णन हिन्दी साहित्य में नहीं मिलता। प्रेमचन्द की कुछ कृतियों को छोड़कर इस विषय पर जहाँ कहीं लिखा भी गया है, वह इतना सुबुक-सुबुकवादी है कि इससे समस्या की कोई पहचान नहीं होती।

मेरे पितामह को, जिनका देहान्त मेरे जन्म से कुछ महीने पहले हो गया था, संस्कृत और उर्दू-फ़ारसी का बहुत अच्छा ज्ञान था। कुछ साल वह पास के एक स्कूल में अध्यापक भी थे। बाद में इस्तीफ़ा देकर वह एक बड़े विद्वान और छोटे किसान-भर रह गये। 55-56 साल की उम्र में उन्होंने सितार बजाना भी सीखा।

मेरे पिता को निर्धनता, सदाचरण और साहित्य तथा संगीत का संस्कार विरासत में मिला। वह गरीब थे, पर उनके संस्कार गरीबी के न थे। उन्हें कसरत और संगीत का शौक था। वे विद्वान् न थे, पर उर्दू, हिन्दी और संस्कृत की उन्हें कामचलाऊ जानकारी थी। उन्हें हिन्दी और संस्कृत की बहुत-सी कविताएँ याद थीं जिनमें से अधिकांश को उन्होंने मुझे बचपन में याद करा दिया था। हाईस्कूल तक आते-आते मैंने जब संस्कृत का अभ्यास शुरू किया तो उन कविताओं के शब्द और वाक्यांश अपने-आप मेरे वाक्यों में ढलने लगे थे और व्याकरण की कमज़ोरी के बावजूद मैं अभिव्यक्ति की कमज़ोरी नहीं महसूस करता था।

वस्तुतः मेरे पिता का कोई पेशा न था। वह जीवन के पूर्वार्द्ध में अपने पिता पर, फिर कुछ वर्ष भाग्य और लगातार कम होती हुई खेती पर और उत्तरार्द्ध में अपने बड़े लड़के, यानी मेरे बड़े भाई पर, जो किसी तरह हाईस्कूल पास करते ही कुशाग्रबुद्धि होते हुए भी आगे पढ़ने का ख्याल छोड़कर कानपुर में नौकरी करने लगे थे, निर्भर रहे। 1945 में, जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में बी.ए. का छात्र था, उनका देहान्त हो गया।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में पैदा होने और बराबर गाँव में रहने पर भी मेरी माँ को पढ़ने-लिखने का मौका मिल गया था और उन्हें हिन्दी और गणित की सामान्य जानकारी थी। साधनहीन होने पर भी वे बहुत उदार थीं—शायद उनकी यही प्रवृत्ति मुझमें बिगड़कर फ़िज़ूलखर्ची बन गयी है। ख़ास बात यह है कि ज़िन्दगी के बहुरंगी पक्षों के प्रति उनका उत्साह कभी कम नहीं हुआ। बाद में मेरे साथ रहते हुए वह क्रिकेट और बैडमिन्टन का मैच बड़ी दिलचस्पी से देखती थीं। उन्हें सिनेमा देखने और गाना सुनने का भी ख़ासा शौक था। जब वह 57 साल की थीं, मैंने उन्हें राइफल चलाना सिखाया था और उनका निशाना अच्छा-खासा हो गया था, मुझसे तो अच्छा ही। 1960 में अल्मोड़ा में, जहाँ उन दिनों मेरा छोटा भाई सब-डिवीज़नल मजिस्ट्रेट था, उनका देहान्त हुआ।

1950 तक मैंने अपने परिवार की निर्धनता और उसकी संस्कार-संपन्नता, दोनों को काफ़ी हद तक घटा दिया था।

अभावग्रस्त बचपन, मेहनत और चिंताओं से भरा विद्यार्थी-जीवन, बाद में मँझोली हैसियत की एक सरकारी नौकरी—अपने इन अनुभवों की कहानी सुनाना बेकार है क्योंकि इस तरह की कहानियाँ बहुत बासी हैं और बहुत बार दोहरायी जा चुकी हैं। फ़िल्म और कहानी-उपन्यास तो इनसे भरे हैं ही, वास्तविक जीवन में भी वह रोज़ ही होता रहता है। देश के न जाने कितने उच्चतम प्रोफ़ेसर, वकील, डॉक्टर, प्रशासक, व्यवसायी, नेता, अभिनेता शुरू

में अभावों को झेलते हुए और प्रशंसनीय प्राणवत्ता दिखाते हुए प्रोलोतेरियत या निम्न मध्यवर्ग से उभरकर मध्यवर्ग या उच्चतर मध्यवर्ग में आये हैं और बाद में अपने नये वर्ग का पूरा चरित्र अपनाकर 'ऐक्वीज़िटिव सोसाइटी' के उत्साही सदस्य बने हुए वे किस तरह उन्हीं शक्तियों के हाथ मज़बूत कर रहे हैं जिन्होंने उनके बचपन को अभावों से जकड़ रखा था, इस पर विस्तार में जाने की यहाँ ज़रूरत नहीं है।

इस दृष्टि से मैं एक अदना स्टीरियोटाइप-भर हूँ। अपने को थोड़ा अलग मानने का दम्भ सिर्फ़ इस आधार पर कर सकता हूँ कि अपने अनुभवों को मैंने यथासम्भव झुठलाया नहीं है, और अपनी सामाजिक उपयोगिता को मैंने ख़त्म नहीं माना है, बल्कि एक उम्मीद बाकी है कि अपनी सामाजिक उपयोगिता की सही शुरुआत करने की स्थिति अभी आनेवाली है।

बचपन से ही मेरी साहित्यिक रुचि क्लासिकी थी (जो आधुनिक का अनिवार्यतः विपर्यय नहीं है)। उस वातावरण में वह इसके सिवा कुछ और नहीं हो सकती थी। हम लोग अंतर्लापिका, बहिर्लापिका, सिंहावलोकन आदि के रोमांस से बारह-तेरह साल की उम्र तक परिचित हो गये थे।

मेरे एक चाचा पंडित चन्द्रमौलि सुकुल थे—पिता के चचेरे भाई। 1907 में लखनऊ यूनिवर्सिटी के तत्कालीन रूप कैनिंग कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास करके और सर्वप्रथम स्थान पाकर उन्होंने स्वेच्छा से अध्यापकी वृत्ति अपनायी थी। बाद में वह काशी विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में चले गये थे। उन्होंने हिन्दी में अनेक किताबें लिखीं। मनोविज्ञान और शरीर-रचना पर उन्होंने शायद हिन्दी की पहली किताबें लिखी थीं। उन्होंने गाँव के आसपास काफ़ी बड़ी ज़मींदारी ख़रीदी और जब वह गर्मियों में मोटर पर गाँव आते तो हमें भी एक छद्मसम्पन्नता का आभास होता। पर उनकी सम्पन्नता में मेरे मतलब की चीज़ सिर्फ़ उनकी किताबें और पत्रिकाएँ थीं। वह हमारे लिए 'चाँद', 'माधुरी', 'सुधा', 'सरस्वती', 'गंगा', 'हंस', 'सुकवि', 'काव्यकलाधर' आदि पढ़ने का मौका था। मैंने प्रेमचंद और प्रसाद की कई पुस्तकें, जो उन्हें भेंट की गयी थीं, आठवीं पास करने के पहले ही पढ़ी थीं, उन पर उन साहित्यिकों के हस्ताक्षरों को बार-बार गौर से देखा था। नागरी प्रचारिणी सभा और गंगा पुस्तकमाला आदि के नवीनतम प्रकाशन मैंने 1939-40 तक पढ़ लिये थे। उनमें वृंदावनलाल वर्मा और निराला की कृतियाँ भी थीं।

इसके अलावा बैसवाड़े की ग्राम्य संस्कृति का, जिसके बारे में डॉ. रामविलास शर्मा ने कई जगह लिखा है, मेरे गाँव पर भी असर था। इससे वहाँ का हर साक्षर अपने को कवि समझता था। इस माहौल में मैंने बारह-तेरह साल की उम्र में घनाक्षरी-सवैये लिखने शुरू कर दिए। कविता की यह कोशिश 1939-1945 तक मेरे बड़े काम आयी।

उन दिनों कवि-सम्मेलनों में सनेही, अनूप शर्मा, हितैषी आदि का बोलबाला था। बच्चन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', नेपाली, सोहनलाल द्विवेदी आदि भी कवि-सम्मेलनों में जमते थे, पर असली कविता, ख़ास तौर से छोटे शहरों और कस्बों में, घनाक्षरी और सवैया की ही थी। 1943-44 तक मैंने कई घनाक्षरियाँ और दूसरी तरह की कविताएँ लिखीं। गाकर सुनाने के मामले में मेरा गला हमेशा स्वेच्छाचारी था, कभी-कभी अच्छा-ख़ासा जमा भी ले जाता था। ऐसे मौकों पर थियेटरी ढंग से सुनाने के लिए मेरे पास कुछ लम्बी कविताएँ थीं, हालाँकि उस हालत में मेरे कवि-मित्र सोचते थे कि मैं घनाक्षरी-स्कूल के साथ दगाबाज़ी कर रहा हूँ।

बहरहाल 1945 तक, यानी इंटर पास करते-करते मैं उस समुदाय का उदीयमान कवि बन चुका था जो अब हिन्दी कविता का 'अंडरवर्ल्ड' माना जाता है। और इसी बीच कवि की हैसियत से चुक भी गया था।

कविता के साथ मेरे उस समय के प्रेमाचार से कई फ़ायदे हुए। हाईस्कूल और इण्टर के दिनों में कवि-सम्मेलनों से कभी-कभी महीने का खर्च चलाने लायक रुपया मिलने लगा, लोगों से जान-पहचान बढ़ी, एक खास क़िस्म के साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा मिली, क्लेशपूर्ण विद्यार्थी जीवन में बराबर खुश रहने का एक सीगा हाथ आया और कवि होने की विशिष्टता के आगे किसी तरह की हीन भावना सर नहीं उठा सकी, झेंपू होते हुए भी लोगों के बीच उठने-बैठने की झिझक ख़त्म हुई। कुछ नुकसान भी हुए—गम्भीर अध्ययन और चिंतन के प्रति निर्दिष्ट रूप से प्रवृत्त होने का अवसर हाथ से निकल गया। गैर-कविसम्मेलनी कविता में अच्छी और बुरी की तमीज़ करने की प्रवृत्ति बहुत देर बाद जग पायी, नियमित रहन-सहन, समय की कीमत की पहचान—यह सब स्वभाव से दूर हो गया, बरसों तक दूर बना रहा।

1945 तक मुझमें यह समझ आ गयी थी कि मैं पद्य लिख सकता हूँ (जो अजब नहीं कि मैं फिर से लिखना शुरू कर दूँ) पर कविता नहीं लिख सकता; इसलिए और कई बाहरी दबावों के कारण कवि बनने की वह झूठी शुरुआत ख़त्म हो गयी। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पहुँचकर एकाध छिट-पुट कविताएँ लिखने और ख़ारिज़ करने के दरम्यान कुछ कहानियाँ भी लिखीं और खारिज़ कीं। जो ख़ारिज़ नहीं कीं उनमें 'शहीद' नाम की कहानी है जो बरसों बाद, संशोधित होकर निकष-2 में छपी।

केशवचन्द्र वर्मा मेरे पुराने दोस्त थे। उनके साथ धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर, गिरिधर गोपाल, जगदीश गुप्त आदि से सम्पर्क हुआ, पर मेरी स्थिति बहुत हद तक तटवर्ती रही, वहाँ मैं 'प्रैक्टिसिंग साहित्यकार' न था।

बी.ए. के बाद लखनऊ विश्वविद्यालय में एम.ए. और कानून की कक्षाओं में प्रवेश तो ले लिया, पर पढ़ाई चल न सकी। यह फरवरी 1948 की बात है। अतः 'यूनिवर्सिटी मैन' बनने का स्वाभाविक ख्वाब छोड़ते हुए घर जाकर बैठ गया। फिर कुछ करने की सोच रहा था, तभी शादी कर ली, क्योंकि मुझे यकीन था कि जो पत्नी मिल रही है, वह मेरे लिए सबसे अच्छी पत्नी है। आज भी मैं अपने उस यकीन की दाद देता हूँ। 1949 में मैं स्टेट सिविल सर्विस में नियुक्ति पा गया।

सरकारी नौकरी में आ जाने के बाद 1954 तक मेरा उसी हद तक लेखन से वास्ता रहा जिस हद तक सरकारी काम के लिए ज़रूरी था। उसके बाद मेरे ही एक अंग्रेज़ी लेख के अनुसार—"अगर किशोरावस्था के अनाचार शुमार न किये जायँ तो साहित्य में मेरे प्रयोग 28 साल की काफ़ी परिपक्व अवस्था से शुरू हुए (सिविल सर्वेन्ट की हैसियत से मेरा कैरियर पहले ही शुरू हो गया था)। यह 1953-54 की बात है। उस समय मैं बुन्देलखण्ड के राठ नामक परम अविकसित क्षेत्र के एक डाक बँगले में रहता था और एक बैटरी वाला रेडियो, दो राइफलें, एक बन्दूक, एक खचड़ा आस्टिन, मुट्ठी-भर किताबें (ज़्यादातर रिप्रिंट सोसायटी के प्रकाशन), एकाध पत्रिकाएँ, कभी शिकवा न करने वाली बीवी और दो बहुत छोटे बच्चे, जिन्होंने स्थानीय बोली के सौंदर्य के प्रति उन्मुख होना-भर शुरू किया था, यही मेरे सुख के साधन थे।

"एक दिन आकाशवाणी के एक नाटक का रोमांटिक धुआँधार (जो आकाशवाणी के नाटकों आदि में हमेशा बलबलाता रहता है) झेलने में अपने को बेकाबू पाकर और लगभग हिंसात्मक विद्रोह करते हुए मैंने 'स्वर्णग्राम और वर्षा' नामक लेख लिखा और उसे धर्मवीर भारती को भेज दिया। आकाशवाणी के उस वर्षा-सम्बन्धी नाटक पर मेरी यह प्रतिक्रिया रेडियो-सेट उठाकर पटक देने के मुकाबले कम हानिकर थी। बहरहाल वह लेख छपा 'निकष' में, जो तत्कालीन हिंदी लेखन में एक विशेष स्तर की प्रतिभा के साथ उसी स्तर की स्नाबरी से जुड़कर निकलने वाला एक नियतकालीन संकलन था। उसके बाद ही भारती से कई जगह से पूछा जाने लगा कि श्रीलाल शुक्ल कौन हैं..।"

मेरे व्यंग्य-लेखन की यही शुरुआत थी। 1955 से मैंने नियमित लेखन शुरू कर दिया था। उसके बाद लगभग दस साल तक हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ मेरे हास्य-व्यंग्य निबन्धों, सामान्य लेखों, कहानियों, उपन्यास-अंशों से भरी रहीं। भारती और केशवचन्द्र वर्मा की प्रेरणा से मेरा पहला उपन्यास 'सूनी घाटी का सूरज' किताब महल ने तुरन्त छाप दिया। उसके एक वर्ष बाद ही 'ज्ञानोदय' और दूसरी जगह छपे हुए व्यंग्य-निबंधों का पहला संग्रह 'अंगद का पाँव' भारतीय ज्ञानपीठ ने छापा। लेखक की हैसियत से दुकान बैठालने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। प्रकाशन के लिए मुझे कोई भी ऐसा संघर्ष नहीं झेलना पड़ा जिसकी मैं डींग हाँक सकूँ। साहित्य में मुझे सामान्यतया प्रोत्साहन और सद्भाव के साथ ग्रहण किया गया। वह दूसरी बात है कि अब कभी-कभी अशोक बाजपेयी या कुँवरनारायण जैसे साहित्यकारों के साथ मेरा नाम जोड़ते हुए (जिससे मुझे खुशी होती है) कोई कह बैठता है—"ये प्रतिष्ठानपरस्त, सुविधावादी लेखक क्या लिखेंगे?"

इसका कोई जवाब नहीं है, सिवाय इसके—"तो तुम्हीं लिखो।"

सुविधावादी होने का आरोप तो बकवास है, पर प्रतिष्ठानवाली दिक्कत काफ़ी असली है। प्रतिष्ठान के साथ लेखक का, सृजनशील लेखक का सम्बन्ध निश्चय ही ऐसी समस्याओं और तनावों को उभारता है, जिन्हें वाग्पटुता से नहीं टाला जा सकता।

शुरू में मेरे लिए कोई समस्या नहीं थी। 'शेर का शिकार' और 'अंगद का पाँव' जैसी रचनाएँ किसी को भी खुश कर सकती हैं और किसी का इनसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पर कुछ दिन बाद ही यह नाकाफ़ी जान पड़ने लगा। लगा, यह तट पर बालू के साथ किया गया खिलवाड़-भर है। अपर्याप्ति की इस छटपटाहट का एहसास होते ही कुछ गहराई में जाना अनिवार्य हो जाता है और वहीं से ख़तरे की शुरुआत होती है।

मेरी स्थिति के बहुत-से लेखक अपने लिए ऐसे तत्त्वपूर्ण और अमूर्त विषय चुनते हैं जो उनकी रचनात्मक या विश्लेषणात्मक क्षमता के प्रकाशन के लिए काफ़ी लम्बी-चौड़ी ज़मीन दे देते हैं। पर प्रायः यह तटवर्ती लेखन ही होता है जो ख़तरे की लहर को नहीं छूता। बड़े गहन और गम्भीर स्तर का होते हुए भी घूम-फिरकर ऐसा लेखन पुराने सिविल सर्वेंटों के उस लेखन के समकक्ष हो जाता है जो पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान, पशु-पक्षी जगत् आदि पर ग्रंथ लिखा करते थे।

पर मेरे जैसा लेखक, जिसकी शुरुआत ही व्यंग्य और तीखे लेखन से हुई हो, इस तरह के पलायन से अपने को बहुत दिन तक फुसला नहीं सकता, क्योंकि ऐसे लेखन के

पीछे सामाजिक जीवन की जिस क्वालिटी का आदर्श है, वह आसानी से मुझे छोड़नेवाला नहीं है। किसी व्यवस्था पर प्रत्यक्ष चोट करना मेरा मंतव्य हो या न हो, पर इस एहसास से कि चाहने पर भी उस पर चोट नहीं की जा सकती, मेरे लेखन पर एक अस्पष्ट पर निश्चित क्रूर ग्रह की छाया पड़ने लगती है।

'राग दरबारी' के प्रकाशन के समय इस बाहरी प्रतिबंध का मुझे गहराई से अनुभव हुआ था और यह केवल उत्तर प्रदेश शासन की सदाशयता थी कि उस समय मेरे लिए नौकरी छोड़ना लाज़मी नहीं हुआ।

किन्तु समस्या का यह पहलू बिल्कुल ही स्पष्ट है और इसका हल बहुत मुश्किल नहीं है। किसी भी समय प्रतिष्ठान से अलग होकर इससे छुटकारा लिया जा सकता है। पर समस्या का दूसरा पहलू इससे ज़्यादा क्रूर और कठिन है।

सवाल व्यक्तित्व के ह्रास का है। बाहर से कोई दबाव न हो, तब भी प्रतिष्ठान के निरंतर सम्बन्ध से लेखक का व्यक्तित्व धीरे-धीरे गिरता जाता है। 'स्रवते ब्रह्म तस्यापि भग्नभांडात् पयो यथा'—टूटे हुए बरतन से जैसे पानी, उसी तरह उसका व्यक्तित्व धीरे-धीरे रिस जाता है। यहाँ बात सिर्फ़ सरकारी नौकरी की नहीं, उन सब प्रतिष्ठानों से सम्बन्ध की है जहाँ व्यक्ति को एक निर्धारित आचरण का, पूर्वानुभव और पूर्वदृष्टांतों पर आधारित किसी ख़ास चिन्तन-परम्परा का अनुसरण करना होता है। जो दिन-भर एक ऐसी भाषा और शब्दावली का प्रयोग करता है जिसके शब्द बरसों के इस्तेमाल से अपनी सारी नयी संभावनाएँ खो चुके हैं, जिसका सारा चिंतन और आचरण निर्दिष्ट पद्धति और पूर्वदृष्टांत का पिछलगुआ हो, जिसकी धारणाएँ और विवेक पूर्वानुभव से या किसी ऊपरी सत्ता से अनुशासित हों, वह धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व में उन तत्त्वों को आत्मसात् करेगा ही जो बुनियादी तौर पर अच्छे सृजनात्मक लेखन के ख़िलाफ़ हैं। बहुत दिनों तक इन अंतर्विरोधी तत्त्वों में ताल-मेल बिठाने की कोशिश भले ही की जाय, जैसा कि मैं कर रहा हूँ, पर रास्ते के मोड़ पर मीडियाक्रिटी के दलदल का ख़तरा बराबर बना रहता है।

फ़िलहाल मुझे कोई दूसरा रास्ता नहीं दीखता। पर इस स्थिति के बारे में मुझे कोई भ्रम नहीं है। व्यापार, सरकारी नौकरी, या अर्थार्जन के ऐसे धंधे, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमें राज्य-सत्ता पर आश्रित रखते हैं, सही-गलत के बारे में हमारी कल्पना को धीरे-धीरे पराश्रित बनाने लगते हैं। तब वे स्थितियाँ, जिनसे किसी विस्फोट की सम्भावना निकल सकती थी, सिर्फ़ फ़ाइल और कॉफ़ी के प्याले पर होने वाली बहस का हिस्सा बन जाती है, कुव्यवस्था से चिपके रहने के कारण उसे व्यवस्था का सहज अंग मानने की आदत पड़ जाती है और संवेदना, जो सृजन की बुनियादी शर्त है, भोथरी पड़ने लगती है।

यही एहसास मुझे कई वर्षों से उलझन में डाले हुए है। पर अगर अपनी मानसिकता को मैं पराश्रित होने से बचा सका हूँ, जैसा कि मैं कभी-कभी खुशफ़हमी में सोचता हूँ, तो उसका कारण भी शायद यही एहसास है।

(1973 के आसपास की रचना)

लेखनी/विलास उर्फ लिखने की मजबूरी

इस विवरण को आगे बढ़ाने के लिए कुछ देर आत्मकथा के हाशिये पर कलम चलाना चाहता हूँ।

मैंने अब तक तीन किताबें लिखी हैं, वैसे कुछ इधर-उधर की जोड़कर कुल पाँच किताबें हो गयी हैं। हर नयी किताब के साथ यह अनुभव और भी तीखा होता जाता है कि किताब लिखने का काम बड़ा उलझा हुआ मसला है।

पहली किताब—सूनी घाटी का सूरज—1955-56 में लिखी। प्रकाशक ने इसे उपन्यास कहकर छापा है। तब मैं तीसवें साल में चल रहा था और लेखक बनने की जल्दी में था। अतः उसे बस यूँ ही लिख गया। कोई तकलीफ नहीं हुई। 'प्रीत्या विजयदेवाय, धर्मवीराय धीमते...केशवाय समर्प्यते' के उत्साह का करिश्मा—यह उपन्यास दरअसल उपन्यास नहीं, एक अच्छे उपन्यास की सामग्री का संचयनभर था। मैं इतनी जल्दी में था कि मुझे इसके शीर्षक के लिए वक्त देना भी मुश्किल हो गया था। जब डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने इसका शीर्षक दिया तो किताब तुरन्त छपकर बाज़ार में आ गयी और तब से अब तक बराबर बनी रही। उनका आभारी हूँ। पर सिर्फ़ शीर्षक की वजह से यह किताब आज तक मेरे लिए अजनबी है। मैंने आगे के लिए तय किया कि किसी मित्र का दिया हुआ बढ़िया शीर्षक लेने के बजाय अपने घटिया शीर्षक से ही काम चलाना चाहिए।

दूसरे उपन्यास का आरंभ शीर्षक से ही हुआ—'अज्ञातवास'। वर्ष : 1960। इसे लिखने में पहली बार लिखने का मज़ा—आया नहीं—चखा। गनीमत थी कि लगभग 100 फुलस्केप पृष्ठ लिखते-लिखते उपन्यास चुक गया; यह दूसरी बात है कि लिखे 400 पृष्ठ होंगे। लिख चुकने पर भी चोटों के दाग बहुत दिन तक मन पर बने रहे।

फिर 'राग दरबारी'। इसने लगभग छह साल मुझे बीमारी की हालत में रखा। उन गँवार चरित्रों के साथ दिन-रात रहते हुए मेरी ज़बान ख़राब हो गयी। भद्र महिलाएँ खाने की मेज़ पर कभी-कभी मुझे भौंहें उठाकर देखने लगीं, मैं परिवार से और परिवार मुझसे कतराने लगा। मेरी मुसीबत यह है कि किताब लिखने के लिए कोई जगह वाजिब ही नहीं जान पड़ती। अतः अपना मकान बीवी-बच्चों-रिश्तेदारों-कृपाकांक्षियों आदि के लिए छोड़कर अलग से दूसरा फ्लैट लिया, वीराने में मोटर खड़ी करके उसकी सीट का महीनों इस्तेमाल किया, दूर-दूर के डाक बँगलों के चक्कर काटे (यानी वह सब किया जो ज़िम्मेदार गृहस्थ कोई प्रेमिका रखकर उसके लिए करते हैं)। मैं बार-बार ऊपर उठकर उसे पकड़ने की कोशिश में नीचे धँसता गया, जिसे मैं किसी भी कीमत पर उपन्यास में लाना चाहता था और इस प्रक्रिया में लगभग

ढाई हज़ार फुलस्केप पृष्ठ लिखे और काटे। इस तरह जैसे-तैसे एक भ्रांतिपूर्ण क्षण में—कि किताब बन गयी—यह 'असन्तोष का खटराग' (नेमिचन्द्र जैन से साभार) और 'महाऊब का महा उपन्यास अपठित रहना ही जिसकी नियति है' (श्रीपत राय से सधन्यवाद) पूरा हुआ।

तीन साल तक अपने घावों को चाटते रहने के बाद, फिर से अपनी नियति की गुलामी करते हुए, मैदान छोड़कर यहाँ पहाड़ पर अकेला भाग आया हूँ और आत्मपीड़न का एक नया सत्र शुरू हुआ है।

यह इरादा नहीं कि आत्म-दया का नाटक करूँ, या पाठकों और आलोचकों से सहानुभूति की भीख माँगूँ। ऐसा भी नहीं कि यह ऐसे लेखक की दुर्गति का वर्णन है जिसका प्रेरणा-स्रोत सूख गया है। सिर्फ़ यह स्पष्ट करना है कि लेखक को समझना अपने पालतू कुत्ते को समझने के मुकाबले ज़्यादा महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य है।

वे भाग्यशाली थे जो जंगलों में रहते थे और ग्रंथ रचना जिनकी जीवन-प्रक्रिया का अंतर्निहित और प्राथमिक अंग थी। उन्हें डूबती हुई बीमा की पालिसी, बिके हुए संस्करण के बारे में प्रकाशक की बेरुख़ी और तीन साल कक्षा में प्रथम आनेवाले पुत्र की चिंता—जो अब ऊपर की कक्षाओं में सिर्फ़ घिसट रहा है, नहीं थी। उन्हें 'आत्मजयी' के साथ मोटर-व्यवसाय का, 'आत्महत्या के विरुद्ध' के साथ नक्सलपंथ के विवरणों का, 'कनुप्रिया' के साथ साप्ताहिक राशिफल का सामंजस्य नहीं बैठाना पड़ता था। वे भाग्यशाली थे जो जंगलों में रहकर कोयल की तरह 'कूजंतं रामरामेति' की मनोदशा में बराबर लिखते रहते थे, जो एक समर्पित व्यक्तित्व की भाँति जिसका मन से ध्यान करते थे, उसी को वाणी से उच्चारित करते थे, जिसे वाणी से उच्चारित करते थे, उसे कर्म द्वारा प्रतिपादित करते थे, जो कर्म से प्रतिपादित करते थे उसी के अनुरूप पूर्णतया तर्कानुबद्ध परिणाम ग्रहण करते थे।

तभी वे पुराण पर पुराण लिख सकते थे, वे एक साथ अनेक मनःस्थितियों के स्वामी बन सकते थे, उसी साँस में वे अध्यात्म के 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान् सकलयोगिनामंतरात्मदृक्' के साथ शरीर के अर्पण का गीत, 'सुरतनाथ तेऽशुल्क दारिका' सुना सकते थे।

सिरिल कॉलनी के एक उद्धरण का हवाला देते हुए ऐंथानी बर्गेस ने एक जगह समझाया है कि जिसने एक भी किताब लिखी है, वही जान सकता है कि यह काम कितना मुश्किल है और इसीलिए वह दूसरे लेखक के प्रति—चाहे उसने घटिया किताब ही क्यों न लिखी हो, सहानुभूति का व्यवहार करता है। किताब लिखना दिमाग के लिए कठोर और शरीर के लिए एक कष्टकर कार्य है। इससे तम्बाकू की लत पड़ जाती है, काफ़ीन और डेक्सेड्रीन का ज़रूरत से ज़्यादा सहारा लेना पड़ता है, बवासीर, बदहज़मी, अनवरत दुश्चिंता और नामर्दी पैदा होती है।

अपने देश के लेखक विनम्र हैं और बवासीर, बदहज़मी आदि को छिपाने के कायल भी। इस लजीलेपन के साथ एक और भी दुर्घटना जुड़ी है, कि उनके बहुत-से आलोचक प्रायः स्वयं लेखक होते हुए भी, लेखक की इस स्थिति से अनभिज्ञ रहने को आलोचना की पहली शर्त मानते हैं। तभी हमारी बहुत-सी समीक्षाएँ कठोर नहीं, क्रूर होती हैं। समीक्षकों ही में नहीं, लेखकयशः कामियों में लेखकों के लिए खास तौर से अवज्ञापूर्ण भाव रहता है और उनकी दृष्टि में घटिया किताब लिखना, बावजूद इसके कि लगभग सभी साहित्यों में घटिया किताबों का अनुपात ज़्यादा है, अक्षम्य अपराध है। खास तौर से हिन्दी में, जिसमें नियमित गद्य-लेखन की अभी शताब्दी भी पूरी नहीं हुई, यह प्रवृत्ति और भी हास्यास्पद है।

स्वर्णग्राम और वर्षा

कल की बात है। रेडियो से 'रिमझिम परत फुहार' नाम संगीत रूपक हो रहा था। कहानी ऐसे गढ़ी गई थी :

एक कवि था। उसकी एक कल्पना थी। वाजिब था कि वे संगीत में बातचीत करते। उतना न कर सके तो दोनों ने पद्य में बातचीत की। जब पानी बरसा तो कवि को शहर में बड़ी निराशा हुई, क्योंकि वहाँ ईंट, चूने व सीमेंट के मकान थे। सड़कें थीं। नालियाँ थीं। प्रकृति की कोई भी कद्र नहीं थी। 'दादुर, मोर, पपीहा बोले' वाला डौल न था। अब कवि क्या करे? कविता निकलती है केवल दादुर, मोर, पपीहा की लाइन में खड़े होने पर अर्थात्, उनसे तादात्म्य स्थापित करके। इसलिए कवि ने कल्पना को डाँटा कि वह उसे शहर में क्यों घुमा रही है। कल्पना कवि के 'राज़' को जानती थी।

कल्पना कवि को गाँव ले गई।

अब आप आँख मूँदकर रीतिकालीन साहित्य को कपड़छान करके उसकी गोलियाँ खा लीजिए। 1955* ने आपको जो कुछ बताया है उसे भूल जाइए। श्री मैथिली शरण गुप्त की 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' की चौपाइयाँ हनुमान चालीसा जैसी रट डालिए। पन्तजी की 'ऊँची अरहर में लुका-छिपी' वाला खेल सीख लीजिए और कवि की आँखों में बैठ जाइए।

किसी खेत के एक कोने में बिरहिन खड़ी रो रही है। मतलब यह है कि गा रही है। बिरहिन वर्षा ऋतु में बहुतायत से पाई जाती हैं। वे गाँवों ही में रहती हैं। शहर में इसलिए नहीं रहतीं कि वहाँ पर 'डगर जोहने' की गुंज़ाइश नहीं। वहाँ डगर नहीं, सड़कें होती हैं। बिरहा की आग लगाने के लिए पपिहरा की बोली सुनना लाज़मी है। इसलिए गाँव में बिना रहे काम नहीं चलता। 'झंझा' भी गाँवों में ज़रा ज़ोर से सनसनाती है। इसलिए बिरहिन को गाँव में मिली, शहर में नहीं।

कवि ने वहाँ झूला भी देखा! 'मदमाती युवतियाँ खिलखिलाकर हँस रही थीं।' शहर में एक तो युवती नहीं होती हैं, अगर होतीं तो कवि को गाँव न जाना पड़ता। होती भी होंगी, तो मदमाती नहीं हो सकतीं। अगर जैसे-तैसे मदमाती भी हो गई तो खिलखिलाकर हँस नहीं सकतीं।

तो कवि ने खिलखिलाती युवतियाँ देखीं। अब जब ऐसी युवतियाँ हों तो उनमें एक झेंपनेवाली, कम हँसनेवाली युवती भी होनी चाहिए। सब युवतियाँ सखियाँ हैं। वह झेंपू लड़की

---

* इस लेख का लेखन काल

हीरोइन है। यह सब नया नहीं है। अल्फ्रेड कम्पनी के नाटकों में 'रम्भा का सखियों के साथ आना' से लेकर आज तक के बम्बइया फ़िल्मों में एक्स्ट्राज के झंड देखनेवाले मेरी बात समझ जाएँगे।

कवि ने उनसे बारहमासे और मौसमी चीज़ें सुनीं।

खेतों में किसानों के जत्थे 'मेघराज, मेघराज, मेघराज' कहकर गा रहे थे। सिनेमा में देखा होगा कि तूफान आने के पहले 'माँझी' लोग (माँझी शब्द टेकनिकल है) या, किसी दुर्घटना होने के पहले कुछ आवारे, एक खास आवाज़ में बड़ी गम्भीरता के साथ गाते हैं। किसान भी कुछ इसी प्रकार गा रहे थे। सिनेमा में ऐसे कोरसों में एक स्वर पर दूसरा स्वर चढ़ा रहता है। दो-एक गानेवाले सिर्फ़ 'होशियार! होशियार!' 'जाऽऽ तूऽऽ! जाऽऽ तूऽऽ' दोहराते रहते हैं। एक गानेवाला डरानेवाली आवाज़ में सिर्फ़ आऽऽऽ का अलाप खींचता है। सुननेवाले को सहमा देना ही इन कोरसों का उद्देश्य माना गया है। इस भावना को और बढ़ाने के लिए गीत की टेक के तरीके से 'मँडोला गँडोला डोला' 'चीम पाम, चीम पाम' जैसे मन्त्र बीच में गाये जाते हैं। ऐसे ही मन्त्र के साथ आरकेस्ट्रा समाप्त हो तो कोरस सफल माना जाता है।

जो किसान खेत में गा रहे थे, वे गा इसी टेकनीक से रहे थे। सिर्फ़ मन्त्र नहीं फूँकते थे। कवि ने समझ लिया कि किसान परम प्रसन्न हैं। यानी, लड़के हँस-खेल रहे थे। नदी-नाले रस से भरे बह रहे थे। हरियाली छिटकी थी। पवन डोल रहा था। रिमझिम फुहार पड़ रही थी।

यह भी न भूलिए कि इसी बीच दादुर, मोर, पपीहा, बिरहिन आदि अपना-अपना पुश्तैनी काम कर रहे थे।

तब कवि को विश्वास हो गया कि उसकी कल्पना उसे ठीक जगह ले आई है। कुछ बातचीत के बाद संगीत-रूपक यहीं समाप्त होता है।

अब कल्पना को फिर बुलाइए। लीजिए यह आ गई।

इसकी मदद से कवि को इसी गाँव में एक किसान के घर में रख दीजिए। उसके हाथ में वही अठारहवीं सदीवाली सरकंडे की कलम और काली स्याही की दावात पकड़ा दीजिए। अब उसे चौबीस घंटे तक यही सरकंडे की कलम पकड़े हुए गाँव की गलियों में घूमने दीजिए।

रात हो गई है। मोर, पपीहा बोल रहे हैं। पर वे दूर हैं। दादुर नज़दीक ही बोल रहे हैं। 'वेद पढ़ें जनु बटु समुदाई।' पर एक दादुर का वेदपाठ ऐसे उदात्त-अनुदात्त में उलझ जाता है कि कवि चौंक उठता है।

एक साँप ने वेदपाठी दादुर को ग्रस लिया है। कवि को उपमा नहीं ढूँढे मिलती। वह चीत्कार कर उठता है। यह चीत्कार विरह-बिथावाले चीत्कार से भिन्न है।

साँप मारा गया।

इसके बाद 'झिल्ली झनकारें।' साथ ही, 'मच्छर रोर करें।' ये मच्छर कवि की सोई हुई कल्पना को जगाने के लिए विशेष उत्सुक हैं। उसके कान पर बार-बार बैठकर वर्षा-मंगल गा रहे हैं। उसके कोमल कपोलों को अपने कोमलतर स्वप्निल पंखों से छू रहे हैं। उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आत्मसात् किए ले रहे हैं। कवि की कल्पना फिर भी हँस नहीं पाती। उसी दुःख में वह कभी अपने कान खींचता है, कभी अपने मुँह पर चपतें मारता है, कभी पैरों में चुटकी

काटता है। केवल ज़हर पीकर आत्महत्या नहीं करता। (जैसा कि कभी-कभी बिरहिन करती है।)

खुदा को जब देना होता है तो पानी की धार तक छप्पर फाड़कर देता है। कवि चारपाई से उठना चाहता है। उठता है। जूतों में पैर डालते ही अँगूठे के पास कुछ 'मृदुल-मृदुल, कोमल-कोमल' अनुभव होता है। एक जूते में चिरपरिचित दादुर विश्राम कर रहा है। दूसरे में डंक उठाए एक बिच्छू अपना कर्तव्य निभाने को आकुल बैठा है। (यहाँ यह बात तबीयत में उठ सकती है कि इस डंक का प्रयोग कवि के अँगूठे पर करा दिया जाय। पर यह वर्णन कुछ देर तक और चलाना है।)

आप यहीं घबरा गए? 'स्वर्णिम उषा' देखना चाहते हैं? अच्छी बात है, झंझाझकोर, गर्जन से लेकर मच्छर-मक्खी तक छोड़ दीजिए, सिर्फ़ एक प्राणी से परिचय कर लीजिये।

वर्षा से दो प्राणी विशेष प्रसन्न होते हैं, कवि और चोर। चोर के लिए आदर्श अवसर है। गाँव है, थाना दूर है। पुलिस पहरे का डर नहीं है। आने-जाने के रास्ते बन्द हैं। दीवालें आधी ढह गई हैं। जो समूची हैं, वे बरसात की नमी में सेंध का स्वागत करने को पिछवाड़े की ओर झुक गई हैं। झंझा की मार से थककर रात के तीन बजे किसान खर्राटे ले रहा है। गाते-गाते बिरहिन की औकात जवाब दे गई है। कवि कल्पना, निद्रा और मदहोशी के तिताले पर नाचता हुआ मिट्टी के संसार से दूर घूम रहा है, यानी 'विचर' रहा है।

अब न चूक चौहान।

भूल जाइए, "यहाँ उचक्के चोर नहीं हैं।"

स्वर्णिम उषा फूटी। (उषा हमेशा 'फूटती' है, आती नहीं है)। किसान 'मेघराज, मेघराज' भूलकर थाने पर जा रहा है। चोरी की रिपोर्ट लिखनी है। कवि का सौभाग्य है कि किसी ने उसे ही चोर के खाने में नहीं लिखाया। वह अपने पड़ोसी को लिखाएगा, उससे पुश्तैनी दुश्मनी है।

किसान को इस बेईमानी का पता तब चलेगा जब उससे अदालत में पूछा जाएगा कि उसके घर में उसकी बाईस साल की लड़की है और सफ़ाई में कहा जाएगा कि रामजियावन चोरी करने नहीं गया था बल्कि इस लड़की के बुलाने से ही किसान के घर में आया था। फ़ैसला भी यही होगा। रामजियावन छूट जाएगा। किसान की सात पीढ़ियाँ कलंकित हो जाएँगी।

बारिश शुरू हुई।

दिन-भर खेतों में मेंड़ बाँधने के सिलसिले में दस फौजदारियाँ हुईं। (मेरे फौजदारी की नानी) एक खेत का पानी दूसरे खेत से निकालने के सिलसिले में पन्द्रह और एक के परनाले का पानी दूसरे की छत से निकलने पर बीस और फौजदारियाँ हुईं। खेत जोतने के दिन आए। अतः मजबूत लोगों ने कमज़ोर लोगों के खेत ज़बर्दस्ती छीनने शुरू किए। मुकदमेबाज़ी प्रारम्भ हुई। (दीवाना करती दीवानी)

कवि डेरी के मक्खन का अभ्यासी है। यहाँ मक्खन नहीं मिलता। दूध इन्हीं डेरियों में जाता है। कवि का पेट गाँव का अन्न खाकर जवाब दे गया।

चार कोस पर धन्वन्तरी रहते हैं। वे पहले कम्पाउंडर थे। दवाओं की चोरी के जुर्म में निकाल दिए गए थे। लेकिन उन्हें भी बुलाना कठिन है।

और, कपड़े-लत्ते, खाने-पीने और दवा-दारू की समस्या!

कवि यह सब नहीं सोचता। यह काम राजनीति और अर्थशास्त्र से मतलब रखता है।

अब कवि की कल्पना मूर्च्छित हो गई। उसे होश में लाने के लिए लैला-मजनू, शीरी-फरहाद की कहानियाँ पढ़नी होंगी। ताजमहल के चक्कर लगाने पड़ेंगे। बिरहिन के आँसुओं से नहलाना पड़ेगा।

आया था कल्पना के यान पर। लौटा पैदल।

रास्ते में रिमझिम फुहार के मारे नाक में दम था। कीचड़ व पानी के बीच में चलना कुम्भीपाक जैसा लग रहा था। कवि ने शुद्ध बंगाली ढंग से पहनी हुई धोती ऊपर चढ़ाई, फिर चलना शुरू किया।

अँधेरा हो गया। तब कवि को लगा कि कोई भी उसकी गर्दन दबाकर उसका पर्स छीन सकता है। उसे 'मुद्दई' बना सकता है। कोर्ट में उससे उसके खानदान की महिलाओं की अवस्था और गुण पुछवा सकता है।

तब सत्य का दर्शन हुआ।

एक दादुर यानी मेंढक, एक गढ़े में बैठा हुआ टर्र-टर्र कर रहा था। कीचड़ में सना, परमहंस जैसा, वर्षा के उत्पात से अनजान। वह और उसके पुरखे सनातन से यही बोल बोलते आए थे। कवि ने समझा कि वर्षा पर जो बोल वाल्मीकि के काल से बोले गए हैं, उन्हीं को रटते-रटते कवि ने अपने-आपको कहाँ पहुँचा दिया है।

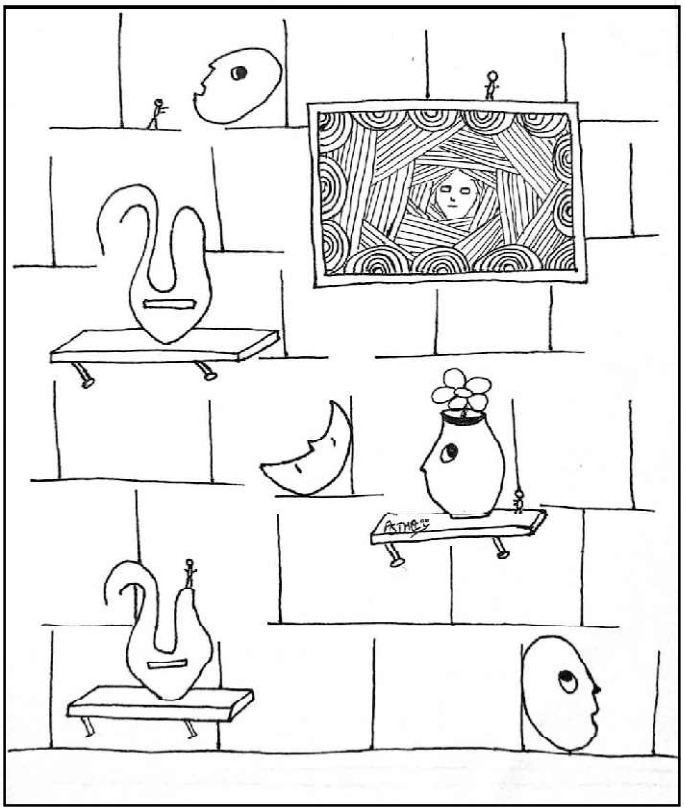

सफ़ेद कालर का विद्रोह

सफ़ेद कालर के विद्रोह यानी मध्यवित्त लोगों की युद्धकामिता, यानी मिडिल क्लास मिलिटेंसी की प्रेरक शक्ति महँगाई और मुद्रास्फीति ही नहीं है। उसके पीछे सामाजिक कुरीतियाँ, व्यक्तिगत कुकर्म और हर सुविधापरक पदार्थ को ख़रीदने की स्पर्धा भी है—जो सफ़ेद कालर को अन्धाधुन्ध ख़र्च करने और पैसे की कमी पर लगातार रोने को बाध्य करती है।

मान लीजिए कि आप विदेशी हैं (ऐसा मान लेना मुश्किल नहीं है क्योंकि अंग्रेज़ीदाँ हिन्दुस्तानी प्रायः अपने को विदेशी ही मानता है) और भारत में नये-नये आये हैं, और किसी पंच तारांकित होटल के लाउँज़ में बैठकर 'इलस्ट्रेटेड वीकली' या 'फेमिना' जैसी कोई पत्रिका पलट रहे हैं। उस समय इन पत्रिकाओं के विज्ञापन पढ़कर आप यही समझेंगे कि—

भारत से गरीबी मिट गयी है, भारत आज फिर से सोने की चिड़िया बन गया है। यहाँ 'नारीत्व का गौरव' बी.सी.यन. की साड़ियों से पैदा होता है, यहाँ 'पिश' रेज़र से दाढ़ी बनाने वाले को कोई मात नहीं दे सकता, यहाँ 'चांडेला' ने हंगामा मचा दिया है (हर दिन के लिए एक नया रंग, एक नया डिज़ाइन)। यहाँ 'ट्राम्बे डाइंग' कपड़े पहनने से आपकी नज़रें कैमरे पर होती हैं और सबकी (तस्वीर में पाँचों छोकरियों की) नज़रें आप पर, यहाँ 'सिप्टन' चाय को कोई पछाड़ नहीं सकता, यहाँ नई पीढ़ी के लिए 'सीविया' क्रीम है, 'पिनाका' टूथपेस्ट करके संसार की सब तरुणियों का चुम्बन कीजिए, 'टनासिन' खाइए और दनादन सितार बजाइए, आशिक के साथ पिकनिक पर जाइए!

अगर आप असली मध्यवित्तीय व्यक्ति हैं तो यही सब खरीदिए, यही सब खाइए और दिन-रात कंगाली के गीत गाइए, क्रान्ति का नारा लगाइए!

ऐसे विज्ञापनों को पढ़कर आपके सामने खुशहाली और ऐशपसन्दगी की जो तस्वीरें उभरती हैं वह एकदम झूठी नहीं हैं। इससे यह असलियत खुलती है कि हिन्दुस्तान के भीतर एक और हिन्दुस्तान है जो सफ़ेद कालर वालों का हिन्दुस्तान है। यहाँ सभी उपभोक्ता पदार्थ ठुँसे पड़े हैं। अंग्रेज़ी रेज़र ब्लेड से लेकर जापानी टेपरिकॉर्डर तक, टोस्टर से लेकर बिजली की कुकिंग रेंज और टेलीविज़न तक, व्हिस्की से लेकर 'हेडेंसा' तक—यहाँ सब-कुछ मौजूद है। इस हिन्दुस्तान में आज भी शृंगार सामग्री पेरिस से आती है, साड़ियाँ जापान से आती हैं—यह दूसरी बात है कि खुद जापानी औरतें साड़ी नहीं पहनतीं।

सफ़ेद कालर वाला मध्य-वित्तीय आदमी ज़िन्दगी की इसी विशिष्टता (क्वालिटी) के

लिए दिन-रात हुड़कता है, उसे पाने के लिए विद्रोह करता है, नारे लगाता है, जुलूस निकालता है—तनख्वाह में सौ रुपल्ली बढ़वाने के लिए जेल जाता है।

मज़दूरों और अल्पसाधन लोगों का भी एक वर्ग है जो उसी तरह नारे लगाता है, जुलूस निकालता है, जेल जाता है और गोली खाता है—पर उसकी क्रांति और सफ़ेद कालर की क्रांति में फ़र्क़ है। उसकी क्रान्ति अधिकार सत्ता को चुनौती देती है, सत्ता के ढाँचे को तोड़ना चाहती है; पर सफ़ेद कालर वाले क्रान्ति का नाम लेकर भी उस सत्ता-तंत्र को सुरक्षित रखना चाहते हैं, उसके ढाँचे को तोड़ने के बजाय उसे खटखटाकर कुछ रिआयतें खींचने की कोशिश करते हैं। यानी इंजीनियर, डॉक्टर, सिविल सर्वेन्ट आदि जब 'युद्ध-मार्ग पर प्रवृत्त' होते हैं तो मुझे इत्मीनान रहता है कि वे ऐसे खच्चर हैं जो तबेले में लतियाउझ करेंगे, कुछ देर तबेले के बाहर भी टहलेंगे और फिर तबेले के अन्दर आकर अपने-आपको बन्द कर लेंगे।

सफ़ेद कालर के विद्रोह को शान्त करने के लिए कोई बड़ा फ़ैसला लेने की भी ज़रूरत नहीं। ओवरसियर की जगह उसे जूनियर इंजीनियर कह दो, इतना काफ़ी है। उसके विद्रोह का उद्देश्य बहुत अदना होता है। वह कहे या न कहे, उसके विद्रोह के मुद्दे कुछ इस तरह के हैं कि आइसबॉक्स की जगह उसे रेफ्रिजरेटर मिलना चाहिए, ललिता रानी बालिका विद्यालय से उसकी बालिका को लॉरेटो कॉन्वेन्ट में जाना चाहिए और पीने को ब्लैक नाइट की जगह 'ब्लैक डॉग' होनी चाहिए और चूहे का ओहदा बदलकर उसे मूषक का महान् पद मिलना चाहिए। कुल मिलाकर, उसके खानपान और रहन-सहन का वही स्तर होना चाहिए जिसका रस 'इलेस्ट्रेटेड' और 'फ़ेमिना' के विज्ञापनों से चू रहा है।

सफ़ेद कालर और गन्दे कालर के विद्रोह में एक और फ़र्क़ है। गन्दे कालर वालों का विद्रोह अपने लिए एक-सी व्यवस्था और हैसियत की माँग करता है। पर सफ़ेद कालर की मनोवृत्ति जॉर्ज आर्वेल के इस वाक्य का अनुसरण करती है कि—"सब जानवर बराबर हैं, पर कुछ जानवर आपस में ज़्यादा बराबर हैं।"

तभी जब आई.ए.यस. 'वार पाथ' पर निकलता है तो उसकी दोहरी माँग होती है कि (1) उसे टाइगर या चीता न समझकर बबर शेर समझा जाय, और (2) दूसरों को गीदड़ समझा जाय। इंजीनियर कहता है कि अब उसे भारी पेट वाला हाथी बनना मंजूर नहीं; उसे भी आई.ए.यस. की तरह बबर शेर समझा जाय; पर शर्त यह है कि पी.सी.यस. को तेंदुए या ज़्यादा से ज़्यादा चीते का दर्जा दिया जाये। उधर प्राइवेट प्रेक्टिस की माँद से निकलकर डॉक्टर फ़रमाइश करता है कि उसे कम-से-कम टाइगर समझा जाय और दूसरे सिविल सर्वेन्टों को रीछ की तरह ज़मीन और पेड़—दोनों जगहों पर एक-सा पड़ा रहने दिया जाय। डिग्री कॉलेज का अध्यापक अपने को अरबी घोड़े से नीचे नहीं देखना चाहता, पर प्रतिबंध रहे कि हाई स्कूल और इण्टर का अध्यापक खच्चर ही शुमार किया जाये। लखनऊ बेंच का हाईकोर्ट वाला वकील इलाहाबाद की बेंच के वकील से हैसियत के बारे में नहीं झगड़ना चाहता, दोनों ही साँड हैं और रहें—पर वह लखनऊ बेंच से लगी हुई चरागाह के रकबे को बढ़ाने के लिए आंदोलन करता है।

इस तरह यह सारा विद्रोह और आंदोलन एक उस तालाब की शक्ल ले लेता है जिसमें गन्दे पानी की लहरें एक-दूसरे पर टूट रही हैं और बड़े जोश से एक-दूसरे को काट

रही हैं और तालाब के बाहर किनारे पर खड़े भारी-भरकम पेड़ों को इनसे कोई ख़तरा नहीं है।

यह पढ़कर हो सकता है कि आप सोचने लगें कि मैं सफ़ेद कालर वालों का दर्द नहीं समझता। पिछले पच्चीस साल से अपनी गर्दन पर मैं भी सफ़ेद कालर का बोझ ढो रहा हूँ और अपने साथियों के दर्द के साथ अपनी गर्दन के दर्द को भी खूब समझता हूँ। पर यह भी जानता हूँ कि ज़्यादातर यह दर्द जन्म-दिवस, विवाह-वार्षिकी, दहेज, सुविधापरस्ती और विज्ञापनों से सीखी गयी ऐशपरस्ती के लिए साधन जुटाने का दर्द है। मुद्रास्फीति और महँगाई तो है ही; वह न होती, तब भी इनका दर्द आसानी से दूर न होता क्योंकि सफ़ेद कालर का आदमी एक दर्द दूर करने की धुन में दूसरा दर्द पैदा कर लेने में माहिर होता गया है। रुपये से उसकी दुश्मनी है और उसे पाते ही वह उसे फेंकने लगता है ताकि निरंतर गरीबी का दर्द क़ायम रहे; ताकि बकौल पार्किसन, टैक्स कलेक्टर जब तक दरवाज़े पर आये-आये तक भरी बोतलें खाली हो चलें और छोकरियाँ बूढ़ी हो जायें और वसूली के लिए कुछ भी बचा न रहे, ताकि अभाव का निरन्तर रोना रहे; ताकि सफ़ेद कालर की क्रान्ति अमर रहे।

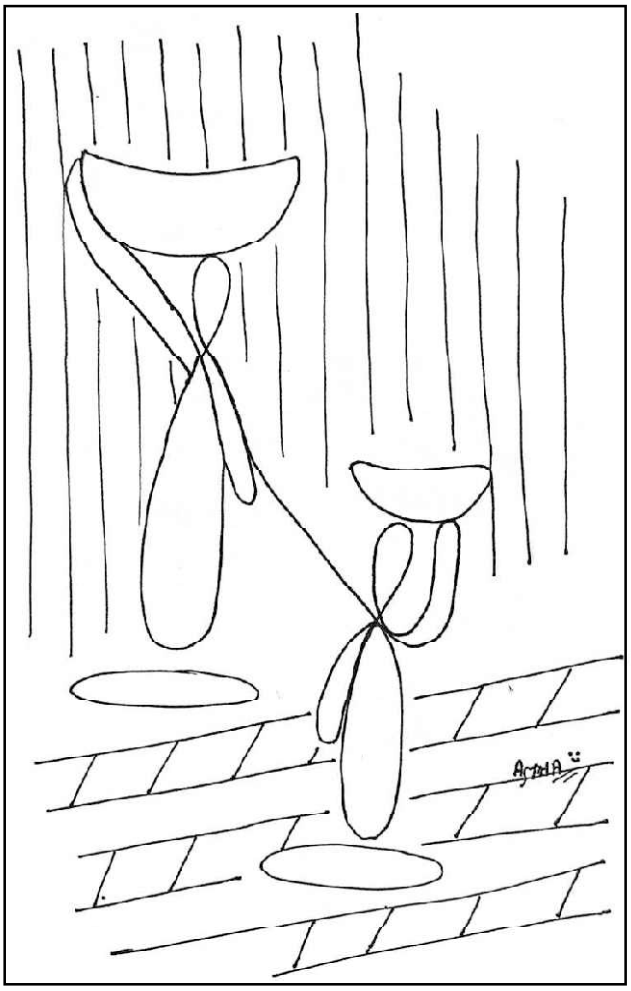

अगली शताब्दी का शहर

काफ़ी उखाड़-पछाड़ के बाद वे अपने राज्य के मुख्यमन्त्री बने। पर वे उसे जनादेश कहते थे। दो-चार दिन उन्हें सब कुछ अटपटा-सा जान पड़ा। पर जल्दी ही समझ में आ गया कि यह खेल भी बिल्कुल कबड्डी जैसा है, जिसे वे बहुत सालों तक खेल चुके हैं। 'डू डू डू डू' करते हुए आप दूसरों के पाले में अचानक कूद पड़ें तो घबराकर वे खुद पीछे हटने लगेंगे। बस, इतना देखना है कि कोई आपको छू न पाए। और साँस बरकरार।

गलियों की कचरा संस्कृति में पककर उन्होंने इतना तो सीख ही लिया था कि चाहे जैसा काम हो उसे पूरा करके वे सही-सलामत निकल आएँगे। उनकी वजह से दूसरों की साँस भले उखड़ जाए, उनकी बरकरार रहेगी। कुछ ही दिनों में उन्हें इस खेल में मज़ा आने लगा। वे कितने गँवार थे, अपने को उससे ज़्यादा दिखने लगे। बातचीत भाँय-भाँय शैली में करने लगे। प्रेस ने, जिसे अब न जाने क्यों मीडिया कहा जाने लगा है, उन्हें तेज़-तर्रार बताना शुरू कर दिया। उनकी भाँय-भाँय को विकास की आतुरता का नाम दे दिया।

इसी आतुरता में, यानी एक दिन अपनी भाँय-भाँय शैली के विशिष्ट प्रदर्शन के दौरान, उन्होंने ऐलान किया—हमें एक आदर्श नगर बनाना है। यह एशिया की सबसे बड़ी आवासीय कॉलोनी होगी। यह अभी तक अमेरिका ही में चलता था। वहाँ कहते थे—यह रही संसार की सबसे ऊँची इमारत, यह संसार का सबसे बड़ा जलप्रपात। हमारे यहाँ संसार की जगह पर एशिया है—जैसे बम्बई में यह एशिया की सबसे बड़ी झोंपड़पट्टी, बम्बई से दिल्ली तक यह रहा एशिया का सबसे बड़ा शेयर घोटाला, या अब यह एशिया की सबसे बड़ी आवासीय कॉलोनी की परियोजना।

अब, परियोजनाओं का जन्म बाद में होता है, नामकरण पहले। इसलिए उन्होंने अपने आवास विभाग में सबसे बड़े अफ़सर को बुलाकर पूछा। जवाब किसी भी अफ़सर के लिए उतना ही आसान है जितना अमिताभ के बाद बच्चन या महात्मा के बाद गांधी लगाना। यह और बात है कि जहाँ तक नई सरकार में परियोजनाओं के नामकरण का सवाल है, महात्मा गांधी के दिन लद गए हैं। सारी परियोजनाएँ अब घूम-फिरकर एक ही खानदान के तीन-चार नामों के गुबार में पटखनी खाकर चित पड़ी हैं। सो, इस अफ़सर ने भी उसी खानदान के एक लगभग नाबालिग नाम का सहारा लिया और इनाम में मुख्यमन्त्री की भाँय-भाँय शैली का एक नया प्रदर्शन देखा। उसे बताया गया कि कॉलोनी का नाम 'विष्णु भगवान नगर' होगा।

सुनते ही कई चापलूस, जो बुद्धिजीवी नहीं थे, मुख्यमन्त्री की भगवद्-भक्ति पर मुग्ध

होकर मूर्च्छित हो गए। जो बुद्धिजीवी थे, और इस कारण धर्म को संस्कृति कहने के आदी थे, मुख्यमन्त्री के संस्कृति-प्रेम पर पागल हो गए। यह पता बाद में चला कि ये विष्णु भगवान क्षीर सागर वाले नहीं हैं, विष्णु भगवान मुख्यमन्त्री के बाप का नाम है। तब सभी चापलूस, एक साथ 'वाह-वाह' करने लगे। कहा भी है, पिता धर्म है, पिता कर्म है, पिता ही परमपद है...।

देखते-देखते ऊँचे अफ़सरों की एक समिति बना दी गई—विष्णु भगवान नगर परियोजना समिति। उनका काम था परियोजना की पूरी योजना बनाना, नए शहर के लिए जगह का चुनाव करना, फिर उस जगह पर दो साल में नया शहर बना देना। पर सबसे बड़ा काम था बिल्ली के गले में घंटी बाँधना, यानी कॉलोनी के लिए रुपए की व्यवस्था करना। पर यही काम सबसे ज़्यादा आसान साबित हुआ, क्योंकि सरकारी परियोजनाओं के लिए उधार पर रुपया समेटना ही सबसे आसान काम है। और फिर इस समिति में एक ऐसा भी अफ़सर था जिसकी एक टाँग कई सालों से यहाँ थी और दूसरी टाँग बाशिंगटन में और दोनों के बीच विश्व बैंक था।

कभी विष्णु भगवान के अवतार श्रीकृष्ण ने पश्चिम समुद्र में द्वारकापुरी का निर्माण कराया था (आज कराते तो उसका नाम वसुदेवपुरम् होता)। उसके लिए कृष्ण ने विश्वकर्मा को पूरा-पूरा, यानी 'टर्न की बेसिस' पर, निर्माण का ठेका दिया था। ज़मीन के लिए उन्होंने समुद्र को हुक्म दिया था कि सिकुड़कर वह बारह योजन यानी एक सौ चौवन किलोमीटर ज़मीन छोड़ दें। रुपए के लिए तब विश्व बैंक नहीं था; पर कुबेर थे। उनके निधिपति शख को बुलाकर मनमानी रकम ली गई थी। यहाँ तक कि मरुत् देवता से कहा गया था कि अमरावती से इन्द्र के सभा-भवन को, जिसका कि नाम सुधर्मा था, उड़ा लाओ और द्वारका में स्थापित कर दो। यह कथा द्वापर युग की है, पर साबित करती है कि बिना हर्रा और फिटकरी, बड़े-बड़े शहर बसा डालने की तरकीब हमें प्राचीन काल से आती है। अब तक हम समुद्र से ही नहीं, समुद्र पार के लोगों से भी मनमानी रकम खींचने में सिद्धहस्त हो गए हैं।

भगवान विष्णु नगर परियोजना का नामकरण हो जाने के बाद अख़बारों में इस विराट आयोजन पर ऐसा मीडिया-विस्फोट हुआ कि कुछ दिनों तक जनता चकाचौंध बनी रही और मुख्यमन्त्री की तस्वीर में उनके बाप की और बाप की तस्वीर में मुख्यमन्त्री भी झिलमिल आभा देखती रही। उधर परियोजना समिति ने नए शहर के लिए जगह ढूँढनी शुरू कर दी। चूँकि हर परियोजना को राजधानी में घुसेड़ने की कोशिश की जाती है, इसलिए समिति ने पहले राजधानी से सटे हुए एक लम्बे-चौड़े क्षेत्र का मुआयना किया। तभी मुख्यमन्त्री ने उन्हें बताया—विष्णु भगवान नगर वहीं बनेगा जहाँ विष्णु भगवान का जन्म हुआ था। समिति का काम आसान हो गया। वह मुख्यमन्त्री के पैतृक गाँव के दौरे पर निकल पड़ी। इत्तफ़ाकन गाँव से मिला लम्बा-चौड़ा बंजर क्षेत्र समिति को दिख गया।

पहले सदस्य ने कहा, "यह बंजर हमारे नए नगर के लिए सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।" ('सर्वथा उपयुक्त प्रतीत' कहकर उसने अपने सहकर्मियों को गौर से देखा पर इस खाँटी सरकारी हिन्दी का उन पर कोई ख़ास असर नहीं दिखा।) "किसी भी सरकारी आवासीय योजना की पहली शर्त है कि वह 'कहीं नहीं' लगाई जाए। यह बंजर इस शर्त को बखूबी पूरा करता है।"

"पर इस बंजर में एक भी पेड़ नहीं है", दूसरे सदस्य ने एतराज किया।

पहला सदस्य बोला, "कोई फ़र्क नहीं पड़ता। हम परियोजना स्थल पर वृक्षारोपण का कार्यक्रम चलाएँगे ही।"

"नहीं-नहीं, मेरा एतराज कुछ और है। हर नई आवासीय योजना में हमें कुछ पुराने बाग-बगीचे उजाड़ने चाहिए। चाहिए कि नहीं? उसके बाद नए पेड़ तो लगाने ही हैं। परन्तु पहले उजाड़ने के लिए पुराने बाग-बगीचे यहाँ कहाँ हैं?"

समिति के अध्यक्ष ने गम्भीरता से सिर हिलाया, कहा, "यह तो है। परियोजना का शुभारम्भ कैसे होगा?" बड़ा सोच-विचार हुआ। तब तीसरे सदस्य ने कहा, "यह ज़मीन कितने किसानों की है।"

"यही तो अच्छाई है", पहले सदस्य ने कहा, "यह ज़मीन किसानों की नहीं, गाँव-सभा की है।"

तीसरे ने उसे हैरत से देखा, "इसे आप अच्छाई कहते हैं?"

पहले सदस्य की समझ में कुछ नहीं आया। उसे घुग्घू की तरह ताकते देखकर तीसरे सदस्य ने समझाया, "भाई, इस कॉलोनी में कम-से-कम पचास हज़ार लोग आकर रहेंगे, उसके लिए क्या हम पाँच सौ किसानों को भी तबाह नहीं करेंगे?" उसने अध्यक्ष से कहा, "महोदय, मैं ऐसे स्थल के कतई ख़िलाफ हूँ जिसे अर्जित करने के लिए एक भी किसान को बेदख़ल न किया जा रहा हो।"

अध्यक्ष बोले, "मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ।"

अब बस अड्डे, स्कूल, पार्क, अस्पताल, बाज़ारों आदि की स्थापना के बारे में शुरुआती बातें शुरू हुईं, किसी ने पुलिस थानों और चौकियों की भी बात उठाई। तभी एक सदस्य ने कहा, "और माफिया के लिए क्या किया जाएगा?"

"माफिया? क्या मतलब?" दूसरे सदस्य ने पूछा। पहले सदस्य ने कहा, "हम इतना बड़ा शहर बसाने जा रहे हैं। छोटे-मोटे चोर-उचक्के तो अपने आप निकल आएँगे, पर जब तक दो-चार बड़े माफिया सरदारों और उनके गिरोहों को कुछ मूलभूत सुविधाएँ न दी जाएँ, वे अपने आप थोड़े ही आएँगे!"

अध्यक्ष ने मुस्कुराते हुए कहा, "उसकी फ़िक्र छोड़िए। जिनके पिता के नाम पर यह शहर बसाया जा रहा है, आप उन्हें क्यों भूल रहे हैं?"

यह एक सुनियोजित परियोजना थी; इसलिए उसके विभिन्न मुद्दों पर सदस्यगण अब अललटप बातें करने लगे थे। एक ने कहा, "पहले हम लोग जानवरों के बारे में क्यों न सोच लें!"

अध्यक्ष बोले, "मुझे याद पड़ता है कि मैंने इस गाँव में कुछ भैंसें देखी थीं। इसका सर्वे करा लें। आसपास के गाँवों में, जो इसी शहर के पेटे में आ जाएँगे, कितनी भैंसें होंगी?"

दूसरा सदस्य बोला, "काफ़ी बड़ी तादाद होगी। पर मैं कहता हूँ, क्या आवारा कुत्तों से काम नहीं चल सकता?"

"जी नहीं, हरगिज़ नहीं", पहले सदस्य ने कुछ ऐसे तीखेपन से कहा जैसे उनकी इज्ज़त को चुनौती दी गई हो, "यह नए शहर की अस्मिता का प्रश्न है। सड़क पर मन्थर गति

से चलती हुई भैंसों के हुजूम जब तक सारा ट्रैफिक न रोक लें, किसी अच्छे भारतीय शहर की अस्मिता कैसे स्थापित होगी?"

जवाब किसी ने नहीं दिया। एक बुज़ुर्गवार मत्थे पर शिकन डाले, आँखें दबाकर किसी प्रश्न पर गहराई से सोच रहे थे। सहसा वे ज़ोर से बोले, "और सूअर?"

अध्यक्ष महोदय अचकचा गए, बोले, "सूअर? कैसे सूअर?"

उस सदस्य ने कहा, "हर नई आवासीय योजना में सड़कों पर घूमने के लिए, खुले फाटक से मकानों के अन्दर घुसने के लिए, नालियों में लोटने के लिए सूअर चाहिए कि नहीं? इंसिफिलाइटिस फैलाने के लिए कोई इन्तजाम सोचा है?"

एक सदस्य ने सहमति में सिर हिलाया, कहा, "हाँ, सूअरों का होना तो लाज़मी है। मैं भी एक नई आवासीय कॉलोनी में रहता हूँ। वहाँ अभी बहुत-से मकान नहीं बने हैं, सड़कें भी अधूरी हैं। पर सूअर पहले ही आ गए। कोई कह रहा था कि वहाँ आदमियों और सूअरों का अनुपात एक और तीन का है।"

अध्यक्ष सोचते रहे; फिर बोले, "इस नए शहर में हम लोग भी तो बंगले बनवाएँगे। हममें से कई लोग रिटायर होकर वहाँ रहेंगे भी। इससे क्या समस्या का कुछ समाधान नहीं निकलेगा?

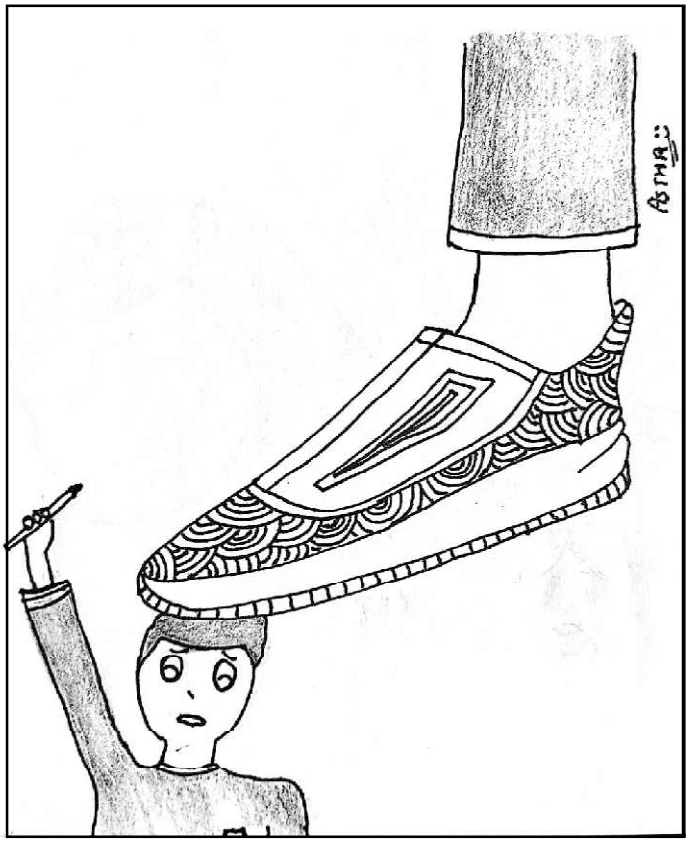

लखनऊ–1

"शरीफ़ों का ज़वाल और कमीनों का ज़ोर हुआ...। तख़फ़ीफ़ का बाज़ार गर्म हुआ। अय्याशी का दौर शुरू हुआ...। आवारा औरतों की बन आई...। बाज़ार का मामला भी देखादेखी ख़राब हुआ...हर चीज़ में मिलावट हुई... नाज़िम और आमिल सब नालायक़ थे।"[1]

सामने विलायती ढंग की दुकानें, सिनेमा, रेस्तराँ और बार थे। जिन, व्हिस्की और बीअर के हवाई विज्ञापनों की निऑन रोशनी जल-निषेध की नीति को प्रमाणित कर रही थी। फ़िएट और एम्बेसेडर कारों की भीड़ में एकाध इम्पाला जब कभी निकलती थीं, तो हम मुँह फाड़कर उसे आदर से देखते थे, जैसे देशी विश्वविद्यालयों में विलायती विद्यार्थियों को देखा जाता है। फ़ैशनेबल, दुबली-पतली लड़कियाँ—जिनके जीवन का मुख्य कार्यक्रम अपनी ओर लफंगों को और लफंगों की ओर पुलिस को आकर्षित करना था—कूल्हे, वक्ष और टखने-मात्र में सम्पूर्ण—मचलती हुई सड़क पर चली जा रही थीं। चमचमाती दूकानों पर चालाक छोकरे ढीली बुश्शर्टों, लहलहाते बालों और चूड़ीदार पैंटों में कसे हुए, पुल्लिंगवती वेश्याओं की तरह बैठे थे।

हज़रतगंज का बाज़ार काफ़ी आधुनिक हो रहा था। पर यह आधुनिकता वैसी ही थी जैसी आज की कुछ कहानियों में केवल ईसाई लड़कियों को हीरोइन बनाकर पैदा की जाती है।

मैं एक नए रेस्तराँ के सामने खड़ा था। मेरे साथ दो अदद पत्रकार, हिन्दी के एक प्राध्यापक और एकाध होनहार होते-होते इरादा बदल देनेवाले साहित्यकार थे। हिन्दी-प्राध्यापक ने कहा, "हज़रतगंज बड़ा फ़ैशनेबल होता जा रहा है।"

खंडन करने की अपनी पैदाइशी प्रवृत्ति के अनुसार मैंने कहा, "मुझे तो बड़ा देहाती-सा लगता है", फिर कुछ सोचकर मैंने कारण बताए, "क्योंकि यहाँ राजधानी है; दूर-दूर की झोंपड़ियों और टपरों के लोग यहाँ आकर बस रहे हैं। यहीं विधान-भवन है। कोटद्वारा से सिसवा-बाज़ार तक के गाँवों और कस्बों की संस्कृति आपको यहाँ फूलती-फलती मिलती है। कॉफ़ी-हाउस ही में जाइए—जाते ही किसी क़स्बे के नाई की दुकान की याद आती है। सभी आपके मामलों में टाँग घुसेड़ते हैं। सभी में काश्तकारों की-सी घरेलू चालाकी है। कोई भी आपको चुपचाप जीने नहीं देता।"

---

1. मिर्ज़ा रज्जबअली 'सुरूर'—लिखित 'फ़सान-ए-इबारत' का एक उद्धरण। इसका सम्बन्ध वाजिद अली शाह के पिता हज़रत अमजद अली शाह के शासन-काल से है।

प्राध्यापक को मेरी बात जँची नहीं, पर उसमें उलटबाँसी थी, इसलिए उन्होंने कबीर की स्मृति में उसे झेल लिया। फिर वे मेरे पीछेवाले रेस्तराँ में लगी हुई एक आधुनिक चित्रकार की प्रदर्शनी का ज़िक्र करने लगे।

रेस्तराँ में किसी सन्दिग्ध चित्रकार ने अपने चित्रों की बेशर्म नुमाइश लगाई थी। अन्दर मेज़ पर कुछ मनीषी लोग (इंटेलेक्चुअल) बिना किसी ख़ास वजह के कुछ समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उन्हें बिना सुने ही मैं जानता था कि न समस्याएँ उनकी हैं, न विचार उनके हैं। जो भ्रम यह रेस्तराँ और तस्वीरें पैदा करती थीं, वही ये मनीषी भी पैदा करते थे। बाहर भी, जैसा कह चुका हूँ, आधुनिकता का भ्रम देनेवाली बहुत-सी चीज़ें थीं।

पर जहाँ मैं खड़ा था, उसके दाएँ-बाएँ किसी ने इस आधुनिकता की कलई खुरच दी थी, क्योंकि एक ओर एक थालीवाला, सस्ते दाम का, निम्न-मध्यमवर्गीय भोजनालय था। दूसरी ओर हनुमानजी का एक मन्दिर था, जहाँ कई लोग अपने को और हनुमानजी को भूलकर राधाकृष्ण का कीर्तन कर रहे थे। कुछ पैंट-कमीज़वाले बाबू लोग झेंप-झेंपकर हनुमानजी को प्रणाम कर रहे थे। कुछ बिना झेंपे हुए, उन्हें प्रसाद चढ़ाकर, तिलक लगवाकर हमें चुनौती-सी देते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। मैं भारतीय तटस्थता की नीति से चुपचाप खड़ा था।

मन्दिर से दस गज़ की दूरी पर जाकर एक नई कार रुकी। उसमें दो आदमी बैठे थे। उनके चेहरे से लगता था कि ये अच्छी तरह खानेवाले, और ख़ासतौर से अच्छी तरह पीनेवाले, आदमी हैं। बैंकों के शेयर, तस्कर-व्यापार, इनकम-टैक्स की चोरी और किशोरियों को फुसलाने और अफ़सरों को खिलाने-पिलाने का वातावरण, तस्वीर के सन्तों के तेजोमंडल की तरह, उनके चेहरों के चारों ओर फैला था। उनके हाथों में देखते-देखते जादू के ज़ोर से दो गिलास आ गए। मेरे देखते-देखते उन्होंने गिलासों में बोतल से कुछ उँड़ेला और उसे सन्तोषपूर्वक पीने लगे।

हिन्दी के प्राध्यापक से मैं अब साहित्यिक बातें करने लगा था। मैंने अपनी एक प्रिय बात बताई, "छायावाद-काल हिन्दी-कविता का अन्धयुग है।"

वे चिढ़कर प्रसाद का एक उद्धरण देने की तैयारी करने लगे। बोले, "सम-सामयिक विश्व-साहित्य में प्रसाद के मुकाबले...।"

मैंने जिज्ञासा की, "सम-सामयिक विश्व-साहित्य के बारे में आप क्या जानते हैं?"

उन्होंने बिगड़कर पूछा, "आप क्या जानते हैं?"

मैंने समझाया, "मैं हिन्दी-लेखक हूँ। आप इसी से समझ सकते हैं कि मैं 'एकाउंटर' और 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' पढ़ता हूँ, जो आप नहीं पढ़ते।"

"मैं प्रसाद का साहित्य पढ़ता हूँ, जो आप नहीं पढ़ते।"

मैंने साँस खींचकर कहा, "मुझमें और आपमें लेखक और अध्यापक का मौलिक अन्तर है।"

इसका भी कोई जवाब न मिल जाए, इस डर से मैं एकदम से पत्रकार मित्रों से उपचुनावों की बात करने लगा। ऐसा करते ही मैं लखनऊ में हो गया।

मोटरवालों ने दूसरा गिलास भरा। थालीवाले भोजनालय से बेवाईदार पाँवों और छतनार मूँछों का एक जत्था बाहर निकला। हनुमानजी के मन्दिर में बड़ी ज़ोर से जय-जयकार हुई। किसी देसी रियासत की एक विलायती मोटर किसी झबरी औरत के हाथों में अटकी

हुई, टेढ़ी-मेढ़ी होती सामने से निकली। उसकी नम्बर-प्लेट पर रियासत का नाम और गाड़ी का नम्बर हिन्दी में लिखा था। हम इतने से ही कृतकृत्य हो गए। दो-तीन ऐंग्लो-इंडियन लड़कियाँ फुटपाथ पर खड़ी होकर हनुमानजी को घूरने लगीं। जवाब में हनुमानजी के भक्त लड़कियों को घूरने लगे।

सामने एक रिक्शा आकर रुका। उस पर सोलहवीं शताब्दी बैठी थी—मानो बुरके के अन्दर एक औरत थी। मेरे साथ का एक पत्रकार रिक्शे के पास जाकर खड़ा हो गया। उसने दो-एक बार नाक सिकोड़ी, जैसे कुछ सूँघ रहा हो। फिर लौटकर हमारे पास वापस आया और अपने साथी से बोला, "तुम जाओ।"

"नहीं, तुम जाओ।"

मेरी ओर इशारा करके कहा गया, "ये जाएँगे।"

"ये क्या जाएँगे?"

"तो फिर तुम्हीं जाओ।"

वह उसी रिक्शे पर बैठकर चला गया। अंग्रेज़ी शाम और हिन्दुस्तानी रात के आठ बजे।

अब 'गंजिंग' शुरू हुई। हम लोग गर्भवती स्त्रियों की अदा से धीरे-धीरे टहलते हुए एक-दूसरे के कन्धे-से-कन्धा लड़ाते, सड़क पर चलने लगे। चलते-चलते गांधी-आश्रम के सामने ऐसे ही खड़े हो गए—वही गांधी आश्रम, जहाँ असली मधुमक्खियों से निकाला हुआ शहद मिलता है। हमारे एक साथी ने फुटपाथ पर सिगरेट सुलगाई। एक गन्दी कमीज़ और पतलूनवाला आदमी हमारे पास आकर खड़ा हो गया और माँगकर सिगरेट पीने लगा। लोग उससे इज़्ज़त के साथ बातें करने लगे। मैंने पूछा, "तुम्हारी जेब में आज किसकी क़िस्मत है?"

उसने डेढ़ हज़ार और उससे ऊपर तनख्वाह पानेवाले चार-पाँच अर्द्धदेवताओं के नाम लिये। यक़ीन दिलाने के लिए उसने अपनी जेब से कुछ की जन्म-कुंडलियाँ निकाल लीं। फिर हमेशा की तरह मेरी जन्म-कुंडली माँगी। मैंने कहा, "मुझे खेद है कि मैं अभी मुस्तक़िल ज्योतिषी पालनेवाले इनकम-ग्रुप में नहीं हूँ। ज़रूरत पड़ने पर फुटपाथ पर हाथ देखनेवालों या चिड़िया के सहारे भाग्य पढ़नेवालों से काम चला लेता हूँ।"

"इससे क्या? आप कुंडली तो लाइए।"

मैं विनम्रता से कहता रहा, "ज्योतिषी तो आगे की बात है, मैं अभी कोई बाबा तक नहीं पाल पाया हूँ?"

"पर इससे क्या...?"

तब तक एक पत्रकार मित्र ने कहा, "दूसरी खेद की बात यह है कि आपको आज मैं बीअर नहीं पिला सकता। मेरी जेब ख़ाली है।"

"हें-हें-हें, ऐसा भी क्या...!" कहते-कहते उन्होंने जन्म-कुंडलियाँ लपेटनी शुरू कर दीं। देखते-देखते उत्तर प्रदेश के कुछ कर्णधारों के भाग्य सिमटकर एक गन्दे पतलून की जेब में घुस गए। सिगरेटों के आदान-प्रदान के बाद हम फिर गर्भवती स्त्रियों की तरह अपनी राह पर लुढ़कने लगे। हमारे साथी ज्योतिष का मज़ाक उड़ाने लगे। पर राजधानी में ज्योतिषियों और बाबाओं के बढ़ते हुए आतंक का मैं मज़ाक नहीं उड़ा पाया। मुझे रासपुटिन के रूस की याद आ गई। पर बात को मोड़ देने के लिए मैंने बात वहीं पर छोड़ दी।

पास की इमारत में एक ग्रामोफ़ोन-रिकॉर्ड भायँ-भायँ बजा। उसने बताया कि हम चीनियों को मारकर भगा देंगे। हमें याद पड़ा कि स्थिति संकटकालीन है। अचकचाकर हम सब लोग एक पान की दूकान की ओर बढ़ गए। एक नौकरीपेशा आदमी कई बार की कही हुई बात कह रहा था, "ऐसी नौकरी के मुक़ाबले पान की दुकान रखी होती...।"

"तो अब तक पान बेच रहे होते", मेरे एक साथी ने कहा।

किसी ने ख़बर दी, "परसों अली अकबर ख़ाँ का सरोद-वादन होगा।"

"लखनऊ में?" मैंने ताज्जुब से पूछा।

थोड़ी देर में मेरे एक मित्र ने कहा कि शाम जवान हो रही है। वास्तव में ऐसी बातचीत अनुवाद-मात्र जान पड़ती है, पर चूँकि हम खुद अनुवाद-मात्र हो रहे थे, इसलिए मुझे यह बात बड़ी वास्तविक जान पड़ी। पैदल चलना छोड़कर हमने मोटर का सहारा लिया।

खुली सड़क पर एक पार्क के सामने एक अस्थायी रेस्तराँ खुला था। फुटपाथ पर कुर्सियाँ पड़ी थीं और लोग आइसक्रीम खा रहे थे। हम मोटर से नीचे नहीं उतरे, बल्कि वहीं ठंडा सोडा और गिलास मँगवा लिये। इत्मीनान से बैठे हुए हम लोग पार्क में खड़ी गांधी की प्रतिमा, नई कार, चीनियों के आक्रमण और शराब के विज्ञापनों की हवा में अपने-अपने फेफड़ों की हैसियत से साँस लेते रहे। भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर और यशपाल पर बातें होती रहीं। बीच-बीच में राजनीति की टुच्ची समस्याएँ आती रहीं, जाती रहीं। अपने हिसाब से वातावरण बौद्धिक हो गया।

इस समय हम लोग तीन रह गए थे। हम सभी निरुद्देश्य थे और हमारी सबसे बड़ी समस्या ढेर-से समय की थी। लगभग आध घंटे बाद हम आगे बढ़े हम एक घनी बस्ती के बीच से निकले, जहाँ कुछ दिन पहले दिन-दहाड़े एक आदमी मार डाला गया था। किसी ने पुलिस को टेलीफ़ोन करने की बात सोची तो टेलीफ़ोन के मालिक ने मारे डर के मना कर दिया। वैसे, दिन-दहाड़े बाज़ार में किसी का मारा जाना किसी दुर्व्यवस्था का चिह्न नहीं, यह केवल दुस्साहस का चिह्न है। हत्या करने के लिए (और नेता बनने के लिए) दुस्साहस के सिवा और चाहिए ही क्या? कहने भर से ही आप करने के मामले में क़ाबिल मान लिये जाएँगे।

हम भड़भूजों, छोटे दूकानदारों, कुँजड़ों और बिसातियों से भरे-पूरे जन-साधारणवाले बाज़ार से होकर एक ऐसे होटल के सामने से गुज़रे जो उस इलाक़े के लिए बड़ा शानदार और हमारी वर्गभेदवाली निगाह में घटिया था। होटल के अन्दर जाकर हम लोग एक बड़े से कमरे में पहुँचे, जिसकी दीवारों का गहरा रोग़न मुरझा गया था, फर्श पर संगमर्मर का नकली काम था। चारों तरफ़ सस्ते बार का वातावरण था। हम लोगों ने कॉफ़ी मँगवाई। अंडरवियर पहने हुए एक वेटर ने ताज्जुब से हमें देखा, फिर बहुत सोच-विचारकर बोला, "अच्छा, देखिए ...देखते हैं।"

एक आदमी हाथ में गिलास लिये हुए आया और हमारी मेज़ के पास खड़ा होकर मुझे घूरता रहा। फिर बोला, "तुम कौन हो?"

यह आदमी पुराने लखनऊ का था, जिसके साथ पौष्टिक दवाओं, कुछ सेकेंड-हैंड यादों, घिसी-पिटी ग़ज़लों और गंडे-ताबीज़ों की हवा बँधी थी। मैंने इज़्ज़त के साथ उसे बताया, "मैं लेखक हूँ।"

उसने आँख मिल-मिलाकर कहा, "शायरी करते हो?"

"नहीं, पर चाहूँ तो कर सकता हूँ।"

वह थोड़ी देर मुझे घूरता रहा फिर बोला, "पर वैसे दिखते नहीं हो।"

"यह रोज़ दाढ़ी बनाने और नहाने का नतीजा है।"

उसके चेहरे से लगा कि मैं उसकी निगाह में गिर गया। एक कोने की ओर इशारा करके उसने मुझसे पूछा, "उन्हें जानते हो? वे ज़माने के उस्ताद हैं।"

बात सच थी। हमारे नज़दीक के कोने में अपने ज़माने के एक बड़े प्रसिद्ध तबला-वादक बैठे हुए दारू पी रहे थे। साथ में दो-एक लोग थे जो उसी तरह के पेशों के रहे होंगे। वे पीते हुए ज़माने को लानत भेज रहे थे कि खंजड़ी बजानेवाले भी आजकल तबलची शुमार किए जाते हैं; यहाँ तो वही कलाकार है जिसे ऑल इंडिया रेडियो मानता है।

लोगों ने अफसोस के साथ उनसे सहमति प्रकट की।

वे दुखी थे। शायद कलाकारों की राजकीय मान्यता के सिलसिले में, या जैसे भी हो, इंशा और ग़ालिब का ज़िक्र आ गया था। मैं सोच ही रहा था कि मेरे बोलने का वक़्त आ रहा है, तभी अचानक बुज़ुर्ग उस्ताद ने बिना किसी प्रोत्साहन के कान पर हाथ रखकर एक ग़ज़ल छेड़ दी। दो-चार लोग उसे दोहराने लगे। उनकी पुरानी आवाज़ साफ़-सुथरी और सधी हुई थी पर ऊँचे स्वरों पर जाकर वहीं टिक गई थी। उसके कारण वातावरण बड़ा उल्लासपूर्ण होता जा रहा था, हालाँकि ग़ज़ल का कुल मिलाकर मतलब यह था कि हम बर्बाद हो गए। मेरी तबीयत गिर गई। मुझे याद आया, बहुत देर हो गई है। हमने जल्दबाज़ी दिखानी चाही, तो हमें बताया गया कि यहाँ कॉफ़ी नहीं मिल सकती।

हम बाहर निकले। सड़कें वीरान होने लगी थीं। हम घनी बस्तियों से निकल रहे थे। एक ओर अमीनाबाद, मौलवीगंज, अशर्फ़ाबाद, चौक नख्खासवाला लखनऊ था जो मुँह ढाँपे पड़ा था। एकाध छोकरे, कुछ बुरकेवाली औरतें, मरियल घोड़े और हिलते हुए ताँगे, तम्बोलियों की दुकानें, हलवाइयों की भट्ठियाँ, कुँजड़ों द्वारा फेंके गए गोभी और मूली के सड़ते हुए पत्ते—उधर का लखनऊ कुल इतना रह गया था।

इस पर एक नया भविष्य हमलावर हो रहा था। यह नया भविष्य नई पीढ़ी का हो, ऐसी बात नहीं। वह मज़बूती से कुछ होशियार, पुराने हाथों की मुट्ठियों में जकड़ा था। पर वे हाथ हमारे चिर-परिचित हाथ न थे। चुस्त सलवारों, ऊलजलूल बालों और खुली हुई रोमहीन बग़लोंवाली लड़कियाँ और ड्रेन-पाइप पतलून और ढीली कमीज़ पहननेवाले लड़के इस भविष्य को हथियाने का सपना-भर देख रहे होंगे। पर वह एम्बेसेडर कार के अन्दर बैठकर, हनुमान मन्दिर के पास जिन पीनेवालों और हज़रतगंज के रेस्तराँ के अन्दर सस्ती थाली में अहिंसावादी खाना खानेवालों के हाथ में चला गया था।

हज़रतगंज आते-आते मैं मेफ़ेयर सिनेमा के सामने मोटर से उतर गया। मैं टहलना चाहता था और रोमांटिक हो रहा था। मैं सोच रहा था कि आत्महत्या करने के बाद अगर किसी तरकीब से मैं लोगों की प्रतिक्रियाएँ जान सकता तो एक बार ज़रूर आत्महत्या करता।

अकेले टहलते-टहलते मैं एक ऐसी जगह पहुँचा जहाँ बीअर का एक अनिवार्य विज्ञापन मेरी आँखों में चुभने लगा। ग्यारह के ऊपर बज चुका था। एक लड़की विज्ञापन के खम्भे के सहारे खड़ी हुई इधर-उधर देख रही थी। दूर से ही पुरानी हवेलियों, आवारा लड़कों

और जीविकाहीन बुज़ुर्गोंवाले किसी खानदान का सहारा दिखती थी।

मुझे अपनी एक 'माया'-छाप कहानी याद आई, जिसमें सड़क पर घूमनेवाली वेश्या भाई की बीमारी की बात चलाकर पैसे के सवाल पर आती है। वह पहले बताती कि मेरा एक भाई एक मेडिकल कॉलेज में बीमार पड़ा है।

खम्भे के पास खड़ी हुई लड़की की आवाज़ ने मुझे चौंकाया, उसने मुझसे टाइम पूछा था। मैंने कहा, "ग्यारह बजकर पच्चीस मिनट।" फिर न जाने कैसे, मैंने उससे अचानक सवाल किया, "तुम्हारा कोई भाई क्या मेडिकल कॉलेज में बीमार है?"

"आपको कैसे मालूम?" उसने कुछ रुककर कहा। उसकी आवाज़ में विश्व-मैत्री का सन्देश था।

जवाब में पहेली-सी बुझाते हुए, विलायती स्टाइल में मैंने कन्धे मटकाए और बिना कोई बात कहे, टहलता हुआ आगे बढ़ गया। बिजली के खम्भों की रोशनी में फैली हुई, एक-दूसरे को काटती हुई अपनी परछाइयों को कुचलता हुआ मैं एक परछाई-सा ही धीरे-धीरे अपने घर की ओर चलता रहा।

लखनऊ का एक बौद्धिकतापूर्ण दिन ख़त्म हुआ।

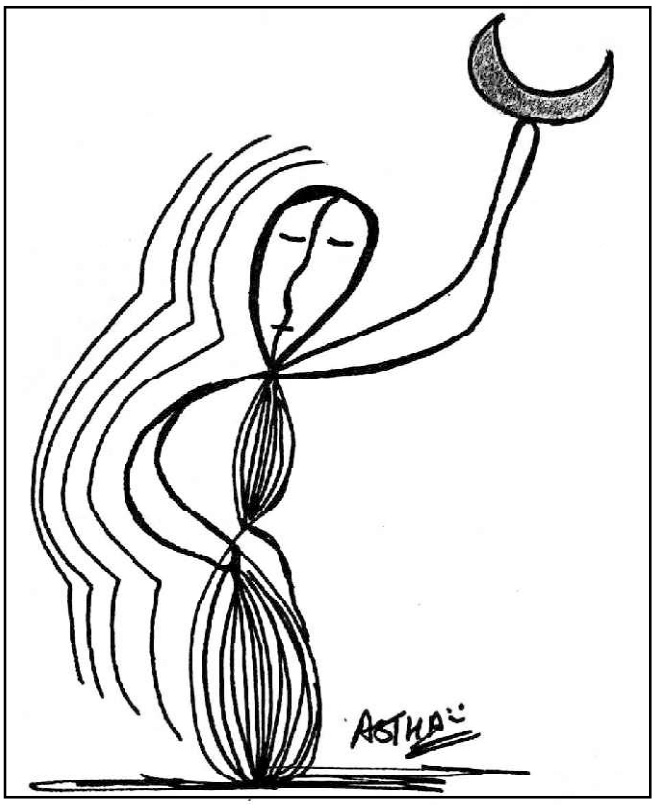

शलवार के बहाने एक सांस्कृतिक चिन्तन

आशुतोष कॉलेज, कलकत्ता के प्रिंसिपल के नादिरशाही हुक्म पर, जिसके द्वारा उन्होंने एक छात्रा को शलवार-कमीज़ पर प्रतिबन्ध लगाकर उसे साड़ी में कॉलेज आने को मजबूर किया, प्रेस में बहुत कुछ आ चुका है। इस पर होनेवाले कलकतिया आन्दोलन, साड़ी बनाम शलवार का सवाल और उसी बहाने नागरिकों के मूलभूत अधिकारों पर काफ़ी बहस हो चुकी है। उसमें न पड़कर मैं यहाँ सिर्फ़ एक सांस्कृतिक बिन्दु पर चिन्तन करूँगा।

कुछ लोग कहते हैं कि बिना सिले कपड़ों के मुकाबले सिले हुए कपड़े पहनना सभ्यता की एक ज़्यादा विकसित स्थिति है। कुछ यह भी मानते हैं कि प्राचीन भारत की नारियों में सिले कपड़ों का रिवाज़ न था और सिले हुए कपड़े हमें इस्लाम के संसर्ग से मिले। बड़ी सौम्यता से कुछ ऐसा ही इशारा जनाब अब्दुल हलीम 'शरर' ने अपनी एक सदी पुरानी किताब 'गुज़िश्ता लखनऊ' में किया है। कुछ लोग यहाँ तक मानते हैं कि हर्ष के समय तक भारत में सिलाई नाम की चीज़ चली ही नहीं थी।

आइए, कुछ देर के लिए मान लें कि नग्नता से उबरकर अंजीर की पत्ती से अंग ढकना, फिर वल्कल वस्त्रों तक आना, फिर बिना सिले हुए उत्तरीय और अधोवस्त्र का प्रयोग करना, और अब शलवार-कुर्ते में पैठ जाना—ये सब सभ्यता-यात्रा की बढ़ती मंज़िलों को वैसे ही प्रमाणित करते हैं जैसे हमारे फ़ैशन डिज़ाइनरों की मदद से हमारा फिर उसी पुरानी नग्नता की ओर धीरे-धीरे, पर पक्के तौर से बढ़ना। इसके बाद बहस सिर्फ़ प्राचीन भारत में सिले वस्त्रों के प्रयोग को रह जाती है। इससे इतिहास के पंडित जूझें, पर मेरे लिए महाभारत की 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि' वाली कविता काफ़ी है। ज़ाहिर है कि महाभारत-काल में सुई मौजूद थी और वह सिर्फ़ बहस में विपक्षी के नितम्ब में चुभाने के लिए नहीं, अपने सहज काम, यानी सिलाई के लिए इस्तेमाल में आती थी। यह और बात है कि नारियों में सिला हुआ अधोवस्त्र पहनने का रिवाज़ न रहा हो, पर इसका सभ्यता के विकास से कोई लेना-देना नहीं, यानी ऊपर जो बात मैं कुछ देर के लिए मान चुका हूँ, उसे अब ख़ारिज करना चाहता हूँ।

'हर्षचरितम्' में बाणभट्ट सातवीं सदी के आरम्भ में राज्यश्री के विवाह के लिए तैयार कराए गए कपड़ों की प्रशंसा में कहते हैं, "रेशम, रुई, ऊन के वस्त्र—साँप की केंचुल जैसे महीन, श्वास से ही उड़ जानेवाले, केवल स्पर्श से अपने होने का पता देनेवाले, इन्द्रधनुष जैसे रंग-बिरंगे...।" माना कि ये शलवार-कमीज़ की शक्ल में सिलकर नहीं रखे गए थे तब भी 'निर्मोकनिभैः, निःश्वासहार्यैः, स्पर्शानुमेयैः' जैसे विशेषण सभ्यता के किस स्तर पर आपको

उड़ाकर पहुँचा रहे हैं?

वैसे, श्रेष्ठतर सभ्यता के तर्क को नामंज़ूर करते हुए भी, शलवार के हक़ में दो बातें ज़रूर कही जा सकती हैं—एक तो यह कि महिलाओं के लिए सुगमता और उपयोगिता के बल पर कभी महात्मा गांधी तक ने शलवार की सिफ़ारिश की थी। दूसरे यह कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के ऐतिहासिक प्रसंगों को अनदेखा करके, उनका तात्त्विक समाधान न खोजकर जो लोग 'गंगा-जमुनी' जैसे चलताऊ मुहाविरों की कमन्द पकड़कर सिर्फ़ प्रतीकों के बल-बूते पर सद्भाव का अभियान चला रहे हैं, उनके लिए शलवार 'गंगा-जमुनी' भारतीय संस्कृति की ध्वजा है (अलबत्ता चारों ओर से सिली हुई)। वह गँवार हिन्दुवानी, आदिवासी क्रिस्तानी और शहरी मुग़लानी को एक साथ खरी सभ्य हिन्दुस्तानी बना सकती है। इसलिए मानवाधिकार जैसे हाहाहूती सवाल उठाए बिना भी हम आशुतोष कॉलेज के प्रिंसिपल चक्रवर्ती के चक्रवर्तित्व को चुनौती दे सकते हैं।

पर गड़बड़ी यह है कि पुराना बंगाली अपने मन में बँधी शलवार-सम्बन्धी गाँठ को आसानी से नहीं खोल पाता। नीरद चौधरी जैसे पंडित तक अपनी 'एक अनजाने हिन्दुस्तानी की आत्मकथा' में कहते हैं—"यह पोशाक (शलवार) उतनी ही इस्लामी है जितनी कि शरिअत ... और हैरत की बात यह कि इसका चलन बढ़ रहा है। यहाँ तक कि बंगाली औरतें भी इसे अपना रही हैं—यह भुलाकर कि उनके कमतरीन जिस्मों पर यह फबती नहीं है, और यह तक भुलाकर कि उत्तर भारत की नारियों में सिले हुए अधोवस्त्र की मौजूदगी या नामौजूदगी ही हिन्दुत्व और इस्लाम की कसौटी हुआ करती थी।"

सवाल यह है—ढपोरशखी संस्कृति के स्वर्णयुग में अगर सिला हुआ वस्त्र हिन्दू नारियों के लिए अहिन्दू माना जाता था तो क्या 1993 में भी हमें अपने को सुसंस्कृत समझने के लिए वैसा ही मानना चाहिए?

15 अगस्त, 1993

वह संसद में जाना चाहता है

बुज़ुर्ग बाप—किसी ज़माने के जाने-माने विद्वान् और बहुतों के आध्यात्मिक गुरु—अस्पताल में बेहोश पड़े हैं। मधुमेह में ऐसी बेहोशी को हाइपोग्लाइसीमिया कहते हैं। रक्तचाप भी है। गुर्दे जवाब देने लगे हैं। उनके दो लड़के उन्हें देखने आए हैं—बड़ा पटना से अपनी कार पर, छोटा कलकत्ता से हवाई जहाज़ द्वारा। बड़ा कहता है—"डायबिटीज़ बेहूदा बीमारी है।"

"बहुत बेहूदा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती है," छोटा कहता है, "मुझे डर है कि इनकी वजह से कहीं हमें भी न हो गई हो।"

"मुझे तो है ही। पर हमारे पार्टी अध्यक्ष का कहना है, इससे मेरा पार्लामेंट में जाना आसान हो जाएगा। कहते थे कि दुनिया के ज़्यादातर सांसद डायबिटिक होते हैं।"

"और बवासीर?"

"हुश्। वह ब्यूरोक्रैट्स के लिए है। पर सच तो यह है कि सबसे बड़ी बीमारी है भ्रष्टाचार। यह न तो आदमी का पेशा गिनती है, न उसका ओहदा। जो भी मिला उसको पकड़कर चाँप लेती है। हमारे पटने में...।"

"कलकत्ते की हालत और भी बुरी है। मैंने प्लेन पर देखा, मेरा पड़ोसी...।"

"कलकत्ते में भ्रष्टाचार से भी ज़्यादा भयानक चीज़ अनार्की है।"

"अनार्की तो बाहर है, मैं एसेम्बली के भीतर की बात कह रहा हूँ। प्लेन पर मेरी बग़ल में एक एम.एल.ए. बैठा था, मैंने तो उससे कह भी दिया, माना कि पुलिस की गोलीबारी से युवा कांग्रेस के प्रदर्शन में बारह आदमी मरे, पर एसेम्बली में कांग्रेसियों को ऐसा न करना चाहिए था...।"

"पर वहाँ तो कुछ भी नहीं हुआ। एक आदमी की भी जान नहीं गई। सोचो, बारह मौतों के बदले उन्होंने सिर्फ़ वहाँ गालियाँ दीं, चप्पल फेंके, बेंचें तोड़ीं, माइक्रोफ़ोन फोड़े...।"

"पर कांग्रेसी सौगत राय और सी.पी.यम. के लगनदेव सिंह के बीच क्या हुआ?" "कुछ भी नहीं। दोनों ज़िन्दा हैं।"

"मेरा ख़याल है कि ज्योती बासू कुछ ज़्यादा ही ऐरोगैंट हो रहा है। मैंने प्लेन पर अपने पड़ोसी मुसाफ़िर से कहा...।"

"है, पर बीजू पटनायक से ज़्यादा नहीं। वैसे, भ्रष्टाचार के मामले में...।"

"जब हमारा प्लेन राँची एयरपोर्ट पर उतरा...।"

"उसे छोड़ो। मैं भ्रष्टाचार की बात कर रहा हूँ। लोग पटने को बदनाम करते हैं पर तुम्हें उड़ीसा का पता नहीं। जे.बी. पटनायक...।"

"नहीं, बीजू पटनायक। राँची एयरपोर्ट पर...।"

"मैं भ्रष्टाचार की बात कह रहा हूँ।"

"मैं भी। राँची में इंडियन एयरलाइंस का मैंने तमाशा देखा...।"

"उसे छोड़ो। पता है, हर्षद मेहता ने सेंटर के कितने लोगों के नाम गिनाए हैं? एक-एक का...उधर अपने पटने में...।"

एक महिला कमरे में प्रवेश करती है। वह इन दोनों की बहन है। होंठों पर उँगली रखकर उन्हें चुप होने का इशारा करती है। उसी के पीछे एक नर्स और डॉक्टर कमरे में आते हैं।

छोटा भाई कहता है, "प्लेन पर अब कायदे की काफ़ी तक नहीं मिलती।"

डॉक्टर उसे सवालिया निगाह से देखता है। बड़ा भाई कहता है, "अब तुम भ्रष्टाचार की बात से कतरा रहे हो। पटने में अभी मेरा एक व्याख्यान हुआ था...।"

डॉक्टर कहता है, "आप लोग कुछ देर के लिए कमरे से बाहर जाएँगे?"

दोनों मुस्तैदी से खड़े हो जाते हैं। छोटा कहता है, "मैंने एयरलाइंस के लोकल मैनेजर से कहा कि...।"

दरवाज़े पर बड़े भाई की आवाज़ सुन पड़ती है, "बोफोर्स का तो नाम-भर है। दर्जनों ऐसे मामले हैं...।"

डॉक्टर ज़ोर से साँस लेता है। महिला की ओर सवालिया निगाह फेंकता है। वह कहती है, "मेरे भाई हैं।" फिर समझाती है, "बड़े भैया पार्लामेंट का चुनाव लड़नेवाले हैं। उसी की तैयारी कर रहे हैं।"

डॉक्टर बेहोश बुज़ुर्ग की ओर देखता है, देखता रहता है। "हिन्दुस्तान की भी यही हालत है न? वह मौत के कगार पर बेहोश पड़ा है। और वे उधर नहीं देखते, सिर्फ़ आपस में एक-दूसरे पर चीख़ रहे हैं।"

"आपने कुछ कहा?" बहन पूछती है।

"कुछ नहीं," डॉक्टर स्टेथस्कोप के साथ मरीज़ पर झुकता है, "कुछ कहने का कोई मतलब भी है?"

8 अगस्त, 1993

निराला के बहाने कुछ साहित्य-चर्चा

आज जिस बेतक़ल्लुफ़ी से हम नामवर सिंह, निर्मल वर्मा या अज्ञेय का नाम लेते हैं, वैसा कोई पचास साल पहले करता तो उसे बदअख़लाक़ या फूहड़ कहा जाता। उन दिनों के चलन के हिसाब से हमें समालोचना-सम्राट् नामवर सिंह, उपन्यास-सम्राट् निर्मल वर्मा या कवि-सम्राट् अज्ञेय कहना चाहिए था। नागार्जुन और त्रिलोचन को छोड़कर, जिनको बहुत विलम्ब से अब क्रमशः बाबा और जनकवि कहा जाने लगा है, आज शायद सभी वरिष्ठ साहित्यकारों का नामोल्लेख हम बनियान-कच्छेवाले घरेलूपन से ही करते हैं।

इसके विपरीत उन दिनों की याद कीजिए। वज़नी विशेषण सिर्फ़ राष्ट्रनेताओं के ही लिए नहीं थे (जैसे महात्मा गांधी, महामना मालवीय, क़ायदे-आज़म जिन्ना आदि), साहित्यकारों के लिए वे कुछ और भारी-भरकम थे। कुछ तो अपने-आप में साहित्य थे—जैसे हास्यरसावतार पं. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द, या महापंडित राहुल सांकृत्यायन। महाकवि जयशंकर प्रसाद, महाप्राण निराला और महीयसी महादेवी भी काफ़ी प्रचलित रहे हैं। सुमित्रानन्दन पन्त के साथ 'महाकवि' नहीं लग पाया, वे ज़्यादातर कवि या सुकवि रहे। पर यह भी कुछ कम वज़नी नहीं था। पन्त के आदर्श रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी 'द पोयट' भर थे।

निराला और महादेवी के साथ जो विशेषण जुड़े थे, वे उनके साहित्य के नहीं, व्यक्तित्व के बारे में थे। और महादेवीजीवाला 'महीयसी' उतना पुराना भी नहीं है, बहुत बाद में श्रद्धालुओं और अनुप्रासप्रियता से फूटकर निकला है। पर निरालावाला 'महाप्राण' पुराना है और इसमें शक नहीं कि वह उनके जीवट को, उसकी प्रखर प्राणवत्ता को प्रकट करता है।

अभी वसन्त पंचमी को बहुत से साहित्य-प्रेमियों ने उनकी जयन्ती मनाई होगी, क्योंकि निराला के साथ जुड़ी हुई अनेक किंवदन्तियों में एक यह भी है कि वे वसन्त पंचमी को पैदा हुए थे। निराला की 'साहित्य-साधना' (प्रथम भाग) में डॉ. रामविलास शर्मा ने इस मुद्दे पर जो सामग्री दी है उससे स्पष्ट है कि निरालाजी का जन्म सं. 1955 वि. की माघ सुदी एकादशी को हुआ था। इस साल यह तिथि तीन फरवरी को पड़ रही है और उत्साही साहित्यकर्मियों द्वारा उस दिन किए जानेवाले किसी आयोजन के लिए अभी काफ़ी समय है।

महाप्राण निराला की जन्मतिथि पर मैं कैसा आयोजन चाहूँगा? उनके लिए कोई स्मारक बनाकर, उनके नाम पर किसी अध्ययन-संस्थान की स्थापना करके, उसके गाँव गढ़ाकोला को भारत का आदर्श ग्राम घोषित कराके या उनके साहित्य का इतना प्रचार-प्रसार कराके कि उनके ग़रीब उत्तराधिकारी एकदम उच्च मध्यम वर्ग बन जाएँ? गोष्ठियाँ, सेमिनार, भाषण-माला, पुरस्कार-योजना या ऐसा ही कोई हम्बग, कोई ढकोसला खड़ा करके जो हर दिवंगत प्रधानमन्त्री या राष्ट्रनेता के नाम पर फाउंडेशन, फंड, प्रतिष्ठान आदि का रंग पोतकर बड़ी संजीदगी से जम जाता है? ऐसा कुछ अपने-आप हो जाए तो मुझे कोई प्राणान्तक ऐतराज़

नहीं होगा। पर मेरे आयोजन का स्वरूप कुछ और है।

निराला के महाप्राण होने की अर्थवत्ता उनके अनेक भौतिक और मानसिक संघर्षों के प्रसंग ही में नहीं है, वह उनकी उस क्षमता में भी अन्तर्निहित है जिसके सहारे वे सब प्रकार के हम्बग को, मक्कारी और ढकोसलेबाज़ी को दूर से ही सूँघ लेते हैं और उसे बेमुरव्वती से एक किनारे छोड़ अपनी राह निकल जाते हैं। वह राह अँधेरी और काँटों भरी है, पर हम्बग के साथ जीने के बजाय वे उसे ही बेहतर समझते हैं। प्रसिद्ध कलाकार और साहित्यकार के लिए ऐसे 'हम्बग' से कई तरह का ख़तरा है, सबसे बड़ा ख़तरा यह है कि निरन्तर आत्मान्वेषण करने के बजाय कहीं वह अपने प्रशंसकों, चापलूसों, सेमिनार-उत्सव-गोष्ठी आदि के दलालों की मानसिकता को अनजाने ही न ढोने लगे।

निराला का शोषण करनेवालों की लम्बी सूची है, पर उनके समकालीन प्रशंसकों की सूची और भी लम्बी है। मिश्रबन्धुओं में रावराजा श्यामबिहारी मिश्र, दुलारेलाल भार्गव, श्रीनारायण चतुर्वेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, वाचस्पति पाठक, गंगाप्रसाद पांडेय और ऐसे ही कई और जाने-बूझे नाम हैं। उनका सबसे स्नेह-सम्पर्क बनता है। पर वे उन पर निर्भर होना पसन्द नहीं करते, उनकी मानसिकता को ढोने को तैयार नहीं होते, घायल होते भी अकेले चल देते हैं। उन्हें साहित्यकार संसद नहीं रोक पाती, महीयसी महादेवी भी उन्हें वहाँ नहीं रोक पातीं, वे जानबूझकर इलाहाबाद में दारागंज की एक गली में अपनी सुपरिचित विपन्नता का वरण करते हैं।

निराला ने जो झेला, वह इतिहास है। पर मैं सोचता हूँ, उनके नाम से क्या कोई ऐसा आयोजन नहीं हो सकता जो आगे आनेवाले संघर्षरत निरालाओं को उस नियति का शिकार न बनने दे जो निराला के हिस्से पड़ी थी? इसका जवाब होगा—बिल्कुल हो सकता है, निराला के नाम से साहित्यकारों के हितार्थ एक ऐसे ट्रस्ट का गठन आदि-आदि। पर मैं एक शर्त भी रखना चाहूँगा कि उस ट्रस्ट से जुड़कर भी साहित्यकार सब तरह से 'हम्बग' से वैसे ही स्वतन्त्र रहे जैसे कि निराला ने रहना चाहा था। तब शायद आपको लगे कि मैं जो चाहता हूँ वह असम्भव है क्योंकि अगर कोई साहित्यकार बराबर निराला के-से सदमे झेलेगा, तो निराला ही की तरह उसके बिखरने का ख़तरा है, और अगर वह उस ख़तरे से बचने के लिए किसी तथाकथित साहित्यसेवी ट्रस्ट का लाभार्थी बन जाए तो 'हम्बग' से जुड़कर शायद वह खुद भी हम्बग बन जाएगा। निराला की 'कुकुरमुत्ता' की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

गुस्सा आया, काँपने लगे नव्वाब।
बोले, "चल गुलाब जहाँ से उगा
सबके साथ हम भी चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता।"
बोला माली, "फ़रमाएँ मुआफ़ ख़ता
कुकुरमुत्ता अब उगाए नहीं उगता।"

निराला ने कुकुरमुत्ता को जिस किसी का भी प्रतीक माना हो, वे सोच नहीं सके कि कुछ ही सालों बाद कुकुरमुत्ते यानी मशरूम की खेती भारत में एक बड़ा लाभकारी व्यवसाय बन जाएगी। उसके व्यवसायी आज साहित्य में संस्थान, प्रतिष्ठान, फंड, ट्रस्ट, अकादमी आदि का भेस बनाकर साहित्यकार को अपने हम्बग में लपेट सकते हैं। और साहित्यकार की तारीफ इसमें है कि उनके बीच से बखुशी गुज़रकर वह बिना किसी खरोंच के बाहर निकल आए।

31 जनवरी, 1993

स्वामी से भी ज़्यादा स्वामिभक्त

पुराने नगर प्रशासक के बारे में मशहूर था कि वह पान ज़्यादा खाता है और घूस उससे भी ज़्यादा खाता है। इसलिए सजा के तौर पर उसका तबादला राज्य वित्त निगम के प्रबन्ध निदेशक के पद पर कर दिया गया था। नया प्रशासक उससे भिन्न था। वह पान नहीं खाता था। फिर भी शिकायतों की कमी नहीं हो रही थी, नगर बदइन्तजामी का जंगल बनता जा रहा था, मानो माननीय प्रधानमन्त्री की छवि धूमिल करने की कहीं कोई साजिश चल रही थी।

इसलिए नगर विकास मन्त्री के पद की शपथ लेते ही वे नगर और नगर निगम के दफ़्तर का आकस्मिक निरीक्षण करने को निकल पड़ते हैं। साथ में सरकारी फोटोग्राफर और गैर-सरकारी होने के बावजूद दो ज़िम्मेदार पत्रकार।

दफ्तर पहुँचते ही उन्हें एक इंजीनियर, दो उप और तीन सहायक नगर अधिकारी गैरहाज़िर मिलते हैं। वे उनकी मुअत्तली का हुक्म देते हैं। इंजीनियर पहले ही मुअत्तल हो चुका है, पर हाईकोर्ट के स्थगन आदेश लेकर अपनी कुर्सी पर कायम है। फाटक के उस पार तम्बोली की दुकान पर पान खाते वक़्त इस नई मुअत्तली की ख़बर पाते ही मन्त्रीजी पर न्यायालय की मानहानि का दावा ठोंकने के लिए वह हाईकोर्ट की ओर फुर्र से उड़ चलता है। वहाँ उसे उप और तीन सहायक नगर-अधिकारी पहले से ही मौजूद मिलते हैं, जो अपनी मुअत्तली के ख़िलाफ स्थगन आदेश लेने आए हैं।

इधर मन्त्री को अपने कमरे में घुसते देखकर नगर प्रशासक निरीक्षण की आकस्मिकता पर उम्दा क़िस्म की हैरत जाहिर करता है। वे धाकड़ी से कहते हैं, "ह्याँ कोई डिसिप्लिन नहीं है। सभी ग़ैरहाजिर हैं। आपका प्रशासन बिल्कुल रद्दी है। पूरा शहर सड़ाँध और गन्दगी से बजबजा रहा है, घूरा बन गया है।"

उन्हें आदर से कुर्सी पर बैठाते हुए नगर प्रशासक कहता है, "आप ठीक कहते हैं, सर! मुझे पुराने प्रशासन से यही घूरा विरासत में मिला है, पर हमारा भरसक प्रयास होगा कि इसका कायाकल्प कर इसे इक्कीसवीं सदी के मॉडल टाउन के रूप में...।"

इक्कीसवीं सदी का शाबर-मन्त्र सुनते ही मन्त्री जी ठिठकते हैं। आगे बातचीत कुछ इस तरह होती है—

मन्त्रीजी : सारे शहर में सीवर रुँधे हुए हैं, मेनहोल खुले पड़े हैं, सारी गन्दगी बाढ़ के पानी के साथ...

प्रशासक : सर, सीवर की समस्या विषम है। यह तीन लाख की आबादीवाले शहर के लिए बनाया गया था, पर आबादी अब 13 लाख हो गई है और इक्कीसवीं सदी के आने

तक 21 लाख हो जाएगी। हमने नए सीवर के लिए 50.37 करोड़ की योजना विश्वबैंक की स्वीकृति के लिए भेजी है, जिसमें जापान और इटली की नवीनतम टैक्नोलाजी होगी। एक दूसरी योजना...

मन्त्रीजी : सड़कों पर कूड़े के ढेर लगे हैं। आपका स्टाफ क्या करता है?

प्रशासक : सर, अभी हमारी पुरानी कूड़ागाड़ियाँ और स्टाफ प्रतिदिन दस घंटे काम करके तीन दिन में सिर्फ़ पाँच हज़ार टन कूड़ा हटा सकते हैं, जबकि नगर में उसका उत्पादन तीस हज़ार टन प्रति सप्ताह की दर से हो रहा है। हमने नगर की कूड़ा सम्बन्धी क्षमता को देखकर अगली पंचवर्षीय योजना में जो प्रावधान किए हैं और जिस वाशिंगटन-पैटर्न को अपनाया है...

मन्त्रीजी : यह सब छोड़िए, पानी का क्या हो रहा है? पश्चिमी मुहल्लों में तीन दिन से एक बूँद पानी नहीं आया है और आप बँगले में पड़े सो रहे हैं।

प्रशासक : यह समस्या भी, सर, पिछले प्रशासन की गैरदूरन्देशी का नतीजा है। विश्व-स्वास्थ्य संगठन, केन्द्रीय मन्त्रालय और राज्य योजना आयोग की एक टीम के सर्वे के आधार पर जो योजना हमने बनाई है, उससे अगले सात साल में हम 12 लाख गैलन अतिरिक्त क्षमता...

मन्त्रीजी : बस योजना! योजना!

प्रशासक : और सर, जहाँ तक मेरे बँगले की बात है, इस वक़्त मेरा कोई सरकारी बँगला नहीं है। प्रशासक निवास के लिए अगले वर्ष 12.42 लाख रुपए का प्रावधान हुआ है। निवास बन जाने पर प्रशासकीय कुशलता में 35.7 प्रतिशत की वृद्धि सम्भावित है।

मन्त्रीजी : सड़कें इतनी टूटी-फूटी हैं! चीफ इंजीनियर को तुरन्त मुअत्तल कर दीजिए।

प्रशासक : सर, चीफ इंजीनियर का तो पद खाली है, लोकसेवा आयोग अगले मास तक उसके लिए विज्ञापन निकालनेवाला है। सड़कों के लिए 123 करोड़ की योजना ऊपर भेजी गई, जिससे...

मन्त्रीजी : यह रुपया मिल भी गया, तो आपके यहाँ के भ्रष्टाचार...

प्रशासक : सर, भ्रष्टाचार का सवाल ह्यूमन रिसोर्सेज, प्लानिंग और मॉरल क्लाइमेट का है। यह आज एक विश्वव्यापी समस्या है। फिर भी हमने एक उच्च-स्तरीय समिति गठित की है।

मन्त्री अब खड़े होकर चीखते हैं, "शटअप, मैं शहर की मौजूदा समस्याओं की बात कर रहा हूँ और तुम अपनी अगली योजनाओं के बारे में टेलीविज़न की ख़बरों की तरह मुझे आँकड़े देते चले जा रहे हो!"

प्रशासक कहता है, "सर, टेलीविजन की ख़बरों का बड़ा महत्त्व है। वे हमें वर्तमान समस्याओं और भविष्य के भारत का सच्चा परिचय देती हैं। सच तो यह है कि मैं उन्हीं से आज तक इस नगर के भविष्य-निर्माण की प्रेरणा लेता रहा हूँ। पर आज से उसमें आपका बहुमूल्य मार्गदर्शन भी जुड़ गया है। अब हमारे नागरिकों को विश्वास हो जाना चाहिए कि हम इस नगर को अपने युवा प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में इक्कीसवीं सदी की ओर लिये जा रहे हैं...।"

ज़िम्मेदार पत्रकार इसे नोट करने लगते हैं, तभी दरवाज़े से कॉफ़ी और काजू का प्रवेश होता है।

नवम्बर, 1985

हिन्दी पर दो टिप्पणियाँ

(1) राजभाषा या महाराज-भाषा

राजभाषा बनते ही हिन्दी की हैसियत राजकवि, राजवैद्य या राजपुरोहित की-सी हो गयी है जिसका प्रजा से कोई सम्बन्ध रखना ज़रूरी नहीं है। तभी उसका जो स्वरूप सँवर रहा है वह राजसम्मान के उपयुक्त भले ही रह जाय, सड़क और गली से वह कोसों दूर है। यह नमूना देखिये—

"जहाँ कि सम्पत्ति के किसी अन्तरण के निबन्धन निदिष्ट करते हैं कि उस सम्पत्ति से उद्भुत आय (क) अन्तरक के जीवन से, या (ख) अन्तरण की तारीख़ से अठारह वर्ष की कालावधि से अधिक कालावधि तक पूर्णतः या भागतः संचित की जायगी,

वहाँ एतस्मिन्पश्चात् यथा—उपबन्धित के सिवाय ऐसा निदेश वहाँ तक शून्य होगा जहाँ तक कि वह कालावधि जिसके दौरान में संचय करना निर्दिष्ट है, पूर्वोक्त कालावधियों में से दीर्घतर कालावधि से अधिक हो और ऐसी अन्तिमवर्णित कालावधि का अन्त होने पर सम्पत्ति और उसकी आय इस प्रकार व्ययनित की जायगी मानो वह कालावधि जिसके दौरान में संचय करना निदिष्ट किया गया है, बीत गयी है।"

(धारा (17), (1), सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम 1882—भारत सरकार के विधि मंत्रालय का प्रकाशन)।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा समझने के लिए नहीं, पूजने के लिए लिखी गयी है। यह राजभाषा नहीं, महाराज-भाषा है। कम-से-कम इस भाषा में लिखे गये क़ानूनों से वकीलों का पेशा और समुदाय उतना तो सुरक्षित रहेगा ही जितना अंग्रेज़ी क़ानूनों से रहता है।

हिन्दी का 1947 के बाद का यह स्वरूप शुद्ध दफ़्तरों या दफ़्तरी उपांतों की उपज है।

हिन्दी ही नहीं, कोई भी भाषा जब दफ़्तरों में घुसती है तो उसका एक बँधा-बँधाया शब्द-जाल विकसित होता है, वह टकलाली स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इसके लिए अंग्रेज़ी में 'आफ़िशलीज़' शब्द का प्रयोग होता है। हिन्दी को राजभाषा बनाने के साथ ही उसकी यह अनिवार्य नियति हो गयी कि उसकी भी आफ़िशलीज़ विकसित होती। पर हिन्दी के बारे में एक काम यह हुआ कि उसमें अपने-आप आफ़िशलीज़ के विकसित होने का इन्तज़ार नहीं किया गया। शब्द-कोष-समितियों और विशेषज्ञ आयोगों ने 'रेडियो' को 'आकाशवाणी' और 'सिविल सर्जन' को 'जनपद शल्यक' का दर्जा देते हुए 'आई. एम. डाइरेक्टेड टू से' और 'आई. एम. डिज़ायर्ड टू से' के हूबहू रूपान्तर हिन्दी में भरने शुरू कर दिये जो नकली, फ़र्ज़ी और ग़ैरज़रूरी थे।

हिन्दी के वेतनभोगी विशेषज्ञ खुद तो अपनी तनख़्वाह के प्रति नमकहलाली दिखा

रहे थे पर उसी के साथ अनजाने ही हिन्दी को विदूषकों का जामा भी पहना रहे थे। और चूँकि अधिकाँश विशेषज्ञों को एक स्थायी पेंन्शनदायी नौकरी की ज़रूरत थी, इसलिये हिन्दी में आफ़िशलीज़ के विकास का काम भी दीर्घकालीन, लगभग स्थायी ढंग से होना लाज़मी था। तभी चेतन-अचेतन ढंग से कोशिश यही रही कि दफ़्तरी हिन्दी बनाने का काम कभी ख़त्म न होने पाये। 'पारिभाषिक शब्दावली' के नाम पर, जिसका उपयोग ऊपर के कानूनी उदाहरण में खुलकर हुआ है, विदूषक-छाप हिन्दी बनाने का यह दीर्घकालीन व्यायाम हिन्दी-विरोधी तत्त्वों के लिए ख़ास तौर से सुविधाजनक रहा है; क्योंकि वे कह सकते थे, शाबाश! अभी तो तुम भाषा बना रहे हो, बनाते रहो; जब बना चुकोगे तब उसका हम प्रयोग करेंगे ही। घबराते क्यों हो? परिणामतः हिन्दी की सेवा करते-करते उसके सेवकों ने उसको असाध्य रूप में रोगी बना दिया।

जटिल और दुरूह हिन्दी के विकास में दो प्रवृत्तियाँ खास तौर से सक्रिय रहीं।

पहली प्रवृत्ति का सम्बन्ध हैसियतपरस्ती से है। उसका एक उदाहरण देखा जाय; अंग्रेज़ों के ज़माने में सरकारी अफ़सरों के पद-नाम हल्के होते थे और उनमें शान या दिखावट की कमी थी। 'ऑफ़िसर' को ही लीजिए, इसका मतलब होगा 'ऑफ़िसवाला'। इसके विपरीत हिन्दी में इसका रूपान्तर है 'अधिकारी' जिसका अर्थ है 'अधिकार वाला'। आज भी लन्दन में पुलिस का सबसे बड़ा अफ़सर 'चीफ कांस्टेबुल' है, जबकि उत्तर प्रदेश में होम गार्ड जैसे संगठन तक के सर्वोच्च अधिकारी को 'कमाण्डेण्ट जनरल' जैसा शानदार नाम दिया गया है जिससे किसी फील्ड मार्शल का धोखा होता है। पदनामों को हिन्दी में लाते समय एक सामन्तवादी—या अफ़सरवादी आकांक्षा किसी-न-किसी स्तर पर काम कर रही थी कि वह केवल पदनाम न रहे, उससे ऊँची हैसियत भी टपके। तभी अबोध और दुरूह शब्दों के लिए भागमभाग मची। कलेक्टर, इंजीनियर, सर्जन जैसे शब्द अधिकार का नहीं, काम का संकेत करते थे। इनके लिए क्रमशः तहसीलदार, मिस्त्री और जर्राह की प्रकृति के शब्द काफ़ी होते। पर हैसियतपरस्ती (स्टेटस माँगरिंग) इतनी ज़्यादा थी कि 'कलेक्टर' के लिए 'ज़िलाधिकारी' भी काफ़ी नहीं रहा, जोश में उसे 'ज़िलाधीश' कहा जाने लगा—गोया वह परमभट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पोता हो। और इन्जीनियर और सर्जन को 'अभियन्ता' और 'शल्यक' जैसी चोटियों पर बैठाया गया ताकि लोगों को उनकी ऊँचाई का पता ही न चले और वे सोचते ही रह जायँ कि इनका जुगराफ़िया क्या है।

अंग्रेज़ी ज़माने में अंग्रेज़ी शब्द का रोब स्वतःसिद्ध था। तभी 'कलेक्टर' अपने हिन्दी रूपान्तर 'तहसीलदार' से दो दर्जे ऊपर था, 'जज' अपने हिन्दी रूपान्तर 'मुंसिफ' से एक दर्जा ऊपर, पुलिस का इन्स्पेक्टर अपने हिन्दी रूपान्तर 'दारोगा' से, जो सब-इन्स्पेक्टर का समकक्ष है, एक दर्जा ऊपर बैठता था। आज़ादी के पहले जो हैसियत अंग्रेज़ी के मुकाबले दास भाषाओं की थी, वही हैसियत आज़ादी के बाद क्लिष्ट हिन्दी ने जनभाषाओं या सरल हिन्दी के, मुकाबले अपना ली। तभी 'हेडक्लर्क' के लिए 'बड़ा बाबू' छोटा जान पड़ा, 'प्रधान लिपिक' ठीक बैठा, 'फिश मार्केटिंग ऑफ़िसर' के लिए 'मछलीफ़रोश अधिकारी' घटिया लगा, 'मत्स्य क्रय-विक्रय अधिकारी' को तरजीह मिली, क्योंकि उसका उच्चारण जितना दुरूह है उसे उतना ही ऊँचा समझने की गुंजाइश थी। समझ में आनेवाला हर शब्द बाज़ारू समझा गया और प्रत्येक क्लिष्ट शब्द हैसियत और गरिमा का द्योतक बन गया।

दूसरी प्रवृत्ति संज्ञापरक, विशेषणपरक और क्रिया विशेषणपरक उपवाक्यों से सम्बन्धित

है। अंग्रेज़ी में इस प्रकार के उपवाक्यों वाले वाक्यों की भरमार रहती है, वह अंग्रेज़ी अभिव्यंजना का सहज गुण है। पर 'आई नो ही नोज़ देट आई नो' जैसी स्पष्ट बात हिन्दी के 'मैं जानता हूँ कि वह जानता है कि मैं जानता हूँ' में अस्पष्ट और दुरूह हो जाती है। उपवाक्यों से भरे हुए बड़े-बड़े वाक्य, जिसका नमूना इस लेख के शुरू में दिया गया है, हिन्दी की प्रकृति के विपरीत हैं, वैसे ही जैसे कि समासबहुल पदावली संस्कृत का सहज स्वभाव है पर वह हिन्दी में नहीं खपती। राजभाषा बनाने वाले हिन्दी-विशेषज्ञ हिन्दी-अभिव्यंजना की इस सीमा को नहीं समझना चाहते, या शायद मानना भी नहीं चाहते। नतीजा सामने है।

दरअसल, सबसे ज़्यादा महत्त्व की बात यह है कि राजतंत्र का काम भाषा बनाना नहीं, नागरिकों के लिए की जाने वाली राजव्यवस्था को उनके लिए अधिकतम सुचारु रूप में प्रस्तुत करना है और नागरिकों की भाषा—जिसका राजतंत्र प्रयोग करता है—इस प्रक्रिया का एक माध्यम-भर है। इसीलिए, राजकीय स्तर पर भाषा का विकास सिर्फ़ अनुवाद या रूपान्तर का मसला नहीं है; वह उन प्रक्रियाओं और व्यवस्थाओं का परिणाम है जो नागरिकों के लिए निर्धारित की जाती हैं। उदाहरण के लिए, मेरे लिए ट्रांस्फ़र ऑफ प्रॉपर्टी एक्ट, 1882 इस दृष्टि से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है कि वह नागरिकों के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी किस नीति का अनुसरण करता है, और कानूनी प्रक्रियाएँ, जिनमें भाषा का उपयोग भी शामिल है, किस हद तक उन नीतियों को कार्यान्वित करा पाती हैं। तभी बुनियादी सवाल यह उठता है कि क्या इस कानून का हिन्दी अनुवाद सिर्फ़ किसी अस्पष्ट राष्ट्रीय भावना और हिन्दी-प्रेम के कारण हो रहा है या हम सचमुच यह चाहते हैं कि हिन्दी-भाषी जनता का काम आसान हो, उसे क़ानूनी जटिलता से, वकीलों के दाँव-पेच से राहत मिले।

भले ही यह सवाल भाषा के प्रसंग में उठाया गया हो पर इसके उठते ही हमारी कानूनी व्यवस्था को जनता की अदालत में मुल्ज़िम की तरह खड़ा होना पड़ेगा। तब भाषा के प्रश्न का महत्त्व घट जाएगा, महत्त्व इस बात का होगा कि अल्प साधन वाले नागरिकों को कानून और उसकी प्रक्रियाएँ यदि यातना दे रही हैं तो चाहे वे हिन्दी के माध्यम से आयें, या अंग्रेज़ी के, उन्हें किस तरह सरल और सहज बनाया जाए। और यह तय है कि कानूनी व्यवस्था को बदलने की प्रक्रिया में अंग्रेज़ी के बनावटी खोल को सड़े अण्डे की तरह फेंक दिया जायेगा और हिन्दी और दूसरी क्षेत्रीय भाषाएँ उसकी जगह ले लेंगी। उसी प्रसंग में हम उस पेचीदेपन से भी छुटकारा पाना चाहेंगे जिसमें कदम-कदम पर वकील की ज़रूरत पड़ती है, नीची-ऊँची अदालतों की घुमावदार सीढ़ियों से गुज़रना पड़ता है, नज़ीरों के अथाह, असीम दलदल में घिसटना पड़ता है।

समस्या के इस बुनियादी पक्ष से परिचित हो जाने के बाद हम 1882 के ट्रांसफ़र ऑफ प्रॉपर्टी ऐक्ट और उसके अत्यन्त जटिल हिन्दी अनुवाद को एक साथ कूड़ेदान में फेंक देंगे। उसकी जगह जो क़ानून बनेगा वह हिन्दी में बनेगा, पर उसका उद्देश्य हमारा हिन्दी-प्रेम न होगा; वह नागरिकों को राज्य की सामाजिक-आर्थिक नीतियों के अनुसार सस्ता, सरल और अविलम्ब न्याय देने का माध्यम होगा।

(2) हिन्दी तेरा रूप अनूप

रैब्ले की प्रसिद्ध व्यंग्य-कृति 'गर्गण्टुवा और पैंटाग्रुयल' में पैंटाग्रुयल को एक बार पेरिस के बाहर टहलते हुए एक नौजवान विद्वान मिला। उससे पूछा गया, "मित्र, इस समय कहाँ से आ रहे हो?" फ्रांसीसी भाषा में विद्वान का जवाब, उसी वज़न की हिन्दी में कुछ इस

प्रकार का था, "ये उस विशिष्टित, प्रतिष्ठायित, गरिमामण्डित संस्थान से आ रहा हूँ जिसे ल्यूटेशिया अभिधानित किया जाता है।"

तब पैंटाग्रुयल ने अपने एक साथी से पूछा, "यह क्या बक रहा है?"

साथी ने जवाब दिया, "कहता है कि पेरिस से आ रहा हूँ।"

इसके बाद नौजवान विद्वान ने जिस चमत्कारपूर्ण भाषा में प्रवचन दिया उसका अनुवाद किसी भी भाषा में सम्भव नहीं है। पर पैंटाग्रुयल को समझने में यह देर न लगी कि यह आदमी फ्रांसीसी की नक़ल करने की कोशिश में उस भाषा की हत्या कर रहा है। जब पैंटाग्रुयल ने उसकी गर्दन दबाकर उसे झटका दिया तो वह तुरन्त अपनी क्षेत्रीय बोली पर उतर आया। बहुत दिन बाद आक्टेबिन आगस्टस का यह सिद्धांत उसकी समझ में आया कि दुरूह शब्दों के प्रयोग से हमें उसी तरह बचना चाहिए जैसे जहाज़ों के सतर्क नाविक समुद्र में चट्टानों से बचते चलते हैं।

हिन्दी की सड़कों पर आजकल इसी तरह के विद्वानों का हुजूम है। उनकी मुठभेड़ पैंटाग्रुयल से नहीं होती, और न होने की ज़रूरत है। पर अंग्रेज़ी के शब्दों, मुहावरों, वाक्यांशों को यथावत् उतारकर जब वे हिन्दी को समृद्ध बनाने की कोशिश करते हैं तो इसमें शक नहीं कि वे हिन्दी का अंग-भंग भी करते चलते हैं। कुछ नमूने देखिए—"इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए, अर्थ के निश्चित अनुभव को फिर से प्राप्त करने के लिए, अस्तित्व के प्रति एक अतिरिक्त चिन्ता और चेतना विकसित की जाती है और इस प्रक्रिया में भाषा का अनुभव भी अधिकाधिक आन्तरिक होता जाता है।"

(—रमेशचन्द्र शाह, 'छायावाद की प्रासंगिकता' में)।

"सम्बन्धों की नियति जिन जटिलताओं को उत्पन्न करती है, उन्हें बृहत्तर परिवेश में अर्थहीन विरूप प्रयोगों तथा पूर्ण निस्संगता से विवर्तित किया जा सकना असम्भव नहीं।"

(—श्याम परमार, अकविता और कला-संदर्भ में।)

"स्व-अस्तित्व, पर-अस्तित्व, मृत्यु, परमितता, अजनबीयत, आत्म-प्रपंच, व्यग्रता, हताशा आदि तत्त्वों का निरूपण कृति को सार्वत्रिक बनाता है।"

(मधुसूदन बख्शी—'साहित्य-सृजन और कुछ विचारधाराएँ' में।)

"विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों ने हमारे आगे एक ऐसी प्रलम्बित अनिश्चितता का उद्घाटन किया है...।" (धनंजय वर्मा 'आस्वाद के धरातल' में।)

यह मन्तव्य नहीं कि ये उद्धरण निरर्थक हैं; ये नमूने सिर्फ़ इतना बताते हैं कि इस तरह के हिन्दी-गद्य समझने के लिए अंग्रेज़ी की जानकारी अनिवार्य है। केवल हिन्दी की जानकारी के सहारे इन्हें पढ़ा जाय तो ये सचमुच ही निरर्थक दीखने लगेंगे।

यह शर्त, कि हिन्दी-गद्य समझने के लिए अंग्रेज़ी की जानकारी हो, हमारे गद्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी बनती जा रही है। समस्या सिर्फ़ उधार ली हुई भाषा की नहीं है, समस्या यह कि इस प्रकार की भाषा क्या किसी भी प्रकार के स्वतंत्र चिन्तन का माध्यम बनने के लिए, उसके विश्लेषण के लिए समर्थ मानी जा सकती है?

वास्तव में आजकल हिन्दी का अधिकांश गद्य अंग्रेज़ीदाँ लोगों का है और अंग्रेज़ीदाँ लोगों द्वारा अंग्रेज़ीदाँ लोगों के लिए लिखा जा रहा है। प्रायः उसे समझने के लिए उसका पहले मन-ही-मन अंग्रेज़ी में अनुवाद करना पड़ता है। कुछ समय पहले ऐसे गद्य के अनूठे उदाहरण

'कल्पना' में 'अनमोल बोल' स्तम्भ के अंतर्गत छपते थे, 'सरिता' भी कभी-कभी उन्हें 'यह किस देश की भाषा है?' शीर्षक से छापा करती है।

1939 के आसपास कृष्ण शंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'कुण्डली चक्र' के उद्धरण देकर उनकी इस प्रवृत्ति पर एतराज़ किया था कि वह कहीं-कहीं अंग्रेज़ी मुहावरों का अनुवाद प्रयुक्त करते हैं। उस समय 'रतन के हृदय में कहीं तो एक ललित कोना होगा', या 'भुजबल पाँव के नीचे घास नहीं उगने देता था' जैसे प्रयोग एक नयी प्रवृत्ति की शुरुआत-भर थे, जो द्विवेदी युग में लिखे गये गद्य की परिष्कृत मानसिकता से मेल न खाते थे। कृष्ण शंकर शुक्ल ने तब कल्पना भी न की होगी कि अंग्रेज़ों के देश से बाहर जाते ही यह प्रवृत्ति इतनी व्यापक हो जायेगी कि अधिकाँश गद्य अंग्रेज़ी वाक्यांशों का अनुवाद-भर रह जायेगा।

ऐसा होना ही था। आरम्भ के हिन्दी गद्य लेखकों में बहुत-से अंग्रेज़ी नहीं जानते थे, पर वे संस्कृत और उर्दू-फ़ारसी के जानकार थे। जो अंग्रेज़ी जानते थे वे यह भी जानते थे कि उनका पाठक-वर्ग कौन-सा है। बहरहाल, अधिकाँश लेखकों की संस्कृतज्ञता के कारण हिन्दी में विशेषण बहुलता की बीमारी ज़रूर आयी पर अपनी बात को स्पष्ट और तर्कनिष्ठ ढंग से कहने की प्रवृत्ति भी विकसित हुई। उर्दू की जानकारी के सहारे तत्कालीन लेखकों ने हिन्दी के चुस्त और परिनिष्ठित रूप को निखारा।

धीरे-धीरे अंग्रेज़ी न जानने वाले हिन्दी लेखक अल्पसंख्यकों की कोटि में आ गये। अब तो वे सिर्फ़ गिने-चुने रह गये हैं और ऐसे लेखकों की संख्या बढ़ रही है जो अंग्रेज़ी ज़्यादा और हिन्दी कम जानते हैं। दोनों भाषाओं पर संतुलित अधिकार रखने वाले लेखक बिरले ही हैं। तभी अंग्रेज़ी के प्रचुर ज्ञान और हिन्दी के कामचलाऊ ज्ञान वाले लेखकों की एक नयी भाषा विकसित हो रही है जिसमें 'साहसिक' का अर्थ पारंपरिक रूप से समुद्री डाकू या लुटेरा नहीं, बल्कि 'साहसपूर्ण' है,'कारुणिक' का अर्थ 'करुणामय' नहीं बल्कि 'कारुण्य उत्पादक' है; 'निर्भर है' के बजाय 'निर्भर करता है' लिखा जाने लगा है और 'शाप', 'नरक' और 'विरूप' जैसे शब्दों को 'श्राप', 'नर्क' और 'विद्रूप' बना लिया गया है। अजब नहीं कि कुछ वर्षों बाद इस भाषा में 'कृपया' को 'कृप्या' लिखा जाने लगे। ,

इसी के साथ अंग्रेज़ी का वाक्य-विन्यास, उसके शब्द और मुहावरे, उसके विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रयोग सभी हिन्दी गद्य में उतरने लगे हैं जो हिन्दी-पाठक को आतंकित करते हैं और केवल हिन्दी जानने वाले लेखक को निरुत्साह बनाकर छोड़ देते हैं। केवल हिन्दी जानने वाला लेखक अपने ही साहित्य-क्षेत्र में बेगाना हो गया है। सनेही, मैथिलीशरण गुप्त, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि के दिन गये—इस माहौल में रेणु और शैलेश मटियानी अपवाद की तरह दीख पड़ते हैं। अंग्रेज़ी-परस्त हिन्दी का यह नकचढ़ा (हाईब्राऊ) रवैया उन लेखकों को बहिष्कृत करता जा रहा है जिनसे सहज गद्य की सहज आशा की जा सकती थी।

नतीजा यह है कि केवल हिन्दी जानने वाला लेखक भी अब जैसे ही लिखना शुरू करता है, वह अनजाने ही इस प्रतिस्पर्धा का शिकार हो जाता है कि हम क्या किसी से कम हैं। तभी वह 'संदर्भ', 'आयाम', 'परिप्रेक्ष्य', 'नकारात्मक साक्षात्कार', 'सम्पृक्ति के सूत्र' जैसे सिक्कों को खुलकर उछालता चलता है ताकि उसकी शब्द-सम्पन्नता पर किसी को शुबहा न रहे; और इस प्रवृत्ति से उलझकर वह उलझाने वाले गद्य की परम्परा को मज़बूत करता है।

तभी वह 'जलते प्रश्नों' की बात करता है, 'चाय के प्याले में तूफान' उठता है, अपने पात्रों को 'ढीले सिरे' से लटकाये रहता है।

प्रत्येक देश और समाज के मुहावरे उसकी सभ्यता, संस्कृति और ऐतिहासिक-भौगोलिक स्थिति की उपज हैं। पर अंग्रेज़ी की नकल में हमें इसका भी ध्यान नहीं रहता। तभी हम 'कोल्ड रिसेप्शन' 'वार्महार्टेड' का भी शाब्दिक अनुवाद रखने की कोशिश करते हैं। भारत जैसे गर्म देश में किसी से मिलकर ठण्डक का अनुभव करना स्नेह और सौहार्द का लक्षण हो सकता है (तुमहिं देखि सीतल भइ छाती)। पर इंग्लैंड जैसे देश में उपेक्षापूर्ण और स्नेहहीन आचरण के लिए 'कोल्ड बिहेवियर' का प्रयोग होगा। वहाँ सौहार्दपूर्ण व्यक्ति के लिए 'वार्महार्टेड' का प्रयोग उतना ही स्वाभाविक है जितना भारत में नाराज़गी के लिए 'गर्म होना' का प्रयोग।

इस तरह के अनेक उदाहरणों से देखा जा सकता है कि अंग्रेज़ी शब्द-समूह का हूबहू हिन्दी अनुवाद निरर्थक ही नहीं, विपरीत अर्थ सृजित करने वाला भी हो सकता है। वास्तव में भाषा का विकास ऐसे कृत्रिम उपायों से नहीं, संस्कृति और चिन्तन के विकास के अनुरूप ही होता है। तभी अभिव्यक्ति की नयी माँगों के समाधान के लिए भाषा अपने लचीलेपन की सारी सम्भावनाओं को निचोड़ती है और नयी अभिव्यंजनाओं की सृष्टि करती है। संतोष का यही विषय है कि भाषा का विकास इस सहज आधार पर भी कहीं-कहीं एक दूसरे समानान्तर स्तर पर होता जा रहा है।

तो बक़ौल, अंग्रेज़ी कहावत के शाब्दिक अनुवाद के, काले बादलों में यही एक रुपहली लकीर है। मनीषियों का एक समुदाय गद्य की उसी स्थिति के बारे में पूर्णतया सजग है। इस प्रसंग में रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'गद्य की सत्ता' नामक एक लेख कुछ समय पहले आलोचना (27) में छपा था। उन्होंने बहस की शुरुआत इसी स्थिति से की थी कि 'हिन्दी में अच्छा गद्य, या सिर्फ़ कहें, गद्य-लेखक बिरले हैं।' इसके अन्य कारणों के साथ उन्होंने भी अनुभव किया है कि—"अंग्रेज़ी शब्द-समूह, वाक्य-विन्यास आदि के क्षेत्रों में तरह-तरह से घुसपैठ कर रही है।" उनका कहना है कि—"मैकाले ने अभी तक काले साहब के शरीर की रचना की थी, उनका दिमाग तो असल में अब बन रहा है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का स्वायत्त विकास निश्चय ही कठिनतर होता जा रहा है।"

इस स्थिति से बचत के दो रास्ते हैं। एक यह कि प्रत्येक हिन्दी-लेखक अपने लिए वह अनुशासन स्वीकार करके चले कि उसका कथ्य ऐसे पाठक के लिए है जो अंग्रेज़ी नहीं जानता। वह यह ध्यान रखे कि वह अपनी भाषा द्वारा अपने पाठक को अंग्रेज़ी की जटिल शब्द-शृंखला का उपहार नहीं दे रहा है, बल्कि उसे उस भाषा के माध्यम से अपनी संवेदना और चिन्तन का भागी बना रहा है।

दूसरे रास्ते का सम्बन्ध भाषा के बाह्य स्वरूप से नहीं, बल्कि माध्यम के रूप में उसकी मूलभूत उपयोगिता से है। जब तक हम उधार या चोरी का माल हिन्दी में भरते रहेंगे तब तक उस स्थिति की यह अनिवार्यता रहेगी कि हम उधार या चोरी को छिपाने के लिए एक उधार ली हुई, जानबूझकर जटिल बनायी गयी भाषा का प्रयोग करें, जिसका उद्देश्य विचार या संवेदना का उद्घाटन नहीं, बल्कि संगोपन होगा। पर हमारी अपनी संवेदना और अपना चिन्तन सम्प्रेषण के लिए उधार की भाषा को अपने-आप छोड़ता चलेगा और बार-बार अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक वास्तविक, समर्थ माध्यम की माँग करेगा।

कहानी

छुट्टियाँ

गर्मी की लम्बी छुट्टियाँ हैं। इस साल वे और भी लम्बी हो गयी हैं। पन्द्रह मई के बजाय यूनिवर्सिटी चार अप्रैल को ही बन्द हो गयी है। इसका कारण दिग्विजय सिंह और उनके साथियों को बताया जाता है। वे जो कर रहे हैं उसे राजनीति की बोली में छात्र संघर्ष और हुकूमत की बोली में गुण्डागर्दी कहा जा रहा है।

चारों ओर अमन है। मेरे साथी शिक्षक कुंजियाँ लिख रहे हैं। जल्दी में निबटाये गये इम्तहान की कापियाँ जाँच रहे हैं। वे अपने लड़कों को तैरना, लड़कियों को अंग्रेज़ी बोलना और बीवियों को अमरीकी गृह-विज्ञान सिखा रहे हैं। तीसरे-चौथे दर्जे के कर्मचारियों को छुट्टी में इस साल छः हफ़्ते ज़्यादा मिल गये हैं और वे अब साथी-सम्बंधियों के यहाँ निरन्तर चलने वाली शादी की दावतों में बिला नागा जाने के लिए स्वतंत्र हैं। जो छात्रगण छात्र-संघर्ष में सीधे नहीं पड़े हैं, वे पिछले सालों की तरह पुराने कामों में उलझे हुए हैं। बार-बार उनका ज़िक्र गली और चौराहे की दरम्यानी मटरगश्ती, दफ़्तरों की अल्पकालीन नौकरी, आबकारी इंस्पेक्टरी से आई.ए.एस. तक की तैयारी, रेलों की डकैती आदि के सिलसिले में आता रहता है।

अचानक छुट्टियों के झटके से कई चीज़ें अभी मूर्छित पड़ी हैं। मसलन, पहाड़ों की ठण्डक में सेमीनार, वर्कशाप, कैम्प आदि के नामों से चलने वाले ग्रीष्मकालीन चोंचले अभी शुरू नहीं हुए हैं। इसलिए भरे-पूरे लोगों के बीच मैं सब तरह से खाली हूँ। कुंजियाँ लिखना मैं बहुत पहले छोड़ चुका हूँ क्योंकि वह मेरी सामाजिक नृशास्त्र का वरिष्ठ विद्वान होने की शोहरत से मेल नहीं खाता। इस साल निचले दर्जे की कापियाँ जाँचने से भी इन्कार कर चुका हूँ। गढ़वाल के एक आदिवासी कबीले पर मेरा मोनाग्राफ़ आना है पर उसे शुरू नहीं कर सका हूँ क्योंकि—सही वजह यह है—कुछ भी शुरू करने के पहले अपने भीतर बहुत कुछ करना पड़ता है। ऊपरी वजह यह है कि वहाँ के दूरवर्ती गाँवों से अभी तक मेरे शोध सहायक के डिस्पैच नहीं आये हैं। आस्ट्रेलिया के एक सेमिनार में मैं जाते-जाते रह गया हूँ क्योंकि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भूल से या भुलावे से यात्रा वाली ग्रांट किसी दूसरे को दे दी और बाद में जिन शिक्षामंत्री ने मुझे अपने कोष से ग्रांट देने का वायदा किया था, वे अपना वचन निभाने के पहले ही पशु-पालन मंत्री बना दिये गये! अब सिर्फ़ मैं हूँ, गर्मी की उभरती दोपहरी है और मेरे चारों ओर दीवारों में गँजी किताबों का करीने से सजा हुआ बेजान दृश्य है!

चूँ चूँ खट् चूँ खट्!

यह मेरे फाटक की चेतावनी है। लोहे का यह नन्हा-सा फाटक मेरे फ्लैट के नन्हे

से बगीचे की रखवाली के लिए लगा है। गुड़हल की घनी बाड़ से सटा एक गलियारा है। उस पर कोई भी सड़क से दबे पाँव आ सकता है। पर फाटक खोलते ही उसका सामना 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' से होगा। उससे मैं जान जाऊँगा कि मेरे बाग पर और कमरे में कैद रहने की मेरी आज़ादी पर कोई हमला करने आ रहा है!

कौन आया है? आज के चिन्तन कक्ष और भूतपूर्व अध्ययन कक्ष की कुर्सी पर टेढ़ा होकर मेज़ से किताबों का मलबा उलटे हाथ से खिसकाकर मैं खिड़की के बाहर झाँकता हूँ। पर मैं जानता हूँ कि फाटक का कोण खिड़की की परिधि में नहीं आता। घड़ी में ग्यारह बज रहे हैं। तो ये मिस्टर गून होंगे! मैं कुर्सी पर ढीला होकर एक ऐसी किताब के पन्ने पलटने लगता हूँ जो सिर्फ़ पन्ने पलटने के लिए छापी गयी है।

तो? चिन्ता की बात नहीं। मिस्टर गून मेरे साथ दगा नहीं करेंगे। वे मेरे बाग की हरियाली को बाहरी हमलावरों के सामने खुला नहीं छोड़ेंगे। आवारा गायें, बेपनाह कुत्ते, शरारती छोकरे—सभी खुली सड़कों पर झुण्ड के झुण्ड घूम रहे हैं। मिस्टर गून ज़माने की नज़ाकत को पहचानते हैं। उनके होते हुए मुझे दोनों हाथों से अपना दस्तार थामने की ज़रूरत नहीं। वे बरामदे में जालीदार दरवाज़े से नीचे चिट्ठियाँ सरकाकर वापस जाते वक्त फाटक ज़रूर बन्द कर देंगे।

सचमुच ही 'चूँ खट् चूँ चूँ खट्ट' के साथ फाटक बन्द हो गया है। मिस्टर गून ने दगा नहीं की है। फिर भी सावधान रहने में कोई नुकसान नहीं। चिरंतन सावधानी ही आज़ादी की कीमत है। इसलिए किताब को फ़र्श पर गिरने के लिए छोड़कर मैं धीरे से कुर्सी से उठता हूँ। यह अन्दाज़ आठ महीने की गर्भिणी का है, इस ख़्याल के साथ अपनी शुरू जवानी की चुस्ती का मन-ही-मन मखौल बनाता हूँ और एक काल्पनिक आईने में मख़ौल की मुद्रा वाला अपना चेहरा देखता हूँ। चेहरा बहुत दिलचस्प नहीं दीखता क्योंकि मेरी दिलचस्पी अभी बाहर के फाटक में है। धीरे-धीरे बरामदे में पहुँचकर मैं जाली से बाहर झाँकता हूँ। धधकती धूप के बावजूद दुनिया में सब ठीक है और भगवान् अपने स्वर्ग में विराजमान हैं और बगीचे का फाटक खुला नहीं पड़ा है! बरामदे में गौरैयों के डैनों जैसी कुछ चिट्ठियाँ छितरी पड़ी हैं, चील के भी दो-चार डैने हैं। उन्हें भी यानी पत्रिकाओं को समेटकर मैं मकान के अन्दर वाले बरामदे में पहुँचता हूँ। वहाँ किफायत के साथ चलते पंखे के नीचे बेंत की आरामकुर्सी पर लेडी मैकबेथ बैठी हुई हैं। मैं उन्हें एक प्याला कॉफ़ी बनाने के लिए कहता हूँ।

"ऐसी गर्मी में? कॉफ़ी? लस्सी क्यों नहीं पीते?" उनके लहजे में पकड़ में न आनेवाली नापसन्दगी की खनक है। सैक्स और हत्याओं की सत्यकथाएँ छापने वाली एक प्रसिद्ध पत्रिका के पन्ने पलटना उन्होंने बन्द कर दिया है। चश्मे के आर-पार वे मुझे घूरकर देखती हैं।

मैं अपनी निगाह की स्टेनगन उनकी खुली गर्दन की ओर तानता हूँ। कहता हूँ, "न हो तो कोई बात नहीं, मैं कॉफ़ी हाउस चला जाऊँगा।"

उनकी निगाह में अनिश्चय और असुरक्षा है। मैं जानता हूँ कि उन्हें परास्त करने के लिए बार-बार इस शस्त्र का प्रयोग अच्छा नहीं, पर उनके ख़िलाफ़ कारगर यही होता है। उनकी गर्दन को और उसके नीचे दो-तीन इंच तक मेरा घूरना-भर काफ़ी है। वे रसोईघर की तरफ़ मुड़ जाती हैं, बुदबुदाती हैं, "अभी बनाती हूँ।"

बड़ी गम्भीरता से, जिसके लिए लेडी मैकबेथ के आगे अभिनय नहीं करना पड़ता, मैं अन्दर कमरे की ओर आता हूँ और अचानक 'चूँ खट् चूँ चूँ खट्ट' सुनकर बाहर बरामदे

में चला जाता हूँ। बाहर झाँककर देखता हूँ, एक आदमी फाटक खोलने के बाद उसे खुला छोड़कर वापस जा रहा है। मुझे देखते ही वह सावधानी से फाटक बन्द करता है, जैसे मैं न दीखता तब भी वह ऐसा ही करता, और पूछता है, "अंबवानी साहब यहीं रहते हैं?"

सवाल में बेईमानी है और जवाब में मैं अपनी निगाह की स्टेनगन का ही इस्तेमाल करता हूँ। फिर अपने नाम की तख़्ती पर अपनी उँगली कड़ाई से चुभोता हूँ। फाटक के बाहर का अजनबी कुछ सहमा, कुछ झेंपा-सा मुड़कर चला जाता है। तब अपने नाम की तख़्ती से चुनचुनाहट की कुछ तरंगें मेरी उँगली में प्रवेश करती हैं। उँगली हटाकर मैं अपना नाम गौर से पढ़ता हूँ। अजीब नाम है! शायद उसके अजनबीपन से ही मेरी उँगली चुनचुना रही है। मुझे ताज्जुब होता है कि इस नाम के अजनबीपन का आज तक मुझे एहसास क्यों नहीं हुआ? मैं तख़्ती के लेख से चीख़कर पूछना चाहता हूँ, "तू कौन है बे?" उसका एक-एक अक्षर मुझे बिल्कुल नया जान पड़ता है। कुल मिलाकर लगता है जैसे यह जंगलों से ढके किसी दुर्गम अफ़्रीक़ी पहाड़ का नाम है जिसका मैं सही उच्चारण नहीं कर सकता, जिसे मैं कभी देखूँगा नहीं! मुझे जल्दी कमरे में वापस आना चाहिए।

मिस्टर गून की चिट्ठियाँ बाद में भी पढ़ी जा सकती हैं। उन्हें मेज़ पर फेंककर मैं किताब-जड़ी दीवार के पास दीवान पर लेट जाता हूँ। लेडी मैकबेथ कमरे में आकर कहती हैं, "आपकी कॉफ़ी!" उनकी आवाज़ में उस महिला की अवज्ञापूर्ण निर्भीकता है जिसे अब पुरुषों से कुछ लेना-देना नहीं। उनकी गर्दन और उसके नीचे का हिस्सा अब बाक़ायदा साड़ी से ढका है।

तेज़ रोशनी से आँखों की सीधी टक्कर बचाने के लिए निगाह पर तरह-तरह के शेड लगाये जाते हैं। मिस्टर गून और लेडी मैकबेथ जैसे नाम उसी तरह के शेड हैं। इनका कुटीर-उद्योग मेरे इसी कमरे में, इसी दीवान पर पनपता है।

ग्यारह बजे दिन को बगीचे का फाटक खोलने वाले डाकिये का सही नाम क्या है, मैं नहीं जानता। यह भी नहीं जानता कि इस निर्विकार चेहरे वाले, अहमक जैसे आदमी के लिए मैंने मिस्टर गून जैसा नाम क्यों ईजाद किया। जब तक एक दिन मैंने उसे बुरी तरह से बुरा-भला नहीं कहा वह मेरे लिए एक नामहीन यांत्रिक जन्तु-भर था। पर उस दिन उसने मेरे बगीचे से तीन खूबसूरत गुलाब तोड़े और उन्हें लेकर बाहर जाने लगा। मैंने उसे बरामदे से ललकारा, उसने मुड़कर मुझे देखा; पर उसके चेहरे पर कोई असर नहीं। मैंने अपनी निगाह का पूरा तीखापन उस पर फेंका, पर उसकी निर्विकारता में कोई फ़र्क़ नहीं आया। बाहर जाकर वह सावधानी से फाटक बन्द करने लगा। तब मैंने चीख़ना शुरू किया और उन गालियों का भी इस्तेमाल किया, जिन्हें उसके वर्ग में गालियों के सिवाय और कुछ न समझा जाता। पर वह ठिठका हुआ उन्हें कुछ इस तरह सुनता रहा जैसे मैं टुण्ड्रा या टींगा में चलने वाली कोई ज़ुबान बोल रहा होऊँ। मैं चीख़ता रहा और वह फाटक बन्द करके धीरे-धीरे पड़ोस के फ्लैट की ओर चला गया। इसके बाद मुझे अपने ऊपर हँसना चाहिए था और मैं हँसा। अचानक उसके लिए मेरे मन में एक नाम उभरा—मिस्टर गून! जिसमें यह सिफत हो कि सब कुछ के बावजूद बाहर का फाटक बन्द करना न भूले, उसे मिस्टर गून कहते हैं। वे दूसरे दिन भी रोज़ की तरह आये थे और बरामदे में चिट्ठियाँ फेंककर, फाटक बन्द करके, चुपचाप चले गये थे। तीन गुलाबों की शहादत ने अब मेरे और उनके बीच एक व्यक्तिवाचक रिश्ता कायम कर दिया था जिसमें मैं उनके लिए मैं नहीं रह गया था और वे मेरे लिए मिस्टर गून हो गये थे!

कॉफ़ी की चुस्की लेकर मैं टेलीफ़ोन पर एक नम्बर मिलाता हूँ। पूछता हूँ, "शर्मिला?"

"हूँ!"

"तुम्हीं हो न?"

"हूँ!"

"क्या हुआ शर्मिला?"

"वे लोग फिर आये थे।"

"मेरी सलाह मानो, उनके नम्बर बढ़ा दो।"

"यह तुम्हारी सलाह है?"

"बिल्कुल मेरी अपनी सलाह! देखो, बेवकूफ़ी न करो। बात समझो। तुम इम्तहान की कापियों पर जो नम्बर दे रही हो, उन्हें खुद इतना क़ीमती मत समझो। इम्तहान में मिलने वाले नम्बर एक अजीब चीज़ हैं। दुनिया की किसी भी कमोडिटी से इनकी तुलना नहीं की जा सकती। यह वह चीज़ हैं जिसे देने से देने वाले का कुछ नहीं जाता पर पाने वाले को बहुत कुछ मिल जाता है। इम्तहान जैसे बनावटी खेल में नम्बरों वाले कायदे-कानून को इतनी गम्भीरता से न लो, शर्मिला। बच्चों के खिलौनों को सचमुच की रेल या हवाई जहाज़ मानकर...।"

"शिक्षा-पद्धति पर लेक्चर देने के लिए फ़ोन किया था?"

"नहीं। फ़ोन तो तुम्हारी आवाज़ सुनने के लिए किया था। पर बहुत देर से मैंने अपनी आवाज़ भी नहीं सुनी है। इसलिए उसे सुन रहा हूँ, तुम भी सुनो, तुम्हारे काम की चीज़ है। तुम इम्तहान देने वाले लड़कों की हालत समझने की कोशिश करो। इम्तहान में पास होना उनकी मजबूरी है। बहुत-से ऐसे हैं जिनके लिए फेल होकर रह लेना मुमकिन ही नहीं है। वे पास होने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। यह उनके यथार्थ की मजबूरी है। पर उन्हें फेल करने की तुम्हारी कोई मजबूरी नहीं और वे यह जानते हैं।"

"तुम मुझे क्या समझा रहे हो? चूँकि ऊपर वाले परीक्षा-पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं कर रहे हैं, इसलिए फ़िलहाल सही-गलत की बात भुलाकर सबको सौ फीसदी नम्बर दे दूँ!"

"कुछ-कुछ ऐसा ही है, शर्मिला। अगर वे छुरा चमकाते हुए तुमसे सौ फ़ीसदी नम्बरों की माँग करें तो तुम्हें देने ही होंगे। परीक्षा और शिक्षा की व्यावहारिक पद्धति वही होगी जो वे दियासलाई और छुरे के सहारे तय करेंगे। इस धोखे में न रहो कि ऊपर से कभी कोई ऐसा परिवर्तन कर देगा, जिसमें तुम अपने बन्द कमरे में चैन के साथ छात्रों के भाग्य का निपटारा करती रहो। अभी ज़रा गर्मी और बढ़ने दो। तब ऊपर वाले हिल स्टेशनों में जाकर शिक्षा-पद्धति पर अपनी सालाना बकवास करेंगे और प्रस्तावों की शक्ल में कुछ परिवर्तन पेश करेंगे। पर परिवर्तन वही अमल में आयेगा जिसे छुरे और दियासलाई वाले मंजूर करेंगे। नहीं, यह मज़ाक नहीं है। तुम्हारी शिक्षा-पद्धति की चोट जिन पर सीधे पहुँचती है, वे न ऊपर वाले हैं न हम हैं। चोट खाने वाले तो ये लड़के हैं जिन्हें गिनी-पिग बनाया जा रहा है। उनके लिए इतना तो कर ही सकती हो...।"

"सुनो, यह सब इतना आसान नहीं। वे मुझे धमकाकर गये हैं। मुझे तुमसे मिलना है। बहुत ज़रूरी बात है। आ सकती हूँ?"

"नहीं शर्मिला। मिसेज़ जी. लेडी मैकबेथ को निगरानी के लिए बैठा गयी हैं।"

"तब? तुम घर से नहीं निकल सकते? बाहर कहीं?"

"किसी रेस्तराँ में? नहीं शर्मिला, इस छोटे से शहर में तुम्हें इधर-उधर भटकाते हुए, तुम्हें इतना बदनाम करके, मैं थक गया हूँ। अब इस तरह मिलना गुनाह बेलज़्ज़त है। ग़लत न समझो। मैं तुमसे मिलना चाहता हूँ। हो सके तो अभी, इसी वक़्त! पर अब मैं तुम्हें यहाँ-वहाँ नहीं घसीटूँगा। मैं अब तभी मिलना चाहूँगा, जब मैं तुम्हारे साथ कम-से-कम आठ घण्टे बिना किसी खटके के बिता सकूँ। जहाँ टेलीफ़ोन, कॉलबेल, लेडी मैकबेथ या मिसेज़ जी. का डर न हो। शर्मिला, मैं इन्तज़ार कर लूँगा।"

"पर मेरे लिए इन्तज़ार करना...।"

"तब एक ही रास्ता है, तुम आख़िरी तौर पर अपने भविष्य का चुनाव कर लो।"

मैं जानता हूँ कि यह निहायत बेवकूफ़ी की बात है, पर नाटकीयता का एक निरर्थक मोह मुझसे कभी-कभी ऐसी ही बातें कहलाता है।

"मैं कर सकती हूँ, पर यह सब कहने से कोई फ़ायदा? तुमने अपने लिए चुनाव कर लिया है क्या?"

"तुम ठीक कहती हो, शर्मिला। यह सब कहने से कोई फ़ायदा नहीं। मेरी ग़लती थी। समझ लो, मैंने वह बात नहीं कही।"

तभी लेडी मैकबेथ कमरे में हूबहू रक्तरंजित हाथों वाली लेडी मैकबेथ की तरह प्रवेश करती हैं। मैं टेलीफ़ोन रख देता हूँ। मुझे गौर से देखकर कॉफ़ी का खाली प्याला उठाती हैं। बाहर फाटक पर 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' होता है।

"बाहर देखो कौन है। फाटक खुला छोड़कर चला जाएगा।"

"जमादार सफ़ाई के लिए आया होगा। वह हमेशा फाटक बन्द करके जाता है।"

बाहर जाते-जाते वे फिर एक बार टेलीफ़ोन को देखती हैं।

टेलीफ़ोन की घण्टी सिर्फ़ शर्मिला के कमरे में ही नहीं बजती, इससे देश-देशान्तर की सैकड़ों आवाज़ें खींची जा सकती हैं जो ज़िन्दगी को अर्थ देती हैं—या थीं। वैसे ही कमरे में छत तक पहुँचने वाले किताबों के रैक हैं। इनके सहारे देश और काल को उलट-पुलटकर मथा जा सकता है। मनीषा की उच्चतम चोटियों से टकराया जा सकता है। पर ऐसा क्या है जिससे ये सब किसी गोदाम में पड़े हुए पुराने फ़र्नीचर की हैसियत ले चुके हैं। मेरी चिन्ता की सबसे साफ़ वजह बाहर फाटक पर होने वाली 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' है, बाकी सब काफ़ी दूर, काफ़ी धुँधला है।

बाहर जमादार की झाड़ू की खुरदरी आवाज़ दीवार के पक्के ऐप्रन पर फैल रही है। इसके बाद वह गुसलख़ाने साफ़ करेगा। सफ़ेद फ़िनाइल की झीनी बू उधर से यहाँ तक उड़ती हुई आयेगी, फिर वह बाहर के नल पर अपने हाथ-पाँव धोयेगा—कुल मिलाकर बारह मिनट बाद फाटक पर 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' होना चाहिए!

मिस्टर गून ही की तरह लेडी मैकबेथ का नाम लेडी मैकबेथ नहीं है, न शर्मिला का नाम शर्मिला है। न मिसेज़ जी. का नाम मिसेज़ जी. है।

लेडी मैकबेथ नौकरानी हैं—दुबली-पतली और लम्बी, इन तीनों विशेषणों के बावजूद उनकी सुडौल गर्दन और उसके नीचे उन्हें बिना उपेक्षा के देखा जा सकता है। वे यह जानती भी हैं। उम्र लगभग छियालीस। मासिक स्राव बन्द हो चुका है क्योंकि मिसेज़ जी. मुझे बता चुकी हैं कि बेचारी अनुसूयाबाई को अब सन्तान की उम्मीद नहीं रही। उनकी एकमात्र सन्तान

के साथ कोई भयंकर दुर्घटना हो चुकी है। सहानुभूति के इस आधार के बावजूद मैं उन्हें अनुसूयाबाई मानकर नहीं चल पाता। इस घर में आने के दूसरे दिन से ही वे लेडी मैकबेथ बन चुकी हैं—तभी से जब मिसेज़ जी. ने टेलीफ़ोन पर मेरी बातचीत के टुकड़ों की ख़बर पाकर मुझसे बड़ी शिष्टता के साथ पूछा था, "इस बार यह शर्मिला कौन है?"

इस सवाल ने हमेशा के लिए अनुसूयाबाई को लेडी मैकबेथ बना दिया। भले ही लेडी मैकबेथ के गुणों में टेलीफ़ोन पर दूसरों की बातचीत सुनना और चुग़लखोरी करना शुमार न हो! मैंने मिसेज़ जी. को जवाब दिया था, "एक लड़की है। तुमने शर्मिला टैगोर नामक अभिनेत्री का नाम सुना होगा; उसकी आँखें बहुत आकर्षक हैं। गालों पर पड़ने वाले गड्ढे भी। तुम कभी भी शर्मिला टैगोर की कोई फ़िल्म देखकर इसकी तस्दीक़ कर सकती हो। जिस लड़की की बात हो रही है उसकी आँखें—और कुछ हद तक उसके गाल भी, शर्मिला टैगोर जैसे हैं। इसीलिए मैं उसे शर्मिला कहता हूँ। मैं उसका असली नाम जानता हूँ पर तुम्हें अभी नहीं बताऊँगा, क्योंकि उससे यह साबित होने लगेगा कि इस घर का मालिक अब न मैं हूँ, न तुम हो और लेडी मैकबेथ ही यहाँ की असली मालिक है!"

अब रह गयी मिसेज़ जी. जिसे अख़बारों ने तो मिसेज़ गांधी का संक्षिप्त नाम बनाकर प्रचारित किया है। मेरे लिए मिसेज़ जी. की मुराद श्रीमती गीता देवी से है। गीता मेरी पत्नी है।

विवाहित जीवन की शुरुआत में मैं उन्हें महारानी विक्टोरिया कहता था। उनमें विक्टोरिया जैसा तमतमाता गुरूर तो था ही, लोगों को अपने आसपास उलझाए रखने की उनमें चतुराई भी थी, जिनके लिए महारानी के जीवन लेखकों ने लिखा है कि वे लोगों को लुभाकर अपने क़िले के पास तक तो खींच लाती थीं, पर क़िले में किसी को घुसने नहीं देती थीं। अपनी विद्या और इस तरह की विशेषता के कारण श्रीमती गीतादेवी लड़कियों के स्थानीय डिग्री कॉलेज में मैनेजर के हाथों अर्थशास्त्र की लेक्चरर हो गई हैं और जल्द प्रिंसिपल बनने वाली हैं। महारानी विक्टोरिया ही की तरह वे हम लोगों को अपना 'फ्लंकी' और 'लैकी' मानने की आदी रही हैं। इधर उनके चरित्र में कुछ नए गुणों का उदय हुआ है जिससे मुझे उनका नाम बदलकर उनको मिसेज़ जी. के असली नाम से सम्बोधित करना पड़ता है।

यह कहना मेरी भूतपूर्व क्वीन विक्टोरिया और अपने देश की भूतपूर्व प्रधानमंत्री दोनों ही के लिए सम्मानजनक होगा कि 'मिसेज़ जी.' अब एक व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है। यह नाम इतिहास बन चुका है और आज की तारीख से साहित्य बनने जा रहा है क्योंकि अब मैंने उसे व्यक्तिवाचक संज्ञा के दरजे से तरक्की देकर सार्वभौमिक स्तर पर उपमान की हैसियत बख़्शी है।

श्रीमती गीता देवी मिसेज़ जी. ही की तरह बेख़ौफ हैं। वे कहा करती हैं कि आज तक मेरे ख़ानदान में किसी ने डरना जाना ही नहीं। 'ख़ानदान' से उनका अभिप्राय पति के नहीं, बल्कि पिता के ख़ानदान से है। मिसेज़ जी. ही की तरह आज तक उन्होंने कोई भी अनुचित काम नहीं किया। उन्होंने जो कुछ किया है, दूसरों की—ख़ास तौर से मेरी भलाई के लिए किया है। उन्हें भी ज़माने से शिकायत है कि लोग उन पर झूठे लांछन लगाते हैं। अगर वे अपने सद्गुणों के कारण इतनी जनप्रिय हैं और इस कदर पसन्द की जाती हैं तो उनका क्या कुसूर!

जिस दिन उन्होंने मुझे सूचित किया था कि वे कभी कोई अनुचित काम नहीं करतीं

उसी दिन महारानी विक्टोरिया की तस्वीर पर मिसेज़ जी. की तस्वीर का छापा लग गया था। पर उसमें इतनी सफ़ाई न थी। बाद में उन्होंने एक दिन किसी मामूली टुन्न-फुन्न के दौरान—शायद झगड़ा नाश्ते के बारे में था या बिजली के बिल को लेकर—अचानक मेरे सोशल एन्थ्रॉपॉलॉजी के काम पर हमला बोल दिया। मेरे अध्ययन को बुर्जुवा और प्रतिक्रियावादी ठहराया। मिर्ज़ापुर के एक क़बीले पर लिखे गये मेरे निबन्ध को अश्लील घोषित किया और पवित्र क्रोध के साथ उसे फाड़ डाला। नृशास्त्रियों की गन्दगी की भर्त्सना करते हुए उन्होंने मेरे दिमाग़ की बीमारी को धिक्कारा। उस दिन से वे हमेशा के लिए मिसेज़ जी. हो गई। जब कोई चीज़ वर्णनातीत हो जाय तभी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा वग़ैरह काम आते हैं।

बारह मिनट बीत गये होंगे। पर अभी तक फाटक की 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' सुनायी नहीं दी है। तब जमादार क्या फाटक बन्द किए बिना ही चला गया? लेडी मैकबेथ अब अपने कमरे में, जिसे वे मुझे चिढ़ाने के लिए कोठरी कहती हैं, चली गयी होंगी, या रसोईघर में होंगी। वे मेरी आवाज़ नहीं सुनेंगी। उन्हें पुकारने के मुक़ाबले मेरा बरामदे तक जाना ज़्यादा वाज़िब है, हालाँकि अब गर्मी बढ़ रही है और कूलर छोड़ना उतना आसान नहीं है!

बरामदे तक जाते-जाते मैं आज की डाक पर निगाह डालता हूँ जो मेज़ पर उलटी-पलटी किताबों के बीच छितरी पड़ी है और अपने से किसी को भी जुड़ा हुआ नहीं पाता। अब सरकार और वाइस-चान्सलर एक तरफ़ हैं और लड़के दूसरी तरफ़ और इस कशमकश में मैं एक प्रोफ़ेसर कहीं नहीं, सीधे दो फ़रीकों की लड़ाई है जिसमें सबसे ज़्यादा नज़दीकी लोग, हम शिक्षक, कहीं नहीं। होना भी चाहें तो इस माहौल में यह मैदान हमारा नहीं हो सकता क्योंकि लड़ाई के मुद्दे और फ़रीकों की शख़्सियत पहले से ही तय है। शिक्षक का काम लड़ाई पर अफ़सोस ज़ाहिर करना, वक़्त से पहले मिली हुई छुट्टी में अपनी पीठ के बल लेटकर छत को ताकना और वक़्त से तनख़्वाह का चेक हासिल करना है। मैं वही कर रहा हूँ और अपने लड़कों से जितनी दूर हूँ, उतनी ही दूर अपने को किताबों से पाकर मायूसी का नहीं, एक नैतिक विजय का अनुभव करता हूँ।

डाक, पत्रिकाओं और किताबों पर छिछली, तटस्थ निगाह डालता हुआ मैं बरामदे में आ गया हूँ। मेरे आगे एक खुला हुआ फाटक है जो बाग़ की ओर चौपायों को बुला रहा है। मुझे नीचे धूप में जाकर फाटक बन्द कर देना चाहिए पर यह तभी कारगर होगा जबकि जमादार सचमुच ही उसे खुला छोड़कर बाहर चला गया हो। अगर वह अभी यहीं कहीं मौजूद है तो मेरे फाटक बन्द करने का कोई नतीजा न होगा, क्योंकि जाते-जाते वह उसे फिर से खुला छोड़ सकता है। मैं जमादार को चारों ओर खोजता हूँ, उसे कहीं नहीं और लेडी मैकबेथ को रसोईघर में पाता हूँ।

"जमादार कहीं नहीं दीखता।"

"चला गया होगा।"

"पर फाटक खुला छोड़ गया है।"

"ऐसा करता तो नहीं।"

"पर आज किया है।"

"तो क्या करूँ", हिचककर—"साहब, कई बार समझा तो दिया है।"

उनका अन्दाज़ा बता रहा है कि मैं उनका वक़्त बरबाद कर रहा हूँ। मैं बाहर जाकर

फाटक बन्द करता हूँ और अन्दर आते ही टेलीफ़ोन की घण्टी सुनता हूँ।

"कौन?"

लेडी मैकबेथ कमरे के दरवाज़े तक आ गयी हैं। उन्हें सीधी निगाह से देखते हुए मैं फ़ोन में कहता हूँ, "शर्मिला?"

वे बरामदे की ओर वापस जाने लगी हैं। नाराज़गी मुझे निडर बना रही है।

"मैं आ रही हूँ।"

"आ जाओ।"

शर्मिला ने जैसे सुना न हो। वह कहती रहती है, "मेरी समझ में नहीं आता क्या करूँ। सब कुछ आज ही होना है। दीदी को वे अस्पताल से 'डिस्चार्ज' करने जा रहे हैं, वहाँ रखने से कोई फ़ायदा नहीं, जो इलाज बाक़ी है, घर पर हो सकता है। पर घर पर क्या हो पाएगा? उधर दिग्विजयसिंह फ़ोन कर रहा है। इस बार कहता है कि औरों को न सही, पर उनकी बहन को ज़रूर पास होना चाहिए। मुश्किल तो यह है कि..."

"कापी में उसने कुछ लिखा ही नहीं है।"

"लगभग नहीं के बराबर!"

"शर्मिला, यहाँ आ जाओ। यहीं बात करेंगे। मैं तुम्हारा इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

"अभी-अभी तुमने कहा था..." मन के भारीपन के बावजूद उसकी आवाज़ में एक नयी तरलता आ गई है।

"झूठ कहा था शर्मिला! तुम्हारा सवेरे से इन्तज़ार कर रहा हूँ। मुझे किसी का डर नहीं, यहाँ आ जाओ।"

"बड़े रोमाण्टिक हो रहे हो—पर शायद इस जुम्ले में कोई नयापन नहीं है!"

"प्रेम में कोई नयापन नहीं है शर्मिला! फिर भी उसकी ताक़त पहचान रही हो न?"

"मैं आती हूँ।"

चवालीस साल की रेखा तक पहुँचते-पहुँचते यह हो गया है कि विश्वासों की परिधियाँ पीछे छूट गयी हैं, पुराने विश्वास धुएँ की तरह आसपास की हवा में खो गये हैं और नयों की कोई संभावना हो भी तो वे पनप नहीं पाए हैं। जो कोई भी चाहे, अपने मन से फाटक खोलकर भीतर आ सकता है जिससे मुझे बार-बार खिझाने वाली 'चूँ, चूँ खट, चूँ खट्' की आवाज़ और उसके बाद का उलझाव-भर मिलता है। एक ऐसा अपरिभाषित सीमांत है जिस पर किसी ओर से कोई भी निरर्थक हस्तक्षेप कर सकता है।

यही किताबें थीं। यही पत्रिकाएँ, यही यूनिवर्सिटी, यही सड़कें, यही शहर, पर पिछले पंद्रह सालों में पता ही नहीं चला कि यह सब कब से कटना शुरू हुआ, कब कट गया। तीसरे आयाम का धरातल टूट चुका है। अब सीधा-सादा चार भुजाओं का चौखटा सीधी-सादी सतह पर खिंचा है और इसी को मैं बचा-खुचा अपनापन समझकर समेटे हुए हूँ। कभी-कभी लगता है कि कुछ खोकर अपने लिए बहुत कुछ को आसान बना लिया है। दिन बीतते हैं—समस्याहीन बहसों के बीच कॉफ़ी पीते, पन्द्रह-बीस साल पुराने फ़िल्मी गीत गुनगुनाते, दस साल पहले के फ़ैशन के कपड़े पहनते, अपने ही चिरपरिचित इलाक़े में किसी पर्यटक की तरह घूमते, दिवास्वप्न देखते, जहाँ तक मन सह सके वहाँ तक अपने से और दूसरों से उलझते, उलझाव की पहली जकड़ महसूस करते ही बचाव की राहों के लिए नज़र दौड़ाते!

पहले इस कमरे की एक जीवन्त सत्ता थी। यहाँ लिखा, पढ़ा, बोला जाने वाला हर शब्द किसी अनुष्ठान का अंग था। तब पथरीले जंगली इलाक़ों में डेरा डालकर किसी क़बीले के साथ रहना अनुसंधान और शोध की मजबूरी-भर न था, उसमें अपनी ओर से मानवीयता के क़र्ज़ का भुगतान भी शामिल था।

अब मेरे भीतर वाले किशोर ने, जिसकी जिज्ञासा और उत्साह थामे नहीं थमते थे, मुझे छोड़ दिया है। बहुत देर से ही सही, अब मैं लाइलाज तौर पर बालिग़ हो गया हूँ। इस कमरे की किताबों का यांत्रिक दृश्य अब मुझे द्रवित नहीं करता। यूनिवर्सिटी की खींचतान, सहकर्मी मनीषियों की उठा-पटक, हुकूमत और छात्रों के बीच के तनाव (जिनमें मैं महज़ तमाशबीन हूँ)—और इन सबकी परिधि में घूमती हुई मिसेज़ जी., शर्मिला, दिग्विजयसिंह। मेरे भीतर जो भी पैना था, मेरे लिए बेमानी होता जाता है। लगता है, स्वप्नभंग के माहौल में मेरे लिए स्वप्न देखते रहना ही बाकी बचा है।

इस बार दिग्विजयसिंह का फ़ोन है—

"गुरुजी?"

"बोल रहा हूँ।"

"पहचाना?"

"तुम्हारी आवाज़ कौन नहीं पहचानता?"

"तब ठीक है। पाँव पड़ता हूँ। बहुत लोग पहचानकर भी नहीं पहचानते। पर आप गुरुजी, वाजिब आदमी हैं। आपका फंडा क्लियर दिखता है।"

"क्या?"

"अरे, हम कहे कि फंडामेंटल बात आप बहुत ठीक समझते हैं।"

'मैंने कहा' की जगह 'हम कहे' उसका ट्रेड मार्क है। मैंने कहा, "काम की बात बोली, दिग्विजय।"

"सनीमा कैसा लगा गुरुजी?"

"परसों शाम वाला?"

"आप सही समझे।"

"कुछ यूँ ही-सा था।"

"ताज्जुब है गुरुजी, ऐसी बढ़िया कम्पनी हमें मिल जाए तो हर एक सनीमा मारव्हेलस जान पड़ेगा।"

"तुम सुनीता शर्मा की बात कर रहे हो?"

"जी, उन्हीं की। बड़ी दयालु हैं। पर सिर्फ़ बड़ों-बड़ों पर दया करती हैं। हम ग़रीबों को उजाड़े दे रही हैं। मेरी बहन से नाराज़ हो गयी हैं। उसे फेल किये दे रही हैं।"

बाहर फाटक पर 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' की आवाज़ होती है। किसी ने फाटक खोला है। कौन हो सकता है? एक बज रहा है। अब मिसेज़ जी. अपने कॉलेज से वापस आने वाली होंगी। पर वे नहीं हो सकतीं, होतीं तो अब तक दरवाज़े की घंटी तीन बार बज चुकी होती और लेडी मैकबेथ बाहर के बरामदे की ओर छलाँग लगा रही होतीं। फाटक किसने खोला है?

"दिग्विजय, मैं जल्दी में हूँ।"

"तो सिर्फ़ एक बात समझ लें, गुरुजी। लड़की का नाम उर्मिला सिंह है। बी.ए.

फाइनल। रोल नंबर भी लिख लें—चार हज़ार तीन सौ एक, समाजशास्त्र का दूसरा पर्चा। कम-से-कम पैंसठ फीसदी नंबर मिलें तो काम चलेगा क्योंकि दूसरा पर्चा किसके हाथ में है इसका अभी पता नहीं। आप सुनीता शर्मा से साफ़-साफ़ बोल दें। उन्होंने इससे कम नंबर दिये तो मेरी बहन फेल हो जायेगी।"

"एक बात बताओ दिग्विजय, यूनियन के चुनाव में जो तुम्हारा पर्चा छपा था उसमें बताया गया था कि तुमने बड़े-बड़े संघर्ष किये हैं, तुम्हारी परवरिश एक अनाथालय में हुई थी, तुम्हारे माता-पिता का पता नहीं है, वगैरह-वगैरह! अब यह तुम्हारी बहन कहाँ से आ गयी?"

"गुरुजी, हम लोग और आप जैसे बड़े लोगों में फरक है। सिनेमाघर से निकलते वक्त किसी लड़की की कमर में हाथ नहीं फँसाते। हर लड़की हमारे लिए बहन है। उर्मिला सिंह से हमारा कुछ ज़्यादा प्रेमभाव है।"

"बहन वाला?"

"और प्रेमभाव कैसा होता है गुरुजी? एक बात और बता दूँ। वैसा नहीं है जो आप लोग सोचते हैं। इस लड़की का पास होना बहुत ज़रूरी है। उसकी एक आँख खराब है। बाप चुंगी में चपरासी है। उसे बी.ए. पास मानकर उसकी एक जगह शादी लगी है। फेल हो गयी तो शादी टूट जायेगी। लड़की की ज़िंदगी बरबाद हो जायेगी। भगवान् कसम गुरुजी, सच कह रहा हूँ।"

"ठीक है दिग्विजय, मैं सुनीता से कह दूँगा।"

मैं अपनी पीठ ठोंकना चाहता हूँ क्योंकि मेरा मन फाटक से उलझा हुआ है। दुचित्ते में भी शर्मिला कहते-कहते मैंने अपने को रोक लिया है, उसे सुनीता कहा है।

"धन्यवाद गुरुजी। पर अभी फ़ोन न काटें, बात पूरी नहीं हुई। देखिए गुरुजी, आपसे मुझे कुछ छिपाना नहीं है। अगर उर्मिला फेल हुई और उसकी शादी रुक गयी तो समझ लीजिए हम सुनीता देवी का भंडाफोड़ कर देंगे। और उस कीचड़ में आप भी साने जायें तो फिर न कहिएगा कि चेला हरामी निकला। मेरे पास आप लोगों के दर्जनों फोटू हैं। समझे गुरुजी?"

"देखो दिग्विजय, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं सुनीता से उर्मिला के लिए बात करूँगा। अब मुझे बेमतलब धमकाओ नहीं। मैं ख़ूब जानता हूँ कि उन फोटुओं में क्या होगा। पर उसका मेरे ऊपर कोई असर नहीं। मैं तुम्हारे फोटू और तुम्हारी दियासलाई और तुम्हारे छुरे से नहीं डरता। वाइस-चांसलर या सरकार इनसे डरती है तो डरा करे। मुझसे इसका कोई मतलब नहीं। उर्मिला की मदद तो मैं इसलिए करूँगा कि वह एक ग़रीब लड़की है और उसे मदद की ज़रूरत है।"

"आप बड़े दयालु हैं गुरुजी।"

"हाँ, मुझे सचमुच ही उससे हमदर्दी हो गयी है। इस मुल्क में किसी लड़की की शादी न होना बहुत बड़ी ट्रैजेडी है। वह ग़रीब हो और बदसूरत भी, तो और भी बड़ी ट्रैजेडी होगी। मैं यह ट्रैजेडी न होने दूँगा। कुछ नम्बर बढ़ने से ही उसकी ज़िन्दगी बन जाय तो उसके नम्बर ज़रूर बढ़ने चाहिए। जिन नम्बरों से किसी लड़की की शादी रुक जाय उन नम्बरों की ऐसी की तैसी। मैं सुनीता से ज़रूर कहूँगा। मुझे क्या करना है, मैं बता चुका; अब बताओ, तुम क्या करोगे?"

"मैं क्या कर सकता हूँ गुरुजी। इस कृपा के लिए मैं अपना सारा तन-मन-धन सुनीता जी को अर्पित कर सकता था, पर आपने वह रास्ता भी छेक लिया है।"

"फिर भी तुम एक काम कर सकते हो। ज़रा सुनीता के हाल पर ग़ौर करो। वह हार्वर्ड से समाज विज्ञान पढ़कर इस यूनिवर्सिटी में इसलिए नहीं आयी थी कि उसे एसिड और छुरे से धमकाया जाय या कुछ फोटू निकालकर ब्लैकमेल किया जाय। वैसे ही वह अपनी मुसीबतों से लड़ रही है। उसकी एक बेवा बहन अस्पताल में कैंसर से जूझ रही है। उसे देखने की ज़िम्मेदारी सुनीता की ही है। तुम इतना तो करो ही कि अपने साथियों को ठण्डा कर दो और तुम लोग कभी उसके रास्ते में न आओ।"

"आपकी आज्ञा स्वीकार है। एक काम और करूँगा। उर्मिला का नतीजा निकलते ही सारे फोटू, मय निगेटिव के आपके करकमलों में दे जाऊँगा।"

फ़ोन रखते ही अपमान की धधक महसूस होती है पर उसे दबाकर मैं बाहर बरामदे की ओर दौड़ता हूँ। फाटक सचमुच ही खुला हुआ है और एक गाय गुड़हल की बाड़ के पास चरती हुई लॉन की ओर आ रही है। मेरे पेट की जलन बढ़ जाती है, आँतें मरते हुए साँप की दुम की तरह तिलमिलाने लगती हैं। मैं दहाड़कर गाय को फाटक की ओर बढ़ने से रोकता हूँ।

फाटक बन्द करते-करते मेरी निगाह एक लड़के पर पड़ती है। लॉन के दूसरे छोर पर नल के पास उसने हाथ-पैर धो लिए हैं। वह मेरी ओर आ रहा है। लड़का ग्यारह-बारह साल का है। वह काले-कलूटे जिस्म पर फटी हुई हाफपैंट और वैसी ही फटी हुई बनियाइन पहने है। नंगे पाँव है पर सिर पर बिल्कुल नया अँगोछा लपेटे हुए है। एक-एक कुल्ला पानी उसने अपने मुँह में दोनों ओर भर रखा है जिससे उसके दोनों गाल फूले हुए हैं।

पास आकर वह फाटक खोलना चाहता है पर अचानक मुझे खड़ा पाकर ठिठक जाता है। मैं चीख़ता हूँ, "क्यों बे! फाटक खुला छोड़ गया था!" वह सहमकर पीछे हटता है और मैं जान जाता हूँ कि अब उसका मेरे गुस्से से बचना मुश्किल है।

सिर्फ़ एक तमाचा। पर वह भरपूर उसकी कनपटी पर पड़ा और लड़के के मुँह से पानी का फ़ौवारा छूटा। पानी मेरी जाँघ पर पायजामे को भिगोता हुआ लॉन के ऊपर ग़ायब हो गया। लड़का बड़े ज़ोर से चीख़ा और गिरते-गिरते गुलमोहर के तने से जाकर टकराया। वह दोबारा चीख़ा। फिर अचानक खामोश होकर ज़मीन पर पड़े-पड़े सहमी निगाह से मेरे अगले वार का इन्तज़ार करने लगा।

इतना काफ़ी है। अब मैं सिर्फ़ अपने को ही सज़ा दे सकता हूँ। मैं तपती धूप से बरामदे में आकर खड़ा हो जाता हूँ। लड़का सिसकता और सूखी नाक सुड़कता हुआ फाटक खोलकर बाहर चला जाता है। जाते हुए वह फाटक खुला छोड़ देता है। उसे यह भी पता नहीं कि उसे क्यों पीटा गया है। मैं पुकारकर कहता हूँ, पर इस पुकार में दहाड़ नहीं है, "लड़के, फाटक बन्द किये जाओ।" पर उसके कदम और भी तेज़ हो जाते हैं।

मैं नीचे आकर उसकी ओर बढ़ता हूँ। लड़का भागने लगता है। मैं बाहर आकर पुकारता हूँ, "सुनो।" वह एक बार ठिठकता है। उसके ठिठके पाँवों पर निगाह डालते ही मैं वह चीज़ देखता हूँ जिसे मैं पहले नहीं देख पाया था। उसके पाँवों में सस्ते गुलाबी रंग का महावर लगा है। उसे और सिर पर लिपटे हुए नये अँगोछे को देखकर मैं नतीजा निकालता हूँ कि उसकी हाल ही में शादी हुई है। गुलमोहर के पास ज़मीन पर गिरकर आतंक-भरी आँखों से उसने जब मुझे देखा तब मुझे उनका काजल देखकर ही नतीजा निकालना चाहिए था—मैं सोचता हूँ। "बात सुनो लड़के, घबराओ नहीं।" मैं दोबारा पुकारता हूँ। लड़का और तेज़ी से

भागने लगता है।

मेरी शर्मिंदगी पहले से दुगुनी हो जाती है। नृशास्त्री होने के नाते किसी समुदाय के रीति-रिवाज़ पर अच्छाई-बुराई की भाषा में फ़ैसला देने का मुझे अहंकार नहीं। इस लड़के के पाँवों का महावर देखकर मुझे यही लगता है कि मेरा तमाचा एक अबोध लड़के के गाल पर नहीं, बराबर के किसी बालिग़ पर पड़ा है। मैंने अपनी हिंसकता एक ज़िम्मेदार गृहस्थ के ख़िलाफ़ दिखायी है जिसके माँ-बाप, भाई-बहन तो हैं ही, बीवी भी है और अपना छोटा-सा कारोबार है। वह दिग्विजयसिंह से ज़्यादा ज़िम्मेदार है।

लड़का मुझे माफ़ी माँगने का मौका नहीं देता। पूरी ताक़त से भागता हुआ वह सड़क पर पहुँच गया है। एक छोटा-सा ठेला सड़क पर खड़ा हुआ है जिसका माल मुझे यहाँ से साफ़ दीख पड़ता है। लड़का तेज़ी से ठेले को ढकेलता हुआ काफ़ी दूर निकल जाता है और वहाँ से उसकी ऊँची और विकृत आवाज़ सुनायी देती है, "फालसे! फालसे!"

फाटक को पीछे छोड़कर सड़क की ओर मैं काफ़ी आगे बढ़ आया हूँ। लड़के के दूर जाते ही मुझे अपने जलते हुए तलवों का एहसास होता है और तब मुझे पता चलता है कि मैं नंगे पाँव हूँ। मैं घर की ओर मुड़ता हूँ और तभी शर्मिला की कार सड़क पर आकर रुकती है।

उसका दमकता हुआ चेहरा, जिसे मेरी हथेलियाँ और होंठ घुप अँधेरे में भी पहचान सकते हैं, उसका धूप का चश्मा और हल्के नीले रंग की साड़ी—मैं एकदम से, उन्हें देखते ही, बदल गया हूँ। कुछ और ही हो गया हूँ। आज का दिन अब इस बिंदु से शुरू हुआ। मैं नंगे पाँव सड़क की ओर बढ़ता हूँ। छिपे हुए जासूसों और कैमरों को चुनौती देता हुआ मैं हाथ हिलाकर कहता हूँ, "हैलो शर्मिला!"

मुझे बरामदे में कुछ हिलता हुआ-सा दीखता है और मैं आकस्मिक स्वच्छंदता के आवेग में तय करता हूँ कि कुछ नहीं तो सिर्फ़ लेडी मैकबेथ के लिए मैं अभी शर्मिला को सड़क पर अपनी बाँह में समेटूँगा।

पर मैं उसे छू नहीं पाता क्योंकि तभी—बिल्कुल ड्रामा जैसा—मिसेज़ जी. का रिक्शा हमारे सामने रुकता है।

एक बार फिर दबा हुआ 'हैलो शर्मिला' कहकर मैं उत्साह से मिसेज़ जी. का अभिनंदन करता हूँ। अनायास उनकी निगाह मेरे नंगे पाँवों पर जाती है। मुझे लगता है कि मैं फिर से सात साल का हो गया हूँ और अपनी हाफ पैंट के पीछे अपने गीले हाथ पोंछता हुआ पकड़ा गया हूँ। पर वे मुझसे कुछ नहीं कहतीं। शर्मिला की ओर मुखातिब होकर कहती हैं, "हैलो सुनीता।" अगर उन्होंने उसे इस वक़्त मेरे बेडरूम से निकलते देखा होता तो पता नहीं उनकी आवाज़ में कितने साँप फुफकारते होते, पर उन्होंने उसे सड़क पर कार से उतरते हुए देखा है और उनकी आवाज़ में स्वागत की असली खनक है।

"तुम्हारे आने में आज बड़ी देर हो गयी...ऐसी कड़ी धूप...चलो...पहले अंदर चलो ..." मैं मिसेज़ जी. के आगे लड़खड़ा रहा हूँ...पता नहीं यह तुम्हारा कॉलेज कब बंद होगा ...पहली जून से न?"

"कैसी हो सुनीता?" वे बरामदे तक आते-आते पूछती हैं।

"पहले अंदर चलो न गीता...", बड़ी मुश्किल से मैं गीता का नाम मुँह से निकाल पाता हूँ, शर्मिला की मौजूदगी का असमंजस काटने के लिए जो भी बलिदान करना पड़े, करना

ही होगा, "...पहले कूलर में चलकर बैठ लो...तब बातें होंगी।"

मिसेज़ जी. मेरी ओर गौर से देखकर कमरे में प्रवेश करती हैं। और मुझे अचानक ध्यान आता है कि इतनी देर से मैं यूँ ही उन्हें बार-बार अंदर चलने के लिए कह रहा हूँ। मेरे बिना कहे हुए भी वे अंदर ही आ रही हैं।

"कैसी हो सुनीता?" वे फिर पूछती हैं।

"मुसीबत में हूँ।"

"क्या हुआ?"

मैं नहीं चाहता कि मिसेज़ जी. से दिग्विजयसिंह की धमकियों की बात की जाय। शर्मिला ने चश्मा उतारकर, अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को झुकाकर, बहुत धीमी आवाज़ में अपनी मुसीबत की बात कही है। मुझे उम्मीद बँधती है कि अब वह अपनी बेवा बहन की बीमारी का ज़िक्र करेगी। ठीक है, इस समय हमें मिसेज़ जी. से घरेलू सहानुभूति की ज़रूरत है!

पर शर्मिला—हमेशा की तरह गड़बड़ कर देती है।

"यूनिवर्सिटी के कुछ लड़के हमें धमका रहे हैं। एक लड़की के नम्बर बढ़वाने के लिए गुण्डागर्दी पर उतारू हैं। वह दिग्विजयसिंह है न..."

मैं प्रोफ़ेसराना अन्दाज़ में कहता हूँ, "इसकी फ़िक्र न करो। हम लोग कोई तरीका सोच लेंगे। पहले बताओ, बहन कैसी है?"

"रास्ता क्या सोचना!" मिसेज़ जी. की बात से डर लगता है कि वे कोई दक्षतापूर्ण कर्म करने जा रही हैं। वे कहती हैं, "मैं पुलिस कप्तान को जानती हूँ। उसकी लड़की मेरे यहाँ पढ़ती है। अभी फ़ोन करती हूँ। क्या नाम बताया तुमने? दुर्विजयसिंह?"

"दुर्विजय नहीं, दिग्विजय। दिग्विजयसिंह! पर फ़ोन करने की ज़रूरत न होगी। मामला शायद इतना गम्भीर नहीं है। क्यों...सुनीता?"

मेरी बात का मिसेज़ जी. पर कुल इतना असर होता है कि वे मुझे इस तरह देखती हैं जैसे मैं बिल्कुल अनावश्यक पदार्थ हूँ। उनकी निगाह मेरे पाँवों पर ठिठकती है, पर मैंने चप्पल पहन ली हैं। सुनीता कहती है, "मामला इतना हल्का भी नहीं, पर पुलिस क्या सचमुच ही कुछ कर सकेगी?"

"क्यों नहीं कर सकेगी?" मिसेज़ जी. ने सब कुछ किया है, पर अपना विश्वास नहीं खोया है।

तभी फाटक पर 'चूँ चूँ खट् चूँ खट्ट' होती है। अचानक मेरी गर्दन ऊँची होकर बरामदे की ओर मुड़ती है। उधर मशीन की सी तेज़ी से घूमकर मिसेज़ जी. मेरी ओर घूरने लगती हैं। कहती हैं, "तुम रुको। तुम्हारे बाहर जाने की ज़रूरत नहीं। नौकरानी देख लेगी।" वे अभ्यस्त अफ़सराना अन्दाज़ में लेडी मैकबेथ को पुकारती हैं।

उकताहट के साथ, अपने कमरे में ही क़ैदी बना हुआ मैं बाहर फाटक और बगीचे के भविष्य के बारे में चिन्तित होने लगता हूँ। अपना बैग एक ओर कुर्सी पर फेंककर वे शर्मिला के पास सोफे पर बैठ जाती हैं। मुलायमियत से पूछती हैं, "अब बताओ सुनीता, दुर्विजयसिंह ने क्या किया है?"

इसके बावजूद कि वे दिग्विजय के नाम को लेकर फिर से घपला कर रही हैं, यह एक ऐसा दुर्लभ क्षण है जब मैं उन्हें सिर्फ़ गीता कहकर पुकारना चाहता हूँ।

यह घर मेरा नहीं

जब उन्हें अपने लड़के को डाँटना होता, वे उससे पढ़ाई-लिखाई की बात करते; पर आज उन्होंने अपनी जेब से एक मुड़ा हुआ कागज़ निकालकर लड़के की ओर बढ़ाया और संयत आवाज़ में कहा, "यह तुम्हारा लिखा हुआ है?"

लड़के ने कागज़ खोलकर पढ़ा फिर चुपचाप नीचे की ओर देखने लगा।

दीवार पर एक पुरानी घड़ी लटकी हुई थी। कमरे में सिर्फ़ उसकी टिक्-टिक्, टिक्-टिक् गूँजती रही। लड़का अब खिड़की की ओर देखने लगा। बाहर चारदीवारी के किनारे गुलाब के बड़े-बड़े फूल खिले थे। उनसे अपनी निगाह खींचकर उसने फ़र्श के कालीन पर केन्द्रित कर ली।

"चुप क्यों हो?" उन्होंने गम्भीर आवाज़ में पूछा। पर पूछते ही उन्हें लगा कि उसमें क्रोध भरा है। आज उन्होंने लड़के से मुलायमियत से बात करने का निश्चय किया था; उसे मनोवैज्ञानिक पद्धति से सुधारने की बात सोची थी। वे नर्म होकर, अपनी बात को लगभग स्नेह के दायरे में खींचते हुए बोले, "बैठ जाओ।"

लड़का लम्बे-चौड़े सोफ़े के एक कोने पर गुमनाम-सा बैठ गया। वे दूसरी ओर एक आरामकुर्सी पर, उसके एक-एक वर्ग इंच को अपने नीचे दबाकर, इत्मीनान से लुढ़क गये। उन्होंने एक लम्बी साँस खींची; फिर अचानक पूछा, "यह रीता कौन है?"

लड़के ने खिड़की की ओर देखते हुए ओठों ही में बुदबुदाकर कहा, "कोई नहीं।"

"तो फिर यह पत्र किसको लिखा है?"

"किसी को नहीं।" वह वैसे ही बुदबुदाया।

वे उठकर टहलने लगे। अचानक उसके सामने रुककर बोले, "मेरी ओर देखो।"

लड़के ने अपना पीला चेहरा उठाकर उनकी निगाह के फ़ोकस में इस तरह रख दिया जैसे वह न तो चेहरा था, न अपना था।

वे सोफ़े पर उसी के पास बैठ गये; बोले, "क्या हो गया है तुम्हें? तुम्हारी तन्दुरुस्ती! कितनी बार कहा है, सुबह उठा करो। कुछ खेल-कूद, कसरत... "यह भी ज़रूरी है। कुछ आया समझ में?"

लड़के ने दार्शनिकों की तरह सहमति में अपना सर हिलाया; फिर वैसे ही ज़मीन पर आँखें गड़ा लीं। वे चिढ़ गये; अपने को रोककर धीरे-धीरे कहने लगे, "मैं जानता हूँ कि दूसरों के पत्र देखना असभ्यता है। पर तुम्हारी वजह से मुझे यह भी करना पड़ा है। अपनी

कापियों में तुम इसी तरह के पत्र रखे रहते हो। यही तुम्हारा पढ़ना-लिखना है?"

वे नाटकीय ढंग से उसकी ओर मुड़कर बोले, "क्या तुम सचमुच ही रीता को इतना प्रेम करते हो? क्या वह भी तुमसे इसी तरह प्रेम करती है?"

लड़के ने धीरे से कहा, "रीता कोई नहीं है।"

वे चिढ़कर व्यंग्य के साथ बोले, "तो...क्या यह पत्र नहीं है? कोई कविता है? गद्यगीत?"

लड़के ने कुछ देर के लिए सामने रेडियोग्राम पर रखी एक गुड़िया पर निगाह अटका ली। सबसे ज़्यादा परेशान करने वाली यह निगाह ही थी; कहाँ ले जाये इसे? वह ज़िद के साथ उधर ही देखता रहा। उनका सवाल सुनकर उसने अनिश्चय में धीरे से सर हिलाया।

वे घुड़ककर बोले, "क्या मतलब? सर क्यों हिला रहे हो? बात करने की यह कौन-सी तमीज़ है?"

"जी, यह पत्र नहीं है; गद्यगीत है।" वह जल्दी से कह गया।

"अहा-हा!" मनोविश्लेषक का पार्ट छोड़कर वे असली रूप में आ गये; व्यंग्यपूर्वक सफल पिता की भाँति बोले, "साहबज़ादे गद्यगीत लिख रहे हैं! रीता डार्लिंग! माई ओन रीता! क्या खूब! अंग्रेज़ी का एक लफ़्ज़ नहीं आता, पर लिख रहे हैं, माई ओन रीता!"

कह चुकने पर उन्हें लगा कि वे कुछ ज़्यादा छिछले हो गये; अतः फिर स्वाभाविक स्वर में बोले, "कल मैंने तुम्हें बाज़ार में भी देखा था। इस वक्त तुम्हारी बोलती बन्द है; पर कल मैंने तुम्हारा चहकना सुना था। मैं पीछे धीरे-धीरे मोटर पर आ रहा था। समझे?"

लड़का कुछ न बोला। वे कहते रहे, "तुम्हारे आगे रिक्शे पर दो लड़कियाँ जा रही थीं, तुम्हारा एक साथी माउथ ऑरगन बजा रहा था, तुम चीख़ रहे थे। मैंने गाड़ी खड़ी कर दी, फिर उधर नहीं देखा। मेरे डूब मरने के लिए इतना ही काफ़ी था।"

लड़के ने इस बार उनकी ओर तेज़ी से देखा, मानो कह रहा हो—तो क्यों नहीं डूब मरे? निगाह के कोड़े से वे तिलमिला उठे; बोले, "क्यों? मैं झूठ बोल रहा हूँ?"

नहीं, वे झूठ नहीं बोल रहे हैं। उस फ़ैशनेबुल बाज़ार की लम्बी-चौड़ी सड़क पर एक रिक्शे के पीछे वह काफ़ी दूर तक लगा रहा था। उसका साथी रंगीन छापेदार बुशर्ट और ड्रेन पाइप पतलून पहने माउथ ऑरगन बजा रहा था। वह खुद रुक-रुककर उसमें गाने का टुकड़ा जोड़ता। दो-तीन लड़के पीछे आ रहे थे। वे चीख़-चीख़कर बाजेवाले लड़के को बढ़ावा दे रहे थे।

लड़कियाँ खुले रिक्शे में बैठी थीं। वे ऊलजलूल तरीके से बाल सँवारे थीं। चिपकी हुई सलवारों से पिण्डलियों की शक्ल दिख रही थी; कुरता, जिसकी काट से गले और पीठ का काफ़ी हिस्सा आँखों को झिलमिला रहा था, उनके बदन पर चुस्त फ्रॉक की तरह सटकर बैठा था; लगता था कि वे उसी को पहनकर पैदा हुई थीं।

उन्होंने लड़कों की हरकतों पर कोई ध्यान नहीं दिया; इसकी वे अभ्यस्त थीं। वे इस तरह बैठी रहीं जैसे वे मंगल ग्रह से उतरकर आयी हों; जैसे इतने चुस्त कपड़े उन्होंने बिना किसी उद्देश्य के ही पहन लिये हों; जैसे वे लड़कों की भाषा नहीं समझतीं, उनका अस्तित्व नहीं पहचानतीं, मन और तन की भूख मिटाने के लिए जैसे उन्हें इनके पास नहीं, मंगल ग्रह पर ही जाना होता हो।

वे इसी जुलूस के पीछे कुछ देर अपनी मोटर चलाते रहे थे।

वे प्रकृतिस्थ हुए। धीरे-धीरे कहने लगे, "मैं उतना बेवकूफ़ नहीं जितना कि तुम समझते हो। तुम अब उन्नीस साल के हो। मैं तुम लोगों की समस्याएँ समझता हूँ—सेक्स की समस्याएँ तक। बेकारी की मजबूरियाँ, देर की शादियाँ, सिनेमा... मैं सब समझता हूँ। फिर भी ये वहशियाना तरीक़े...!"

लड़का फिर बाहर देखने लगा था, जैसे उनकी बात न सुन रहा हो। उन्होंने अपनी बात रोक दी।

दीवार घड़ी टिक्-टिक्, टिक्-टिक् करती रही।

मुस्कुराकर उन्होंने खिड़की की ओर उँगली उठायी; पूछा, "उस फूल का क्या नाम है?"

"गुलाब!" बात की नवीनता से उसने चौंककर कहा।

"नहीं, उसकी बग़ल के गमले वाला फूल! वह क्या है?"

लड़का चुप रहा; रुककर बोला, "मुझे नहीं मालूम!"

एक क्षण शान्ति रही। घड़ी की टिकटिकाहट तेज़ हो गयी।

उन्होंने फिर शुरू किया, "तुम्हारी हालत यह है! जो सामने है, उसमें भी कोई दिलचस्पी नहीं; और भविष्य...? तुम सोच ही नहीं सकते कि आज का संघर्ष कैसा है? उससे जूझने के लिए कितनी तैयारी, कितनी ताक़त चाहिए! इस मरियल देह से, ये गन्दी-गन्दी चिट्ठियाँ लिखकर तुम भविष्य बना रहे हो? तुम्हारी यही तैयारी है?"

लड़के ने कहा, "भविष्य..."

वे बोले, "कहो...कहो, अपनी बात पूरी करो।"

उसने सर हिलाकर कहा, "कुछ नहीं।"

उन्होंने एक लम्बी साँस खींची। फिर कुछ सोचकर बोले, "मेरे सवाल का जवाब नहीं मिला। क्या रीता भी तुम्हें चाहती है?"

मौन!

"वह तुम्हें चाहती हो तो मैं तुमको शादी करने की इजाज़त दे दूँगा..."

लड़के ने तेज़ी से कहा, "नहीं-नहीं, मैं शादी नहीं करूँगा...कभी नहीं।" कहकर संकुचित हो गया।

"नहीं करोगे न? मैं जानता हूँ। उसके लिए भी सामर्थ्य चाहिए। तुम लोग..."

उनकी बात पूरी नहीं हुई। दरवाज़े की ओर देखकर स्नेह से बोले, "आओ...आओ!"

लगभग अट्ठारह साल की एक लड़की परदा उठाकर अन्दर झाँक रही थी। खूब कसे, चुस्त कपड़े पहने, निगाहें शोखी और तीखेपन के साथ इधर-उधर फेंकती, बेझिझक कन्धे; हिन्दुस्तान के विलायती स्कूलों में ख़रीदे गये आत्म-आश्वासन पर तैरती हुई वह कमरे में आयी। अंग्रेज़ी में बोली, "अंकल, डैडी आपका इंतज़ार कर रहे हैं।" फिर सरपरस्ताना मुस्कराहट के साथ, जिसका मतलब था, "बेचारा लड़का! मेरा साथ पाने को तरस रहा होगा!" आँख मटकाकर उसने लड़के से कहा, "हैलो!"

उन्होंने लड़की से अंग्रेज़ी में कहा, "बस, दो मिनट में आता हूँ।"

मजबूरी का अभिनय करने के लिए उसने कन्धे हिलाये। उन्होंने खुश होकर

दोहराया, "सच, अभी आया।"

उसके चले जाने पर फूहड़पन के साथ लड़के से बोले, "है हिम्मत? बड़े-बड़े प्रेम-पत्र लिखते हो। इससे प्रेम क्यों नहीं करते?"

लड़का चुप रहा। वे अपनी ही बात से कुछ झेंप-से गये। उसे ढँकने के लिए उन्होंने टहलते हुए व्याख्यान दिया, "वे ज़माने लद गये जब सातवीं कक्षा पास आदमियों के पास नौकरी का फ़रमान अपने-आप आता था। आज संघर्ष का युग है। ज़रा चूके नहीं कि गये। समझे? जो बाज़ी मार ले गया, वह मार ले गया। समझे? उसके बाद उसी की तरक़्क़ी, उसी की फ़र्स्ट क्लास शादी, मोटा दहेज—सब कुछ उसी का! बाकी सब आधी-आधी उम्र तक मक्खियाँ मारा करते हैं। समझे कुछ? बड़ा कठोर संघर्ष है आज के जीवन में। कुछ आया समझ में?"

लड़के ने सर छाती पर गड़ा लिया। वे तेज़ी से बोले, "और उसके लिए तुम्हारी यही तैयारी है? जब बाद में मारे-मारे घूमोगे, तब मेरी बात याद आएगी। समझे कि नहीं?"

दीवार घड़ी ने खर्र-खर्र करके घण्टे बजने की सूचना दी। फिर टन-टन करके छः बजाये। उन्होंने कलाई की ओर देखा; खीजकर बोले, "यह रिस्टवाच भी धोखा दे गयी, बन्द पड़ी है। ये नये ज़माने की घड़ियाँ..."

लड़का चुपचाप बैठा रहा। वे घड़ी में चाबी देते हुए उसी आवाज़ में बोले, "सभी कहते हैं कि यह युग संक्रान्ति का युग है, इसे कुछ बुड्ढे कब तक चलाएँगे? वे सही कहते हैं कि इस देश का बोझा तुम्हीं लोगों को अपने कन्धों पर लेना है, समझे? यह सिर्फ़ कहने की बात नहीं है। यही असलियत है। पर तुम...तुम्हारी क्या हालत है?"

चलने के लिए उन्होंने दरवाज़े पर पड़ा परदा उठाया। अचानक उनकी बातचीत की नाटकीयता ख़त्म हो गयी, मुड़कर धीरे से बोले, "सोच लो। शायद रात तक तुम मुझे बताना चाहो कि यह रीता कौन है। तभी मैं तुम्हें इसका इलाज भी बता सकूँगा।"

लड़के ने संकुचित होकर कहा, "मैंने बता तो दिया कि रीता कोई नहीं है। यह मेरा गद्यगीत है।"

चलते-चलते वे भभक उठे, "गद्यगीत इसी को कहते हैं? छिः!"

बाहर मोटर के एक्ज़ॉस्ट से वही 'छिः छिः' बार-बार निकलने लगा। लड़का सुनता रहा। गाड़ी की भन्नाहट कुछ देर बाद ख़त्म हो गयी।

कमरे में कुछ धुँधलका फैलने लगा था। उसने रोशनी जला दी। कमरे के बीच में खड़े होकर उसने उस पत्र को एक बार फिर पढ़ा।

पीछे से आवाज़ आयी, "अंकल! चले गये क्या?"

वही लड़की थी, बेझिझक निगाहों से उसने अन्दर झाँका।

उसने कहा, "आओ!"

वह अन्दर आकर सोफ़े के बाजू के सहारे टिक गयी। इधर-उधर तेज़ निगाहों से उसने पूरे कमरे का सर्वेक्षण किया। लम्बा-चौड़ा ड्राइंग-रूम था; सब कुछ अपनी जगह था; सिर्फ़ वह लड़का बेचैनी के साथ क़ालीन के बीचोंबीच खड़ा था।

लड़की ने हँसते हुए कहा, "तुम्हारा चेहरा बहुत लम्बा हो रहा है।"

लड़के ने उसकी ओर घूरकर देखा, पर उसकी आँखें शरारत से मुस्करा रही थीं। लड़के

ने गम्भीरता से कहा, "तुम्हें कैसा चेहरा पसन्द है? गोल?"

वह अंग्रेज़ी में बोल रही थी। लड़का भी बोल रहा था, पर उसमें अपनी कमज़ोरी महसूस कर रहा था। लड़की ने अपनी विशेषता का अनुभव करते हुए कहा, "मुझे चौकोर चेहरा पसन्द है, जैसा कि तुम्हारा हर वक़्त रहता है।" वह ज़ोर से हँसने लगी।

लड़के ने अनिश्चय के साथ अपने पैर इधर-उधर हिलाये, फिर अप्रासंगिक रूप से बोला, "पापा क्लब गये?"

लड़की सोफ़े पर बैठ गयी और बिगड़ैल बच्चियों की तरह पैर हिलाती हुई कहने लगी, "इधर बैठो।"

"मैं यहीं ठीक हूँ। अपनी बात कहो।"

लड़की ने चिढ़कर कहा, "बहुत स्मार्ट बनने की कोशिश न करो, मैं तुमसे बात भी न करती, लेकिन अंकल पर तरस आता है।"

वह खड़ा उसकी बात इस तरह सुनता रहा जैसे कोई किसी प्लास्टिक के खिलौने की 'चूँ-चूँ' सुन रहा हो। उसने कहा, "अंकल कितने स्वीट हैं, कितना हँसते हैं! कितने पॉलिश्ड हैं!"

उसे लड़की की मौजूदगी खटक रही थी। उन्होंने चैलेंज-सा दिया था, इसे प्रेम क्यों नहीं करते? नयी पीढ़ी की सारी उच्छृंखलता, आशा, निर्भीकता, भविष्य की आस्था—मरकर, प्रेत बनकर इस लड़की की शक्ल में आयी हुई थी, जो विरूपता से उसका उपहास कर रही थी। कोई प्रेतों से भी प्रेम करता है? लड़का बात को यों समझ नहीं पा रहा था पर उसका बोझ उसके मन को कुचले दे रहा था। लड़की कहती जा रही थी, "अंकल से हम सबको प्रेरणा लेनी चाहिए।"

वह खड़े-खड़े किसी सचित्र पत्रिका के पन्ने उलटने लगा था। उस पर से बिना नज़र उठाये हुए बोला, "हाँ, वे कई हज़ार रुपया महीना भी पाते हैं।"

लड़की ने ऐंठ के साथ कहा, "तुम्हें कौन रोकता है? तुम भी क्यों नहीं अंकल की तरह..."

लड़के ने तेज़ निगाहों से लड़की की तरफ़ घूरा। अचानक उसकी बोली का अनिश्चय मिट-सा गया। बोला, "बताऊँ कौन रोकता है? तुम रोकती हो! तुम्हारे अंकल रोकते हैं! हर जगह तुम हो, तुम्हारे अंकल हैं!"

वह मासूम बन गयी। ज़बान को मुँह के भीतर चारों ओर दौड़ाकर उसने आँखें मटकायीं। बोली, "मुझसे क्या मतलब? तुम जहन्नुम में भी जाओ तो मुझे क्या? अंकल तुम्हारे लिए दुखी हैं।"

"इसीलिए तुम मुझ से बात कर रही हो; मैं समझता हूँ।"

वह उसकी ओर देखते-देखते मुस्करा पड़ी, बोली, "पुवर ब्वॉय! तुम्हारा चेहरा और लम्बा हो गया है।"

वह उसकी ओर देखता हुआ अगली बात का इन्तज़ार करता रहा।

पर अगली बात दूसरे ढंग की थी, "तुमने 'अपार्टमेण्ट' देखी है? फर्स्ट क्लास की पिक्चर है।"

लड़के ने देखी थी पर सर हिलाकर कहा, "नहीं... पर पिक्चर की बात क्यों करती

हो? पापा ने मेरे बारे में तुमसे और क्या-क्या कहा है?"

"वे चाहते हैं, तुम उनसे बातें किया करो, जी लगाकर पढ़ो-लिखो, तरक्की करो।" एक-एक शब्द पर ज़ोर देते हुए उसका मज़ाक-सा बनाकर लड़की ने कहा।

वह सोफ़े पर उसी के पास सटकर बैठ गया, मुलायमियत से उसके बालों की एक लट को उँगली से छूते हुए बोला, "पापा से बात करने लायक़ तो तुम हो, मैं नहीं। और पढ़ाई-लिखाई? अब पढ़ाई-लिखाई कहाँ होती है? वह तो पापा के पढ़ लेने के बाद ख़त्म हो गयी। क्या तुम्हारे कॉलेज में पढ़ाई होती है? मैं तो समझता था वहाँ सिर्फ़ च्यूइंगगम चबाना और बालों की नयी धज निकालना ही सिखाया जाता है!"

लड़की उठकर खड़ी हो गयी। उसकी साँस तेज़ हो गयी थी और उसका आत्म-आश्वासन लड़खड़ा गया था। बोली, "अब तुम बदतमीज़ी पर उतर रहे हो।"

"नहीं सिस्टर, बदतमीज़ी नहीं, तुम पापा से प्यार के साथ कह देना कि पढ़ाई तो तभी ख़त्म हो गयी थी। और जब से वे तरक्की पाने लगे, तब से सारी तरक्कियाँ भी ख़त्म हो गयीं।"

वह झटके से चल दी; चलते-चलते बोली, "मैं जाती हूँ। तुम इस तरह बात कर रहे हो जैसे यह घर तुम्हारा नहीं; जैसे अंकल तुम्हारे पापा नहीं, दुश्मन हों।"

लड़का भी उठकर खड़ा हो गया। उसके पास बैठने के कारण सेण्ट की भीनी-भीनी महक ने उसे चारों ओर से घेर लिया था। उसी में उलझता हुआ बोला, "नहीं, पापा दुश्मन नहीं हैं। मेरी दुश्मन तुम हो। पापा हमारे दुश्मन कैसे होंगे? हम एक-दूसरे को जानते तक नहीं और यह घर!"

लड़की परदा झटककर चली गयी। दरवाज़े से हवा का झोंका आकर दूसरी ओर खिड़की पर पड़े हुए झीने परदे को झकझोरने लगा।

लगभग ग्यारह बजे रात को वे क्लब से वापस आये। बिलियर्ड, ब्रिज, व्हिस्की, क़हक़हे, शनैश्चर की सन्ध्यावाली मुक्ति...इस सबसे वे भरे हुए थे। अपने शयनकक्ष की ओर जाने के पहले उन्होंने अभ्यास के अनुसार लड़के के कमरे की तरफ़ देखा। टेबल लैम्प जल रहा था, पर कुरसी ख़ाली पड़ी थी। आज वह फिर रोशनी जलाकर बिना कुछ पढ़े-लिखे सो गया! वे खीज उठे—साधना की इतनी कमी! कुड़बुड़ाते हुए वे कमरे के अन्दर रोशनी बुझाने के लिए घुसे। पलंग ख़ाली था; लड़का कमरे में न था।

उन्होंने इधर-उधर देखा। वह कहीं भी नहीं दीख पड़ा।

वे उसके लिखने-पढ़ने की मेज़ के पास खड़े थे। आदत के अनुसार उन्होंने सामने रखी हुई एक कापी को बिना किसी स्पष्ट उद्देश्य के उलटना शुरू किया। बीच वाले पन्ने पर कुछ लिखा था—घसीट लिखावट। वे पढ़ने लगे। आज के नौजवानों की लिखावट ने उनके मन में कुढ़न पैदा कर दी। पर उत्सुकता ने उसे दबा दिया। वह एक ख़त था, जो शायद उन्हीं को लिखा गया था—

"आप विश्वास नहीं मानते, पर यही सच है। मैं रीता को नहीं जानता। मैं किसी लड़की को नहीं जानता। यह नाम किताबों में आया करता है। वहीं से इसे लिया है। ख़ाली वक़्त में पता नहीं यह सब मैंने कैसे लिख डाला था!

"आपसे कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती। कैसे, किस भाषा में कहूँ? न मुझे अंग्रेज़ी

का लफ्ज़ आता है, न हिन्दी का, न तेलुगू का। इसीलिए गूँगों की तरह मुझे लिखकर बात करनी पड़ती है।

"मेरी सभी समस्याएँ आप जानते हैं। पर सब जानकर भी आप मुझ पर क्यों बिगड़ा करते हैं?"

"लोग कहते हैं, कल मुझे इस युग का, इस देश का दायित्व लेना होगा। फिर वही फ़रेब! जो वर्तमान के ऊपर छाये हैं, भविष्य पर उन्हीं के प्रेत मँडराएँगे। यह युग मेरा नहीं होगा!

"यह घर मेरा नहीं है। यहाँ सिर्फ़ आप रह सकते हैं। मैं नहीं रहूँगा। मैं यह सब छोड़कर जा रहा हूँ। मुझे खोजने की कोशिश बेकार होगी। जब तक आप मुझे खोजने की सोचेंगे, मैं मर चुका होऊँगा। मैं जानता हूँ मेरा यही भविष्य है।"

पत्र में कई गलतियाँ थीं। पर समीक्षकों वाली निगाह पथरा गयी थी। वे तेज़ी से कमरे के बाहर आये; चीख़कर नौकरों को पुकारा, खोखली आवाज़ में बोले, "कहाँ है? वह कहाँ है? उसे कहीं जाते देखा है तुमने?"

वे लोग घबराकर इधर-उधर दौड़-धूप करने लगे। उन्होंने मजबूरी से दाँत पीसकर कहा, "ढूँढो...आसपास पता लगाओ।"

एक ने कहा, "पुलिस को भी टेलीफ़ोन कर दें।

उनकी समझ में कुछ नहीं आया। नौकर-चाकर बँगले के अन्दर-बाहर चक्कर लगाने लगे थे। उनकी फुसफुसाहट-भरी आवाज़ें पहाड़ी नदी की बाढ़ जैसी ऊपर उमड़कर बहने लगीं। अनेक भावों की आड़ी-तिरछी रेखाएँ उनके दिमाग में तेज़ी से बनने-बिगड़ने वाली ज्योमेट्री की-सी आकृतियाँ खींचने लगीं।

वे कमरे और बरामदे को पार करके बाग़ की ओर आये। नीचे उतरने के पहले लम्बे-चौड़े टैरेस पर आकर उनके पाँव ठिठक गये; सोचते रहे कि पुलिस को फ़ोन करें या पहले मित्रों को सूचना दें।

तभी टैरेस के एक छोर पर, संगमरमर की एक बेंच के ऊपर जाकर उनकी निगाह टिक गयी। धड़कते हुए दिल से वे धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़े। एक आशा-सी पैदा हो गयी थी, जिसे वहाँ जल्दी पहुँचकर वे एकदम से मिटने न देना चाहते थे। बेंच के पास आकर उन्होंने निष्कृति की साँस ली। अँधेरी रात में, खुले आसमान के नीचे, वह नंगी बेंच पर बेख़बर सो रहा था।

उन्होंने उसके माथे पर हाथ रखा, धीरे से कहा, "बेटा!"

वह चुपचाप सोता रहा।

वे दबे पाँव उठकर दूसरी ओर चले गए। एक नौकर से कुछ कहकर फिर वहीं वापस आए। शोर की बाढ़ घटने लगी। बेंच के एक कोने पर कुछ क्षण वे बैठे रहे। मुक्ति की कई लम्बी साँसें खींचकर उन्होंने निश्चय कर लिया कि वह उनके पास है, कहीं गया नहीं है, कापी में उसने जो लिखा है, वह एक दूसरा काल्पनिक पत्र है; शायद उसे भी यों ही लिखा है। उन्होंने यह मानना चाहा, पर इस बात से वे पूरी तरह आश्वस्त नहीं हुए।

उसके माथे पर हाथ फेरकर उन्होंने उसे जगाया। पूछा, "यहाँ क्यों सो रहे हो? तबीयत तो ठीक है?"

वह आलस के साथ खड़ा हो गया; नींद-भरी आवाज़ में बोला, "यहाँ ठण्डक थी, अच्छा लगता है।"

उन्होंने कहा, "खुले में ज़ुकाम हो जाने का डर है, अन्दर चलो।"

वह चुपचाप उनके साथ अन्दर आया, अपने कमरे में आकर पलंग पर लेट रहा।

वे थोड़ी देर खड़े रहे। फिर उन्होंने पूछा, "लैम्प बुझा दूँ?"

कोई जवाब नहीं मिला। वह सोने लगा था।

उनका विद्रोही उन्हीं के घर में चुपचाप सो गया था; वे शान्त हो गये थे, पर कुछ समझ नहीं पा रहे थे।

उन्होंने रोशनी बुझा दी। मेज़ पर खुली हुई नोटबुक को बन्द करके जहाँ थी वहीं रख दिया। थोड़ी देर वे खिड़की के पास चुपचाप खड़े रहे, फिर अपने को अनावश्यक समझकर कोई शब्द किये बिना कमरे से बाहर निकल आये।

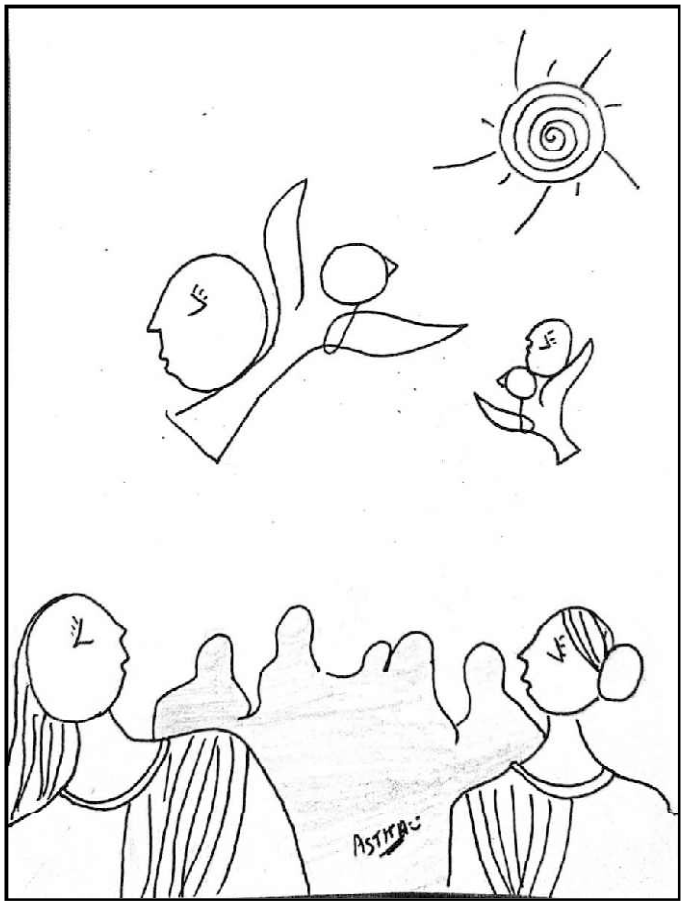

टी. एम्. सिंह की कथा

किसी समय चम्बल नदी के तट पर बसे भद्रान्तक नामक गाँव में शमशेर सिंह नामक दस्युराज शासन करता था। डकैती के व्यवसाय के कारण उसे भी ऋषि-मुनियों की भाँति चम्बल के बीहड़ों में वनवास करना पड़ता था। वहाँ अनेक वर्ष निवास कर चुकने पर, पुलिस को छकाते और उसके हाथों से हमेशा दूर रहते हुए, अल्पकाल ही में उसने प्रचुर सम्पत्ति और ख्याति अर्जित कर ली। तदनन्तर, अनेक मन्त्रियों, राजनेताओं, जौहरियों और स्वर्णकारों आदि का स्नेह और सौहार्द बाँध चुका है जिसे, वह शमशेर सिंह अपने चौवालीसवें वर्ष में घुटनों के दर्द और बबासीर से पीड़ित होकर और चम्बल के भरकों की खड़ी चढ़ाई-उतराई में उत्तरोत्तर अपने को असमर्थ पाकर अवकाश-ग्रहण के विषय में विचार करने लगा। उसने अपने गिरोह की बैठक आयोजित की और घोषणा की कि मैं सरकार के समक्ष शस्त्र-समर्पण करने जा रहा हूँ। यह सुनकर गिरोह के दस्यु विचलित हो उठे; उन्होंने विनती की कि—"मालिक, हमें इस प्रकार अनाथ बनाकर न जाएँ। कहा भी है कि—

> "जैसे एड्स से पीड़ित होकर भी वेश्या अपना गाहक नहीं छोड़ती, जबड़े के खूनी हो जाने पर भी श्वान हड्डी चूसना नहीं छोड़ता, चोरी-घूसखोरी में सज़ा खाकर और तीनों लोक में अपनी थुड़ी-थुड़ी करवाकर भी कोई मुख्यमन्त्री अपनी कुर्सी नहीं छोड़ता, वैसे ही बबासीर की कसक के कारण आपको अपना कार्य नहीं छोड़ना चाहिए।"

इस पर शमशेर सिंह ने कहा कि साथियो, चिन्ता न करो; मैं शस्त्र-समर्पण भले ही कर दूँ पर तुम्हारी और तुम्हारे द्वारा अर्जित द्रव्य की देखरेख करता रहूँगा, क्योंकि—

> "साँप केंचुल छोड़ देता है पर ज़हर नहीं; प्रधानमन्त्री अपना पद छोड़ देता है, पर ज़ेड कैटेगरी सुरक्षा, बयानबाज़ी और विदेश की चिकित्सा नहीं, वैसे ही मुझसे कर्म भले ही छूट जाए, कर्म की आसक्ति नहीं छूट पाएगी।

इस प्रकार अपने साथियों को सान्त्वना देकर शमशेर सिंह थाना-कचहरी और जेलों के फाटक का नाटक देखता हुआ यथासमय अपने गाँव में आकर रहने लगा। चेम्बर प्रैक्टिस करनेवाले अवकाश प्राप्त जज की भाँति वह अपने पुराने साथियों को समय-समय पर परामर्श देता, सायंकाल अपनी चौपाल में पुरानी यशोगाथाएँ सुनाता, बन्दर-बाँट के सिद्धान्त पर लोगों के ज़मीन-जायदाद के झगड़े निबटाता; और इस प्रकार वह इहलोक के विभिन्न सुख भोगता रहा।

शमशेर सिंह के बन्दूक सिंह और तोप सिंह नामक दो युवा पुत्र थे। उनमें बड़ा बन्दूक सिंह पहले ही बीहड़ में कूद गया था। इस समय वह एक महान युवा शक्ति के रूप

में उभरकर सामने आ चुका था—कुछ-कुछ वैसे ही जैसे कई वर्ष पहले अपने साहस, जाँबाज़ी, दूसरों को आदेश देने और उसका पालन कराने की क्षमता आदि महान गुणों के कारण राजनीति में एक ऐसी ही युवा शक्ति का आविर्भाव हुआ था। पर फ़र्क यह था कि वह राजनीतिक युवा शक्ति अल्पकालीन थी और बन्दूक सिंह का रुतबा आठ साल से ऊपर का हो चुका था और कई वर्ष आगे भी चलनेवाला था।

बन्दूक सिंह डाका नहीं डालता था, पैसेवालों को अगवा करके उनसे लम्बी रक़म घसीटता था। इसे पकड़ कहते हैं। उसका कहना था कि डकैती मज़दूरी है जिसमें रुपिया कमाने के लिए आपको दूसरों के घर जाना पड़ता है; अगवा करना अफ़सरी है जिसमें ज़रूरतमन्द पैसा लेकर खुद आपके घर तक आता है। पर इस कारोबार में बँट-चुटकर जो द्रव्य बन्दूक सिंह के हाथ लगता वह शमशेर सिंह जैसे परम्परावादी दस्यु के लिए सन्तोषप्रद नहीं था। अतः एक आज्ञाकारी और कमाऊ बेटे के रूप में अब उसकी आशाएँ तोप सिंह पर केन्द्रित थीं।

तोप सिंह में साहस, वीरता उद्यमिता जैसे गुण प्रचुर मात्रा में तो थे ही, हैरत यह कि इसी वर्ष उसने प्रथम श्रेणी में बी.ए. पास किया था। अतः जिस दिन शमशेर सिंह के हाथों तोप सिंह की दस्यु-कर्म में दीक्षा होनी थी, उसी दिन अचानक तोप सिंह के मामा कलेक्टर सिंह वहाँ आकर प्रकट हुए और उन्होंने शमशेर सिंह से कहा—"तात, माना कि आपके वंश में सात पीढ़ियों से दस्यु कर्म होता आया है पर उसकी पद्धति और प्रक्रिया में अब परिवर्तन की आवश्यकता है। अब सभ्य समाज में हमेशा राइफल के सहारे ही डाका नहीं डाला जाता। हथियार बदल गए हैं। कहा भी है—

> "नहर इंजीनियर नहर-सफ़ाई के नाम पर मिट्टी की खुरचन के हथियार से डाका डालता है, भवन निर्माता सत-मंज़ली इमारत में नाममात्र की नींव से डाका डालता है और मन्त्रियों और आला अफ़सरों का कोई-न-कोई स्नेही बन्धु चिट-फंड खोलकर डाका डालता है।

इसलिए तोप सिंह जैसे विद्वान का बन्दूक लेकर निकलना उचित नहीं, उसके लिए कलम काफ़ी है। उसे दीक्षा देने के लिए मैं उसे अपने साथ ले जाऊँगा।"

तदनन्तर शमशेर सिंह ने तोप सिंह को मामा कलेक्टर सिंह के हाथ में सौंप दिया। मामा उसे देश की राजधानी दिल्ली ले आया और बोला कि बेटा, तुम्हारे नाम तोप सिंह में असभ्यता और ग्रामीणता की गन्ध आती है। नाम का बड़ा महत्त्व है। उससे विनम्रता और जनपक्षधरता की सुगन्ध निकलनी चाहिए। देखो, घास कितनी पददलित और विनम्र होती है। पर मौका मिलते ही वह ऊँची-ऊँची मीनारों की खोपड़ी पर अपनी जड़ जमा लेती है। इसलिए मेरा सुझाव है कि तुम अपना नाम बदलकर तृणमूल सिंह अर्थात् टी.एम्. सिंह कर लो और फिर इसका करिश्मा देखो। आज ही तुम अपना नाम-परिवर्तन अख़बारों में विज्ञापित कर दो।"

तत्पश्चात् टी.एम्. सिंह में हो चुका है कायान्तरण जिसका, वह तोप सिंह दिल्ली के जगतप्रसिद्ध जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में दाख़िल हुआ जिससे विद्यावान भले ही उतने न निकलें जितने बिहार-उड़ीसा आदि के न जाने कितने नौनिहाल उच्च अधिकारियों के रूप में 'गुणी अति चातुर' बनकर निकलते हैं। तभी दो साल बाद टी.एम्. सिंह भी आई. ए.एस. की नौकरी पाकर भावी कलेक्टर के रूप में कलेक्टर सिंह को आह्लादित करता हुआ उदयगिरि मंच पर उदित हुआ। कहा भी है—

सम्पत्ति की महिमा दान या व्यय में नहीं, संचय में है। बुद्धि की महिमा विवेकशीलता में नहीं, मूर्ख मोहिनी होने में है। रूप की महिमा आनन्दवर्धन में नहीं, मूढ़-सम्मोहन में है और विद्या की महिमा आत्मज्ञान में नहीं, आई.ए.एस. के चयन में है।

धोती-कुर्ता-लाल अँगौछा और नवप्रसूत मूँछों के सूक्ष्म नुकीलेपन से पहचाना जाता था जो, उस तोप सिंह के स्थान पर जीन्स, टी-शर्ट और सुनहले फ्रेम के चश्मे से सुसज्जित टी. एम्. सिंह नामक युवक को देख पिता शमशेर सिंह का हृदय हाहाकार कर उठा। असली रिश्ते को गाली का रूप देकर उन्होंने कलेक्टर सिंह से पूछा, "साले, तूने यह क्या किया?"

साले ने उत्तर दिया, "धैर्य धरें जीजा जी, आपके आई.ए.एस. पुत्र की कर्मस्थली के रूप में हम दोनों ने पूर्वोत्तर के एक राज्य को जान-बूझकर छाँटा है। वहाँ पहुँचने में ही यहाँ वालों को तीन दिन लग जाएँगे। इधर के हस्तक्षेप से निर्विघ्न होकर वहाँ वह अपना काम सुचारु रूप से पूरा करेगा।

"अहा! आपने वहाँ की गहन पर्वतमालाएँ और भीषण वनस्थली देखी नहीं है। उसके मुकाबले आपके चम्बल के बीहड़ घर के सपाट आँगन जैसे दीखेंगे और आप पछताएँगे कि हाय! अपने पैतृक व्यवसाय के लिए मैंने इसे अपनी कर्मस्थली क्यों नहीं बनाया।"

तदनन्तर कलेक्टर सिंह ने विवाह-बाज़ार में आई.ए.एस. की हैसियत पर एक प्रवचन दिया। उसने यह भी बताया कि कन्याओं के पुत्रहीन पिता आई.ए.एस. को किस प्रकार अपना सर्वस्व समर्पित करने को आकुल रहते हैं। उधर टी. एम्. सिंह प्रशिक्षण अकादमी की राह से गुज़रकर, अपने राज्य में पहुँचकर, कलेक्टर बनने की प्रत्याशा में एक दूसरे पद पर आसीन होकर कालक्षेप करने लगा। एक वर्ष बाद ही कलेक्टर सिंह ने उसके विवाह के निमित्त एक विज्ञापन निकलवाया जिसकी टेक यही थी कि कन्या के गुण ही विवाह के एकमात्र आधार होंगे।

यह विज्ञापन गंगा-यमुना क्षेत्र के एक ऐसे ठेकेदार ने पढ़ा जो अब भवन-निर्माता बनकर गुजरात के धनिकों के धन को ध्वस्त कर रहा था। उसके पास सैकड़ों एकड़ ज़मीन, बाग और अकूत सम्पत्ति थी। उसके पास सबकुछ था, केवल सामाजिक प्रतिष्ठा न थी। उसकी पूर्ति एक आई.ए.एस. जामाता द्वारा ही सम्भव थी जो उसके कुल से जुड़कर उसे अपने नाम की गरिमा दे और आगे चलकर कुछ ज़्यादा वरिष्ठ हो जाने पर श्वसुर के ख़िलाफ़ सरकारी अड़ंगों में विघ्न-विनाशक अर्थात् हैसियतदार दलाल बने।

भवन-निर्माता ने सोचा, "अहो! जो जैसा दीखता है वैसा नहीं होता। कहा भी है कि—

"मोटी खादी के पाजामे के नीचे रेशमी चड्डी छिपी है, उगते सूर्य की सुनहरी आभा में आग छिपी है, मन्त्री के घर में पलंग के नीचे टुटहे बक्से में एक करोड़ के नोट छिपे हैं और कन्या के वांछित गुणों के पीछे श्वसुर के स्वर्ण बिस्कुटों की खनक छिपी है।

ऐसा विचारते हुए ठेकेदार ने दहेज में अगाध सम्पत्ति और सैकड़ों एकड़ ज़मीन-जायदाद देकर आई.ए.एस. की मर्यादा के अनुकूल टी.एम्. सिंह से अपनी कन्या का विवाह किया। पूर्वनिर्धारित प्रक्रिया के अनुसार टी.एम्. सिंह ने उसमें से सारी अचल सम्पत्ति और द्रव्य का अर्धभाग पिता को अर्पित कर दिया। उसके उपरान्त वह पत्नी सहित पूर्वोत्तर राज्य के अपने अल्पज्ञात ज़िले में चला गया।

तब कलेक्टर सिंह ने कहा, "जीजाजी, जो द्रव्य और सम्पदा आपको बेटे ने दी है, उसका मूल्य दो करोड़ रुपए से ऊपर है या नहीं?"

जीजा जी बोले, "है!"

कलेक्टर सिंह ने कहा, "बन्दूक सिंह डाका नहीं डालता, सिर्फ़ अगवा करके धन की वसूली करता है। अपने हिस्से में उसने अब तक कितना कमाया होगा?"

जीजा जी बोले, "आठ वर्ष में उन्नीस लाख, दो हज़ार, सात सौ बीस रुपए।"

कलेक्टर सिंह ने कहा, "तो आई.ए.एस. बनकर एक लड़की का अगवा करना ज़्यादा मुनाफे का काम रहा या बन्दूक सिंह की तरह...।"

जीजा जी ने उसकी बात काट दी, बोले, "पर इस तरह से टी.एम्. सिंह पकड़ का काम सिर्फ़ एक ही बार कर सकता है। बन्दूक सिंह के आगे पकड़ के लिए पूरी ज़िंदगी पड़ी है।"

कलेक्टर सिंह ने कहा, "साठ तक पहुँचने के पहले ही आप सठिया रहे हैं। अगर कल के दिन किसी पहाड़ी पगडंडी पर बहू का पाँव लड़खड़ा जाए और वह पाँच सौ फुट गहरे खुड्ड में गिर जाए तो उसकी गर्दन टूटेगी कि नहीं?"

जीजा जी बोले, "टूटेगी। बेचारी मर जाएगी।" कहकर वे कलेक्टर सिंह को उत्कंठापूर्वक देखने लगे।

कलेक्टर सिंह ने पूछा, "तब क्या होगा?"

जीजा जी ने पूछा, "क्या होगा!"

कलेक्टर सिंह ने कहा, "वह प्रदेश इतनी दूर है कि ठेकेदार साहब... क्या बताएँ, बेटी का मुँह भी न देख पाएँगे, उनके पहुँचने के पहले ही क्रिया कर्म हो चुका होगा।"

जीजा जी चुप रहे। कलेक्टर सिंह ने कहा, "सात-आठ महीने बाद टी.एम्. सिंह के लिए दूसरी पकड़ की तैयारी नहीं करेंगे?"

शमशेर सिंह सोचते रहे, अन्त में बोले, "करना ही पड़ेगा; बेचारा लड़का उम्रभर रँडुवा थोड़े ही रहेगा!"

अचानक उनका स्वर दुखी हो गया; कहने लगे, "पर अब वह इतना बड़ा अफ़सर है। उसका क्या भरोसा! सुना है कि इस नौकरीवाले प्रेम-विवाह बहुत करते हैं। वह भी बुरा नहीं। पर उसमें सबकुछ है, द्रव्य ही नहीं है।"

कलेक्टर सिंह ने कहा, "जो मूर्ख हैं वे प्रेम-विवाह करते हैं। जो बुद्धिमान हैं वे पकड़ का कारोबार करते हैं। दो केसों तक तो कोई दिक्कत ही नहीं है। इतनी दूर के इलाक़े में वह चाहे तो तीसरा केस भी कर सकता है। आपको भले ही न हो, मुझे अपने तोप सिंह पर पूरा भरोसा है।"

यह सुनकर शमशेर सिंह आश्वस्त हुए और छोटे बेटे से कोई सुखद समाचार पाने की उत्कंठापूर्वक प्रतीक्षा करते हुए सानन्द काल-यापन करने लगे।

कहा भी है (और यह शमशेर सिंह के ही लिए नहीं, सबके लिए शाश्वत सत्य है)—

> "अकेले एक बुद्धिमान और समर्थ पुत्र के होते हुए उसका पिता पैर फैलाकर निश्चिन्त सोता है, जबकि दस छोटे-मोटे डकैत पुत्रों का पिता होते हुए भी उसका सारा जीवन टुटपुँजिया सुनारों के यहाँ हँसली, पायजेब, नथनी जैसे निकृष्ट ज़ेवरों को आधे-चौथाई दाम पर बेचते ही बीतता है।

जीवन का एक सुखी दिन

सवेरे नहा-धोकर मैंने लांड्री से धुलकर आई हुई कमीज़ और पतलून पहनने को निकाली और ताज्जुब के साथ देखा, उनका कोई भी बटन टूटा नहीं है। तभी एक कोने में रखे हुए जूतों पर निगाह पड़ी; पुरानी आदत के मुताबिक आज के दिन नौकर ने उन पर काली पॉलिश लालवाले ब्रुश से नहीं की थी। जूते पर सही ब्रुश का प्रयोग हुआ था। मन-ही-मन मैंने कहा, यह मेरे जीवन का एक सुखी दिन होगा।

कॉलेज जाने के लिए बस पर चढ़ा और एक रुपए का नोट कंडक्टर के हाथ में दे दिया। जितनी रेज़गारी मिलनी थी, उसने वह पूरी-की-पूरी वापस कर दी। टिकट की पुश्त पर इकन्नी का प्रोनोट नहीं लिखा। सीट पर मेरी बगल में कोई महिला नहीं बैठी थी, इसलिए फ़िल्मी रोमांस की कमज़ोरी से फुर्सत पाकर मैं आराम से पैर फैलाकर बैठ गया। मेरे पड़ोस में एक साहब आज का अख़बार पढ़ रहे थे। मुझे उसकी ओर ताकता हुआ पाकर उन्होंने ऊपरवाला पन्ना मेरी ओर बढ़ा दिया। अख़बार में मैंने देखा, न उस दिन किसी विदेशी ने हिन्दुस्तान को तरक्की की सनद दी थी, न प्रधानमन्त्री की कोई स्पीच ही आई थी। अब मैं इत्मीनान से बिना ऊबे हुए अख़बार पढ़ने लगा।

रेलवे-क्रॉसिंग पर रेलवे के प्वाइंटमैन ने बस को आता हुआ देखकर भी फाटक खुला रहने दिया। बस बिना रुके हुए ऐसी आसानी से फाटक पार कर गई मानो ऐसा रोज़ ही हुआ करता हो। कॉलेज के पास बस के रुकते ही मैं बिना किसी को धकेले, बिना किसी के घुटनों से टकराए, बिना 'थैंक्यू' और 'सॉरी' कहे नीचे उतर आया। स्टैंड पर एक चाटवाला मुझे मिला तो ज़रूर, पर उसने न तो मेरी ओर देखा ही और न मुझे फुसलाने वाली आवाज़ में गरमागरम चाट की आवाज़ ही लगाई।

दिन-भर कॉलेज में बड़ा सुख रहा। लड़कों को यूरोप-यात्रा पर एक सीधा-सादा लेख पढ़ाया। दूसरे दर्जे में सदाचार की महिमा समझाई। न तो उन्हें कोई प्रेम-गीत ही पढ़ाना पड़ा, न किसी हास्य-व्यंग्यपूर्ण उक्ति का अर्थ समझाना पड़ा। खाली खंटे में मेरी कोई भी छात्रा अपनी किसी भाव-प्रधान कहानी या कविता में संशोधन कराने नहीं आई। किसी चापलूस छात्रों ने मेरी किसी असफल रचना की प्रशंसा नहीं की। किसी लेक्चरार ने विद्यार्थियों के सामने मुझे 'अमाँ यार' कहकर नहीं पुकारा। मेरे एक प्रतिद्वन्द्वी लेक्चरार के कमरे से कुछ विद्यार्थी क्रान्ति के नारे लगाते बाहर निकल आए। स्टाफ-रूम में प्रिंसिपल के बारे में खूब गन्दे-गन्दे क़िस्से, बिना अपनी ओर से कुछ कहे ही, फोकट में सुनने को मिल गए।

शाम को घर वापस आने के पहले एक मित्र मुझे एक बड़े रेस्तराँ में चाय पिलाने ले गए; पर बातें उन्होंने मुझे ही करने दीं, ख़ुद ज़्यादातर चुप रहे। रेस्तराँ के सामने रिक्शेवाले को पैसे देने के लिए मैंने अपनी जेबें टटोलीं, मेरी जेब से दस रुपए का नोट निकला, पर मित्र की जेब से पहले ही एक अठन्नी निकल आई। रेस्तराँ के भीतर भी मुझे कोई उलझन नहीं हुई। वेटर का हुलिया बड़े लम्बे-चौड़े रोबदार बुज़ुर्ग का न था। वह दुबला-पतला था और नौसिखिया-सा दिखता था। पड़ोस की मेज़ों पर न कुछ मसखरे नौजवान थे, न फ़ैशनेबल लड़कियाँ थीं, न हँसी के ठहाके थे; न कोई मुझे घूर रहा था, न कोई मेरे बारे में कानाफूसी कर रहा था। रेस्तराँ में भीड़ न थी, पर इतने लोग थे कि काउंटर के पीछे से मैनेजर सिर्फ़ हमीं को नहीं, औरों को भी देख रहा था। हमारे चलने के पहले पास की मेज़ पर दो गम्भीर चेहरेवाले आदमी आ गए और जब मैंने आपसी बातचीत में 'एक्ज़िस्टेंशिएलिज्म' का अनावश्यक ज़िक्र किया, तब उन लोगों ने निगाह उठाकर मेरी ओर देखा था। रेस्तराँ से बाहर आने पर मेरा एक परिचित बीमा-एजेंट सड़क के दूसरी ओर जाता हुआ दीख पड़ा, पर उसने मुझे देखा नहीं। इसके बाद अचानक ही मुझे तीन परिचित आदमी मिल गए। उन्होंने नमस्कार किया और उसका जवाब पाया। मेरे मित्र को कोई परिचित आदमी नहीं मिला।

घर वापस आकर मैंने श्रीमतीजी से सिनेमा चलने का प्रस्ताव किया पर उन्होंने क्षमा माँगी और कहा कि उन्हें लेडीज़ क्लब जाना है। इसलिए मैं पूर्वनिश्चय के अनुसार अपने एक मित्र के साथ सिनेमा देखने चला गया। सिनेमा का टिकट खिड़की पर ही मिला और असली क़ीमत पर मिला। पंखे के नीचे सीट मिल गई। सिनेमा शुरू होने के पहले साबुन, तेल और वनस्पति घी के विज्ञापनवाली फ़िल्में नहीं दिखाई गईं। पास की सीट से किसी ने सिगरेट के धुएँ की फूँक मेरे मुँह पर नहीं मारी। पीछे बैठनेवालों में किसी ने अपने पैर मेरी सीट पर नहीं टेके। अँधेरे में किसी ने मेरा अँगूठा नहीं कुचला। हीरो की मुसीबत पर किसी पड़ोसी ने सिसकारी नहीं भरी। हिन्दी की फ़िल्म थी, फिर भी वह अठारह रील पूरी करने के पहले ही ख़त्म हो गई। सिनेमा से बाहर आने पर कई रिक्शेवालों ने मिलकर मुझ पर हमला नहीं किया। रिक्शा करने पर मजबूर हुए बिना ही मैं पैदल वापस लौट आया। रात में सुनसान सड़क पर मेरे पैदल चलने पर भी कोई साइकिलवाला मुझसे नहीं टकराया, किसी मोटरवाले ने मुझे गाली नहीं दी, किसी पुलिसवाले ने मेरा चालान नहीं किया।

घर आकर खाना खाने बैठा तो उस वक़्त रुपए की कमी पर कोई घरेलू बातचीत नहीं हुई। नौकर पर गुस्सा नहीं आया। बातचीत के दौरान मैं श्रीमतीजी से साहित्य चर्चा करता रहा, यानी अपने साथ के साहित्यकारों को कोसता रहा। वे दिलचस्पी से मेरी बातें सुनती रहीं और मेरे टुच्चेपन को नहीं भाँप पाईं।

घर में चारों ओर शान्ति थी। किसी भी कमरे में बिना मतलब बल्ब नहीं जल रहा था, न बिना वजह किसी नल का पानी बह रहा था, न दरवाज़े पर कोई मेहमान पुकार रहा था, न रसोईघर में किसी प्लेट के टूटने की आवाज़ हो रही थी, न रेडियो पर कोई कवि-सम्मेलन आ रहा था, न पड़ोस में लाउडस्पीकर लगाकर कीर्तन हो रहा था। और सबसे बड़ी बात यह कि कल आनेवाला दिन इतवार था, उस दिन मेरे सभी उत्साही मित्र शहर से कहीं दूर, पिकनिक पर चले जानेवाले थे।

पहली चूक

उत्तम खेती मध्यम बान
अधम चाकरी भीख निदान।

यह कहावत पहले मैं कई बार सुन चुका था। अब हुआ यह कि बी. ए. पास करने के बाद मुझे अधम चाकरी मिली ही नहीं। इसलिए उसे भीख निदान समझकर मैंने खेती के उत्तम व्यवसाय में हाथ लगाना चाहा और अपने गाँव चला आया।

मेरे चाचा ने मुझे समझाया कि खेती का काम है तो बड़ा उत्तम, पर फारसी पढ़कर जिस प्रकार तेल नहीं बेचा जाता वैसे ही अंग्रेजी पढ़कर खेत नहीं जोता जा सकता। इस पर मैंने उन्हें बताया कि यह सब कुदरत का खेल है क्योंकि फारस में तेल बेचनेवाले संस्कृत नहीं पढ़ते, फारसी ही पढ़ते होंगे और इंग्लैंड के किसान सिर्फ़ अंग्रेज़ी ही नहीं बोलते, खेत भी जोतते हैं।

चचा बोले, "बेटा, यह खेती का पेशा तुमसे नहीं चलेगा। यह तो हम जैसे जाहिलों के लिए है। इसमें तो दिन-रात पानी और पसीना, मिट्टी और गोबर से खेलना पड़ता है।"

इस पर मैंने जवाब दिया कि यह शरीर ही मिट्टी का बना हुआ है और गोबर तो परम पवित्र वस्तु है। मिट्टी का स्थान यदि पंचभूत में है तो गोबर का स्थान पंचगव्य में है।

मेरे मुँह से पवित्रता की बात सुनते ही चचा दंग रह गए। आसपास बैठे हुए लोगों में 'धन्य है, धन्य है' का नारा लग गया। तब मैंने फिर कहना शुरू किया, "और चचा, यह खेती जाहिलों का पेशा नहीं है। बड़ों-बड़ों ने इसकी प्रशंसा की है। कार्लाइल ने इस पर लेख लिखे हैं, टॉलस्टाय तो स्वयं किसान ही हो गया था, वाल्टेयर खुद बागबानी करता था, ग्लैडस्टन लकड़ी चीरता था। अपने देश में भी गौतम जैसे ऋषि गेहूँ बोते थे। वैसे तो, कन्दमूल-फल खाने के कारण उनकी दिलचस्पी हॉर्टिकल्चर में थी और वे ज़्यादातर फल और शकरकन्द ही पैदा करते थे। इसलिए खेती को उत्तम मानना ही चाहिए। मैं कल से खेती करूँगा। मेरा यही फ़ैसला है।"

मेरे चचा मेरी बात से प्रभावित तो हुए पर बोले, "बेटा, खेती तो करोगे पर इतना समझ लो कि खेतों के आसपास न तो कॉफ़ी हाउस होते हैं, न क्लब; सिनेमाघरों की गद्देदार कुर्सियों की जगह अरहर की ठूँठियों पर घूमना-फिरना होता है।"

यहाँ मैं आपको बता दूँ कि मुझे सिनेमा का बड़ा शौक है। वह इसलिए कि सिनेमा खेती की उन्नति का एक अच्छा साधन है। सिनेमा द्वारा खेती का बड़ा प्रचार हुआ है। बड़े-बड़े

हीरो खेत जोतते हैं और गाते जाते हैं। हीरोइन खेत पर टोकरी में रोटी लेकर आती है। हरी-भरी फसल में आँखमिचौली का खेल होता है। फसल काटते समय हीरोइन के साथ बहुत-सी लड़कियाँ नाचती हैं और गाती भी हैं। वे नाचती जाती हैं और फसल अपने आप कटती जाती है। ऐसे ही मधुर दृश्यों को देखकर पढ़े-लिखे आदमी गाँवों में आने लगते हैं और खेतों का चक्कर काटने लगते हैं। इस प्रकार सिनेमा द्वारा खेती की शिक्षा मिलती है। सच पूछिए तो खेती करने की सच्ची शिक्षा मुझे भी सिनेमा से ही मिली थी।

दूसरे दिन चचा ने मुझसे खेतों पर जाकर काम करने के लिए कहा। मैंने पूछा, "खेत कहाँ पर हैं।"

उन्होंने कहा, "गाँव के दक्खिन की ओर, रमेसर की बाग के आगे से गलियारा जाता है। गलियारे से पश्चिम एक राह फूटती है। राह से उत्तर एक मेड़ जाती है, मेड़ के पूरब गन्ने का एक खेत है। गन्ने के खेत के पास बाजरा खड़ा है। वहीं अपने खेत जोते जा रहे हैं। तुम वहीं जाकर काम देखो।"

मैं चल पड़ा। कुवार का महीना था। आसमान पर हल्के-हल्के बादल थे। ताड़ और खजूर के पेड़ हिल-हिलकर एक-दूसरे के गले मिल रहे थे। सब कुछ सिनेमा जैसा लग रहा था। तभी आगे एक कुआँ दीख पड़ा। सिनेमा में हीरोइन कुएँ पर पानी भरती है और हीरो खेत की ओर जाते हुए उससे बातें करता है। मैंने रुककर सीटी बजाई पर कुआँ सुनसान था। किसी के पायल नहीं झनके, न कोई घड़ा टूटा। इसी तरह पूरा रास्ता कट गया। न खेतों में आँखमिचौली का दृश्य दीख पड़ा, न हीरो ने बाँसुरी बजाई। न हीरोइन ने गाना सुनाया। न खेतों में किसानों ने कोरस गाये। मुझे देहात से बड़ी निराशा हुई। चुपचाप मैं अपने रास्ते पर चलता गया।

अब मैं ऐसी जगह पहुँचा जहाँ मेरे खेत होने चाहिए। चचा ने बताया था कि वहीं गन्ने का खेत है और वहीं बाजरा खड़ा है। मैं गन्ने के बारे में ज़्यादा नहीं जानता था। इसलिए बाजरे का सहारा लेना पड़ा। एक मेड़ पर एक अधेड़ किसान खड़ा था। उसके पास जाकर अपना गाना बन्द करते हुए मैंने पूछा, "आपका नाम बाजरा तो नहीं है?"

किसान ने मेरी ओर घूरकर देखा, फिर घबराहट के साथ पूछा, "यह आप पूछ क्या रहे हैं? मेरा नाम तो रामचरन है।"

मैंने रामचरन के कन्धे पर हाथ रखकर सार्वभौमिक मित्रता के भाव से कहा, "तो भाई रामचरन, मुझे बताओ यह बाजरा कौन है? कहाँ रहता है? यह खड़ा कहाँ है? इसे क्यों खड़ा किया गया है?" मेरी बात सुनते ही रामचरन ज़ोर से हँसने लगा। आसपास काम करते हुए किसानों को पुकारकर उसने कहा, "यह देखो, ये भैया तो बाजरा को आदमी समझ रहे हैं।" दो-तीन किसान हँसते हुए वहीं आ गए। मैं समझ गया कि मुझसे चूक हो गई। इसलिए बात पलटते हुए मैंने कहा, "ओ, मैं तो हँसी कर रहा था। दरसअल मैं तो बाजरे के पेड़ की छाँह ढूँढ रहा हूँ। उसी पेड़ के पास मेरे चचा के खेत हैं।"

इस बार वे किसान कुछ और ज़ोर से हँसे। मुझे भी झेंप-सी लगी। पर मैंने हँसकर इस बात को टाल दिया।

दूसरे दिन से ही मुझे इस बात की चिन्ता हुई कि ऐसी चूक मुझसे कहीं दोबारा न हो जाए। इसलिए कृषि-शास्त्र की मोटी-मोटी किताबें मँगवाकर मैंने उनका अध्ययन

आरम्भ कर दिया। गाँव से मैं हताश हो गया था। यहाँ वह था ही नहीं जो मैंने रुपहले पर्दे पर देखा था। फिर भी मैं अध्ययन करता रहा। अध्ययन करते-करते मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि आदर्श खेती गाँव में हो ही नहीं सकती, वह शहर ही में होती है। यह सब इस प्रकार से हुआ।

मुझे बीज और खाद खरीदने के लिए बीज-गोदाम जाना पड़ा। बीज-गोदाम के कर्मचारी शहर गए हुए थे। इसलिए मैं भी शहर चला गया। दूसरे दिन मुझे अपने खेतों में अच्छे हलों से जोताई करानी थी। अच्छे हल शहर में मिलते हैं। इसलिए मैं फिर शहर पहुँचा। तीसरे दिन मुझे नहर में एक नया पाइप लगवाने की ज़रूरत जान पड़ी। उसके लिए नहर के बड़े इंजीनियर का हुक्म लेना पड़ता है। वे शहर में रहते हैं। इसलिए मैं फिर शहर गया। चौथे दिन कुछ कीटाणुनाशक दवाइयाँ खरीदने के लिए मुझे शहर का चक्कर लगाना पड़ा। फिर मुझे कृषि-विभाग के एक कर्मचारी की शिकायत करने के लिए शहर जाना पड़ा। उसके बाद में मैं जितना ही खेती की समस्याओं को समझता गया, उतना ही शहर जाने की आवश्यकता बढ़ती गई। इसलिए एक दिन मैंने कृषि-शास्त्र की सब किताबें एक बैग में बन्द कीं, और अपनी कार्डुराय की पतलून और रंग-बिरंगी छापेदार बुश्शर्ट पहनी, फेल्ट कैप लगाई और चचा से कहा, "देखिए, यह खेती का काम ऐसा है कि बिना शहर गए इसे साधना कठिन है। इसलिए मैं शहर जा रहा हूँ। वहीं रहूँगा और वहीं से वैज्ञानिक ढंग की खेती करूँगा।"

चचा ने प्रसन्नतापूर्वक हँसकर कहा, "जैसे खूँटे से छुटी हुई घोड़ी भूसे के ढेर पर मुँह मारती है, जैसे धूप में बँधी हुई भैंस तालाब की ओर दौड़ती है, वैसे ही तुम्हारा शहर की ओर जाना बड़ा ही स्वाभाविक और उचित है। मैं आदमी पहचानने में कभी चूक नहीं करता। पर तुम्हें पहचानने में ही मुझसे पहली चूक हुई है। जाओ, शहर ही में रहकर खेती करो।"

मैंने भी प्रसन्न मुद्रा में कहा, "नहीं चचा! चूक आपसे नहीं हुई, पहली चूक तो मुझी से हुई थी जो मैंने बाजरे को पहले आदमी समझा और बाद में उसे छायादार पेड़ समझता रहा। पर कोई बात नहीं। अब मैं शहर में रहकर बाजरे के विषय में अपनी रिसर्च करूँगा और बताऊँगा कि किस खाद के प्रयोग से बाजरे की लताओं में मीठे और बड़े-बड़े फल लाए जा सकते हैं।"

इस प्रकार हम दोनों ने प्रसन्नतापूर्वक एक-दूसरे से विदा ली। मैं सीटी बजाता हुआ स्टेशन की ओर चल दिया और वे बैलों की पूँछ उमेठते हुए खेत की ओर चले गए।

उपन्यास अंश

सूनी घाटी का सूरज

छात्रावास के विशाल भवन में दुमंजिले पर एक कोने का कमरा। सवेरे के सात बजे हैं। पूरब की एक खिड़की खुली है। बाँसों का एक झुरमुट उसकी ऊँचाई तक बढ़ आया है। उनके लम्बे पत्तों के जाल को भेदकर प्रकाश की किरणें खिड़की की राह कमरे में आ रही हैं। पश्चिम की दीवाल पर छाया-प्रकाश के चित्र बन रहे हैं।

कमरा हॉस्टल के एक कोने में है; अतः यहाँ एकान्त है।

अन्दर पश्चिम की ओर एक चारपाई है। उस पर केवल एक दरी फैली हुई है। किताबों के ढेर उस पर पड़े हैं। पूरब की ओर, खिड़की के ठीक नीचे, जूट का एक सस्ता कालीन बिछा है। उसके कुछ अंश पर मोटा गद्दा और सफ़ेद चादर पड़ी है।

रामदास इसी पर पायजामा और बनियाइन पहने, लेटा हुआ एक पुस्तक पढ़ रहा है। उसके पैताने एक मेज़ पर लिखने का सामान रखा है, वहीं एक पुराना टाइपराइटर है। मेज से ही मिला हुआ कमरे का दरवाज़ा है, जो बाहर बरामदे में खुलता है।

उत्तर की ओर दो कुर्सियाँ पड़ी हैं। उन्हीं के पास एक छोटी मेज पर चाय की एक केतली, कुछ प्याले, चम्मच, स्टोव आदि बेतरतीब रखे हुए हैं।

मेज से मिली हुई एक खिड़की, जिसके दूसरी ओर हरे-भरे पेड़ों के बीच बसे हुए बँगले, पतली सड़कें, उसके कुछ दूर आगे गोमती की धारा, उसके आगे पेड़ों के ऊपर उठकर अपना मस्तक दिखानेवाली कुछ मीनारें, मस्जिदों के गुम्बद, एक सिनेमाघर की टीन की छत और अनेक इमारतें दिखाई देती हैं।

वह जो पढ़ रहा है, वह उसी के संस्मरणों के नीचे सत्या का लिखा हुआ पत्र मात्र है—

प्रिय रामदास,

तुम्हारी अनिता को मैं जानती हूँ। जिस प्रकार तुमने उसे मुझसे परिचित कराया, उसका अर्थ भी तुमने अपने बाद के पत्र में स्पष्ट कर दिया है।

तुमने अनिता को जिस प्रकार अपने संस्मरणों में याद किया है, उसको पढ़कर कोई उपन्यास-प्रेमी उसे न जाने किन कल्पनाओं की दृष्टि से देखेगा। पर, जहाँ तक मैं समझी हूँ, तुम्हारी मित्रता में सबकुछ स्पष्ट, पारदर्शी-सा है। ऐसा कुछ नहीं है जिसको लेकर भावुक किशोर पाठकों के पढ़ने लायक कथा-कहानियों का सृजन हो सके।

और, उसे या किसी और को अपनी प्रेरणा का आदि स्रोत बताकर अतिशयोक्ति का

मोह दिखाने से क्या लाभ?

मैंने उस दिन कहा था—यह सब हीरो-वरशिप है। किसी के व्यक्तित्व से अपने जीवनक्रम को और जटिल बनाने से क्या मिलेगा?

तुम्हारी क्रियाओं के मूल में तुम्हारी अपनी ही अगाध शक्तियाँ हैं, तुम्हारी अपनी प्रेरणा है, और "तुम यह स्वयं जानते हो...।"

पुस्तक वह यहीं बन्द कर देता है और मेज के ऊपर पड़े हुए दूसरे कागजों को उलटने-पुलटने लगता है।

एक-दूसरे कागज पर सत्या ने उसे लिखा है :

— तुम्हें ऐसा कौन-सा आवश्यक काम लग गया था, जो तुम मेरी शादी तक में नहीं आए! तुम्हारी शुभेच्छाओं और बधाइयों-भर से तुम्हारे न आने की कमी पूरी नहीं हो सकती। पापा ने बहुत बुरा माना है।

— वे इस वक़्त कितना अकेलापन महसूस करते होंगे। तुम जानते हो, वे तुम्हें कितना चाहते हैं! तुम उनसे मिलते रहना।

— कल रात मुझे तुम्हारी अनिता याद आती रही। यह नाम बहुत अच्छा लगता है। पर, तुम तो कहते हो वह एक संज्ञा-मात्र है।

वह कमरे के बाहर बरामदे में आता है। थोड़ी देर टहलता रहता है। फिर दो कमरों बाद के बाथरूम में वापस आकर, शीशा हाथ में लिए हुए कन्घे से बाल ठीक करने लगता है। शीशे में उसके मुँह की छाया पड़ रही है।

यह ऐसा मुँह है जिसे कोई भी चित्रकार कुछ आड़ी-तिरछी रेखाओं और त्रिकोणों के सहारे चित्रित कर सकता है।

मत्था बहुत कम चौड़ा है। आँखें गढ़े में हैं और छोटी हैं। नाक कुछ बड़ी है। रंग साँवला है। गरदन पतली है। उसकी अस्थियाँ ऊपर से दीख पड़ती हैं। कुल मिलाकर ऐसे चेहरे को न सुन्दर कहा जा सकता है, न असुन्दर। यह एक अति साधारण चेहरा है।

वह कुछ देर आईना देखता रहता है। फिर उसे उलटकर मेज़ पर रख देता है।

उसकी आँखों के आगे उपन्यासों में, नाटकों में, चलचित्रों में आनेवाले अनेक नायकों के आकार उठ-उठकर खड़े होने लगते हैं।

अब वह आँखें मूँदकर बिछे हुए फर्श पर लेट गया है।

वह इन नायकों को देखता है जो अपनी प्रेमिकाओं के साथ चाँदनी रात में नदी के किनारे खड़े हुए चाँद के प्रतिबिम्ब को धारा में हिलता हुआ देख रहे हैं। पर्वत की ऊँचाई से, एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए तेजी के साथ दौड़कर आते, ढाल पर दिखाई दे रहे हैं। समुद्र के किनारे बालू पर नहाने के सूट पहने हुए सूर्य के प्रकाश को अपने अंग-अंग में आत्मसात कर रहे हैं। बाग में बैठे हुए चाय पी रहे हैं। बैडमिंटन खेल रहे हैं। जाड़े की कुहरे-भरी रात में, सड़क के ऊपर चलते हुए, बिजली के बावजूद फैले हुए अँधेरे में अपनी भारी चेस्टर के पल्ले से किसी के कन्धों को अधूरा ढँककर धीरे-धीरे चले जा रहे हैं।

इनमें किसी का मत्था प्रशस्त है। वर्ण गौर है। स्वस्थ, लम्बा, सुदृढ़ शरीर है। दूसरा देखने में दुबला है, चेहरा लम्बाकार है। देखने में कुछ रामदास—जैसी ही आकृति है, परन्तु उसकी आँखों की चमक और कलापूर्ण-केश विन्यास उसे रामदास से बहुत भिन्न, नायकवत

बना देते हैं। कुछ नायक उसी की-सी चेष्टा के हैं। परन्तु, उनके अंग यूनानी मूर्तियों-जैसे इतने स्पष्ट हैं कि वे उन्हीं के आधार पर नायिकाओं के अधिकारी हो जाते हैं। किसी की उँगलियाँ लम्बी, पतली और कोमल हैं। चेहरा लावण्यपूर्ण और स्निग्ध है। उसकी वाणी का मधुर गाम्भीर्य उसका विजयास्त्र है।

रामदास की कल्पना इसी आकार पर जाकर रुक जाती है, क्योंकि यह रामानुज है। वह धीरे-धीरे मुस्कुराता हुआ कॉफ़ी पी रहा है। पास ही सत्या कोई बात कहकर सरल स्वच्छ भाव से हँस रही है। उसके प्याले से भाप उठ रही है।

मेज पर सत्या का पत्र पड़ा हुआ है। उसी के पास सुनहरे अक्षरों में एक निमन्त्रण-पत्र पर चमक रहा है—

"श्री चारुचन्द्र चटर्जी के सुपुत्र श्री रामानुज चटर्जी।"

वह उसी पत्र की ओर देखता है। पर आँखों के आगे रामानुज और सत्या का चित्र उसी भाँति टिका हुआ है।

सत्या। वह श्री सत्येन्द्रनाथ की सुपुत्री। रामानुज, श्री चारुचन्द्र चटर्जी के सुपुत्र। थ्री सी। रामानुज का नाम भी एक महापुरुष का नाम है। पिता के नाम में तीन सी हैं। अंग्रेज़ी के हस्ताक्षर भी देखने की चीज़ है।

पर, यह नाम—रामदास—ही उसे किसी रोमांटिक घटना का नायक बनने से रोकता है। नहीं तो रामानुज, हीरेन या अनिल-जैसा उसका भी नाम होता। उसे पंकज कहा जाता। भविष्य की नायिकाएँ उसे लिखतीं, "प्रिय पंकज। देखो पंकज, मैं तुमसे बहुत नाराज़ हूँ।"

पर, जहाँ यह नामकरण हुआ, वहाँ लोगों को नाम की इन सुविधाओं का बोध नहीं है। वे आसमान की ओर मुँह उठाकर, 'रमदसवा' को आसानी से पुकारते हैं। 'हीरेनवा' कहने में असुविधा होती है।

रामदास का सारा अतीत, सारा वर्तमान, नाम, रूप, सब उसे चारों ओर से घेरने लगते हैं।

फर्श पर बिछे हुए गद्दे पर वह लेटा हुआ है। चुपचाप लेटा रहता है। उसे लगता है कि वह किसी आघात पर दुखी होने की क्षमता खो चुका है। जैसे कि उसके पूर्वजों को निरीहता, उसके अतीत की नगण्यता उसे आघात तक ग्रहण करने का गौरव नहीं लेने देतीं।

○ ○ ○

जुलाई का महीना है।

एक बड़े-से कमरे में लगभग पन्द्रह-बीस आदमी कुर्सियों पर आराम की मुद्रा में बैठे हुए हैं। बाहर बादल छाए हुए हैं। भीतर अँधेरा है, इसीलिए बिजली जला दी है। प्रायः सभी सूट पहने और टाई लगाए हुए हैं। प्रायः सभी सिगरेटें पी रहे हैं। उनके धुएँ में एक-दूसरे के मुँह धुँधले दिखाई पड़ते हैं।

एक नाटे कद का व्यक्ति, जिसका रंग काला है, नाक चिपटी है, गाल फूले हुए हैं, और जिसने एक कीमती सूट और हाथों में नीलम, पुखराज और हीरे की अँगूठियाँ पहन रखी हैं, सबको सुनाकर कह रहा है, "मुद्रास्फीति के बारे में मेरी जो धारणाएँ हैं, उनको मैंने अपने इस पचास पेज़ के लेख में पहली बार बड़े निश्चयपूर्वक प्रकाशित कराया है। मेरे कुछ

सहयोगी मित्र कहते थे...।"

वह खाँसने लगता है। खाँसी रुकने पर फिर सामने बैठे हुए एक नवयुवक को लक्षित करके कहता है, "क्यों दिनकर साहब, आप कहिए न, पहले आपके क्या विचार थे इस लेख के बारे में?"

यही प्रोफेसर सिन्हा हैं।

दिनकर दबी ज़बान में कहता है, "मैंने कभी डिनाउंस तो किया नहीं। दरअसल इस समस्या पर मेरे अपने विचार थे ही नहीं...। मैंने तो दूसरे विद्वानों की प्रतिक्रिया आपको सुनाई थी।"

सिन्हा कह रहा है, "पर इस महीने के 'इकनॉमिक्स जर्नल' में इसका रिव्यू आप लोगों ने देखा? एक बार जब मैंने हिम्मत करके ये विचार सबके सामने रख दिए तो सभी अपनी सहमति दिखाने लगे। पर, पहले इस पर किसी ने कुछ लिखने का साहस नहीं किया था।"

प्रोफेसर सिन्हा की बगल में एक अधेड़ अवस्था का प्रियदर्शन व्यक्ति बैठा है। वह भी अर्थशास्त्र विभाग में इसी वर्ष अध्यापक नियुक्त हुआ है। पहले किसी छोटे कॉलेज में छोटी कक्षाओं को पढ़ाता था। अवसर पाकर वह मीठी आवाज़ में कहता है, "आपने परिश्रम भी बहुत किया था उस लेख को लिखने में।"

प्रोफेसर सिन्हा आँख मूँदकर निषेध में अपना सिर हिलाता है और कहता है, "यह बात नहीं है, मिस्टर बाजपेयी। उस लेख का महत्त्व मौलिक विचारों के कारण है, परिश्रम द्वारा खोजी गई सामग्री के कारण नहीं। परिश्रम मैंने बहुत कम किया है, बल्कि अपने सब लेखों और पुस्तकों में सबसे कम परिश्रम मैंने इसी लेख में किया है।"

दूसरी ओर बन्द गले का कोट पहने एक बुड्ढा आदमी बैठा है। वह खाँसते हुए कहता है, ''परिश्रम तो आपके किसी विद्यार्थी ने किया होगा। क्या है उसका नाम?...हाँ, रामदाससिंह। उसी ने शायद सब आँकड़े इकट्ठे किए हैं। आपने तो उसकी सहायता भूमिका में स्वीकार की है।"

प्रोफेसर सिन्हा जल्दी-जल्दी बोलने लगता है, "भूमिका में मैंने तो, साफ़ लिखा है कि मेरे रिसर्च के छात्र रामदाससिंह ने लेख लिखने के लिए काफ़ी सामग्री जुटाई है। वैसे भी वह बड़ा परिश्रमी और योग्य विद्यार्थी है।"

बुड्ढा आदमी बार-बार खाँस रहा है और धुएँ द्वारा आक्रान्त वायुमंडल में बार-बार मुँह ऊपर उठाकर ओंठों से विचित्र चेष्टाएँ करता है। उन्हीं चेष्टाओं के बीच वह यह बात धीरे-से कहता है, "लोगों का कहना है कि यह लेख रामदाससिंह का ही लिखा हुआ है।"

प्रोफेसर सिन्हा छत की ओर देखकर हँसने लगता है। फिर कहता है, "लोग सही कहते हैं। इस लेख की पांडुलिपि रामदास ने ही तैयार की थी। प्रूफ भी उसी ने देखा था।"

पर वह बुड्ढा आदमी अपना मुँह विकृत चेष्टा में फाड़कर प्रोफेसर सिन्हा की ओर देखता हुआ कहता है, "हँसकर बात न टालिए, जनाब! आपकी इज्जत खतरे में है।"

प्रोफेसर सिन्हा के चेहरे की मांसपेशियाँ अब हँसी के तनाव को छोड़कर शिथिल पड़ जाती हैं। वह खड़ा हो जाता है। पतलून की जेबों में हाथ डालकर गम्भीरता के साथ चलकर, थोड़ी अकड़ दिखाता हुआ, वह बुड्ढे के पास आकर खड़ा होता है और धीमी आवाज

में कहता है, "आप मेरा चाहे जितना अपमान कर लें, चाहे जितने आरोप मेरी पुस्तकों के ख़िलाफ़ लगा लें, पर आपको दो चीज़ें कभी हासिल नहीं होंगी—न आप कभी लेक्चरार से रीडर होंगे और न अगले साल रिटायर होने के पहले आपको एक्सटेंशन मिलेगा।" उसके बाद आवाज़ को ऊँचा करके बुड्ढे के कन्धे को थपथपाते हुए कहता है, "समझ गए, मिस्टर भट्टाचार्य!"

बुड्ढा खाँसी के वेग को चेष्टापूर्वक दबाकर कोई बात कहने के लिए मुँह खोलता है, पर रुक जाता है। प्रोफेसर सिन्हा कमरे के बाहर चला गया है।

थोड़ी देर तक सब एक साथ बोलते रहते हैं। पहले से सिन्हा के पास बैठा हुआ मिष्टभाषी युवक कोई एक लम्बा व्याख्यान देना आरम्भ कर देता है। बुड्ढा भट्टाचार्य अपनी खाँसी और भर्राई आवाज़ के संघर्ष में लीन हो जाता है। सब अपनी-अपनी कह रहे हैं। कोई किसी की नहीं सुन रहा है।

थोड़ी देर बाद आवाज़ें दबने लगती हैं। लोगों ने अपनी बात सुनाने की असम्भव चेष्टा छोड़ दी है। केवल भट्टाचार्य रह-रहकर आवाज़ को ऊँचे स्वर पर उठाकर कहता रहता है, "इट इज़ ए शेम। यूनिवर्सिटी में जहाँ प्रतिभावान विद्यार्थियों को आगे बढ़ाना चाहिए, वहाँ इस तरह की बेईमानी, इस तरह एक्सप्लायट करना—दिस इज़ डिस्ग्रेसफुल।"

कोई भट्टाचार्य के पास आकर धीरे-से कान में कहता है, "आप यह सब क्या कह रहे हैं! यह स्कैंडल है। प्रोफेसर सिन्हा आप पर मुकदमा चला सकता है।"

पर भट्टाचार्य आवाज़ को और ऊँचा उठाकर कहता है, "क्या बकता है, यंग मैन! सच्चाई को मुकदमे से कभी छिपाया जा सकता है? यह भी छिपाया जा सकता है कि इस साल रामदाससिंह को लेक्चरार किस कारण नहीं बनाया गया? क्या यह छिपी बात है कि उस थर्ड डिवीजनर छोकरे को सिर्फ़ इसीलिए यह जगह दे दी गई कि यह किसी खास आदमी का दामाद है? इस गरीब लड़के को इसीलिए दो साल से धोखा देते चले आ रहे हैं कि लेक्चरार बना देने के बाद उसके दिमाग का व्यापार न हो पाएगा। क्यों जी, क्या तुम लोग यह नहीं जानते? जानते हो न? तब इस बात को कह देने में क्या स्कैंडल है?"

सब सुनते रहते हैं, भट्टाचार्य अपनी बात कहकर हँसने लगता है। अपनी लम्बी घनी सफ़ेद मूँछों को हाथ की पुश्त से ओंठों के ऊपर उठाकर फिर धीमी आवाज में कहता है, ''मैंने साफ़ बात कह दी। जिसे जो करना हो, करे।"

पर उसकी इस उत्तेजना का जवाब कोई नहीं देता। थोड़ी देर सब बैठे हुए चुपचाप सिगरेटें पीते रहते हैं। उसके बाद दो-दो, तीन-तीन आदमियों के बीच नए विषयों पर खोखली बातें होने लगती हैं।

○ ○ ○

कमरे के बीचोंबीच छत से लटकता हुआ एक नंगा बल्ब जल रहा है। उसी के प्रकाश में रामदास फर्श पर बैठा हुआ कुछ लिख रहा है। सामने कुछ लिफाफे फैले पड़े हैं। उन पर पते लिखे हैं।

''श्री श्याममोहन अग्रवाल, नेशनल ऑटोमोबाइल, कानपुर।"

''सुरेन्द्रप्रताप बहादुरसिंह, छितवाँ राज्य।"

"श्रीमती सत्या चटर्जी, केयर ऑफ श्री रामानुज चटर्जी, आई.पी.एस.।"

पत्र लिखना समाप्त करके वह उसे लिफाफे में बन्द करता है। उस पर पता लिखता है, "श्री अमजद अली ज़िलेदार नहर...।"

तभी दरवाजे पर किसी की विनीत आवाज़ सुनाई देती है, "मैं अन्दर आ सकता हूँ!" एक दुबला-पतला आदमी, पायजामा और एक पुरानी अचकन पहने दरवाज़े पर खड़ा है। सर पर बालों का भारी बोझ है, पर उसने उन्हें बहुत संभालकर बीच में माँग निकाल रखी है। बाल इतने लम्बे हैं कि उनके कारण कान दिखाई नहीं देते। बड़े ही अनुनय के स्वरों में एक विचित्र नाटकीयता के साथ क्षमा माँगता वह कमरे में प्रवेश करता है। कुर्सी पर बैठकर रूमाल से अपने मुँह को रगड़कर पोंछता हुआ कहता है, "मैं राघवेन्द्र हूँ। श्री श्याममोहन जी ने अपने पत्र में मेरे विषय में लिखा होगा।"

रामदास उत्सुकतापूर्वक उठकर बगल में दूसरी कुर्सी पर बैठ जाता है और कहता है, "अच्छा, तो आप राघवेन्द्र जी हैं?" उसके बाद मेज पर फैले हुए कागजों से एक पत्र निकालकर सरसरी दृष्टि डालता है।

राघवेन्द्र अनुनय की भाव-भंगिमा और चापलूसी का सहारा लेकर कहने लगता है, "श्याममोहन जी ने आपकी प्रशंसा की है। उन्होंने कहा कि आपके हाथ में इस नवीन पत्रिका का भविष्य देकर सेठ जी निश्चिन्त होकर बैठ सकते हैं। सेठ जी ने श्याममोहन जी से स्पष्ट कह दिया कि वे प्रारम्भ से ही आपके निमित्त दो सौ रुपए मासिक की व्यवस्था कर देंगे। इसे वेतन तो क्या कहा जाए, केवल हम लोगों की श्रद्धा के पत्र-पुष्प मात्र हैं।"

रामदास ने उस पत्र को राघवेन्द्र की ओर बढ़ा दिया और कहा, "यह सब श्याममोहन ने मुझे पहले ही से सूचित कर दिया है। आप पत्र पढ़ लें।" कुछ रुककर वह फिर कहने लगा, "मुझे यूनिवर्सिटी में अच्छा नहीं लगता। इस समय मुझे जो भी काम मिलेगा, मैं कर लूँगा; परन्तु पत्रकारिता के विषय में मेरा कोई अनुभव नहीं है। पता नहीं आपकी इस मासिक पत्रिका का भार मैं सम्भाल भी पाऊँगा या नहीं...?"

खड़े होकर राघवेन्द्र बड़े ही अनुनय के स्वरों में कहता है, "नहीं-नहीं, यह तो आपकी विनम्रता-मात्र है। आप क्या नहीं कर सकते? और, यह पत्रिका भी तो केवल नाम की पत्रिका है। सेठ जी की इच्छा है कि गोरक्षण के विषय में एक छोटी-सी मासिक पत्रिका निकला करे। उन्हीं की इच्छा का यह परिणाम है। आप इस काम को स्वीकार कर लें। सारे साधन तो सेठ जी स्वयं जुटा देंगे। इसके व्यय का, बिक्री का, सारा भार सेठ जी ही पर होगा।"

उसके बाद आत्मीयता के साथ वह कहता है, "सेठ जी यहीं आए हैं। होटल में रुके हैं। आप भी चलकर उन्हें दर्शन दे दें।"

रामदास कहता है, "चलिए।"

जब तक वह कुर्ता और टोपी पहनता है, तब तक राघवेन्द्र मेज पर कुछ लिखने लगता है। रामदास को चलने के लिए उद्यत देखकर उसके सामने आकर वह धीरे-से कहता है, "यह पर्चा अपने पास रख लें। सेठ जी से इसी के अनुसार बातचीत हो तो अच्छा है।" वह कुछ देर तक पर्चे को देखता रहता है, फिर भारी स्वर में पूछता है, "यह क्या है?"

राघवेन्द्र अपने शरीर को एक विचित्र मुद्रा से लपलपाता हुआ, अनुनय के बोझ से दबी-सी आवाज में जल्दी-जल्दी कहता है, "यह कुछ नहीं है। पत्रिका का नाम हम लोगों ने

सोचा है 'कामधेनु'। इस पर्चे में मैंने कामधेनु परिवार के मुख्य सदस्यों के नाम लिख दिए हैं।"

उँगली के इशारे से वह प्रत्येक नाम को समझाता चलता है; यह है सेठ जी का नाम। प्रधान सम्पादक वही रहेंगे। सेठ महेशमल। ये नाम हैं उपसम्पादक के, सेठ गणेशमल, सेठ दिनेशमल और सेठ सुरेशमल। उसके बाद प्रबन्ध सम्पादक दो रहेंगे, एक तो सेठ गंगाराम और एक आपका सेवक मैं।

रामदास पर्चे को मेज पर रख देता है। तमककर पूछता है, "मैं क्या करूँगा?

वह बड़ी ही आत्मीयता के साथ कहने लगता है, "आप तो कामधेनु परिवार के सर्वस्व होंगे। आप तो सभी कुछ करेंगे। वैसे अपना नाम भी देना आवश्यक समझें तो उपसम्पादकों में दें।

सेठ जी का विचार था कि सम्पादक-मंडल में अधिक नाम न हों, परन्तु चार-पाँच नामों का होना तो अधिक नहीं है।"

अन्तिम वाक्य कहते-कहते राघवेन्द्र के स्वर से उत्साह जाता रहता है क्योंकि रामदास ने अपनी टोपी उतारकर पलंग पर फेंक दी है और स्वयं कुर्सी पर बैठ गया है। राघवेन्द्र कुछ रुककर कहता है, "तो चलिए।"

रामदास सहसा चिल्लाकर कहता है, "गेट आउट। इसी वक़्त बाहर निकलो।" राघवेन्द्र घबराहट के मारे उछलकर बरामदे में पहुँच जाता है। कुछ अस्पष्ट रूप से कह रहा है, "मेरी त्रुटि हो तो—मेरी त्रुटि हो तो...।"

पर वह बरामदे में आ गया है, उसी प्रकार चीख रहा है। गेट आउट।

एकदम बाहर निकल जाओ, नहीं तो मैं तुम्हें नीचे फेंक दूँगा।"

राघवेन्द्र के जाते ही वह कमरे में आकर फैली हुई चिट्ठियों को इकट्ठा करके उनके पते पढ़ने लगता है।

○ ○ ○

तभी दरवाजे पर सत्या दिखाई देती है।

रामदास उसे देखकर जड़-सा हो जाता है। चुपचाप दरवाज़े की ओर देखता रहता है। वह अन्दर आती है।

उसने गहरे लाल रंग का भड़कीला ब्लाउज पहना है। वैसे ही भड़कीली गहरे नारंगी रंग की साड़ी है। पैरों में मखमली सैंडिल हैं। बालों को सँवारकर पीछे जूड़ा बना लिया है। फिर भी मत्थे पर एक छोटी-सी लट, एक घुँघराला ब्रेकेट बनाकर, बालों की असंख्यता में खो गई है। बालों की इस नई सज्जा पर रामदास की निगाह कुछ देर टिकती है। फिर वह धीरे-से पूछता है, "तुम? कब आईं, सत्या?"

वह एक कुर्सी खींचकर बैठ गई है। कहती है, "कल आई हूँ। कल ही वापस चली जाऊँगी। जल्दी में तुम्हें आने की सूचना न दे पाई। और हाँ, यह तुम बिगड़ किस पर रहे थे? किसको नीचे फेंके दे रहे थे?"

रामदास का चेहरा उदास हो जाता है। अनमने भाव से कहता है, "कुछ नहीं। एक आवारा आ गया था। जा नहीं रहा था। उसे डाँटना पड़ा।"

अकस्मात दोनों थोड़ी देर के लिए चुप हो जाते हैं। फिर सत्या धीरे-से पूछती है, "रामदास, कुछ दिन पहले तुम इस बात को इतनी जल्दी समाप्त न करते।"

रामदास ने स्टोव जलाना शुरू कर दिया है। स्पिरिट जल रही है। उसी की नीली-पीली रोशनी की ओर वह चुपचाप देखता रहता है। कुछ बोलता नहीं।

सत्या उसके चेहरे पर दृष्टि गड़ाकर कहती है, "तब तुम सबकुछ बताते कि कौन आया था, उसने तुमसे क्या कहा?"

वह तेजी से स्टोव में हवा भर रहा है। स्टोव की ही ओर देखते हुए कहता है, "इतना सब बताकर समय नष्ट करने से क्या लाभ? तुमने मेरे संस्मरण आदि से अन्त तक पढ़े ही हैं। समझ लो, उनमें एकाध पन्ना जुड़ने लायक कुछ और था। पर उससे अन्तर ही क्या पड़ता है?"

अब वह स्वयं मौन हो जाती है। तब, बिना किसी कारण के, हँसकर रामदास पूछता है, "और तुम्हारे क्या समाचार हैं? रामानुज कहाँ है?"

वह खिड़की के दूसरी ओर झाँक रही है। फैली हुई चाँदनी में दूर के गुम्बद, मीनारें, पेड़ों के झुरमुट, सब एकाकार हुए जा रहे हैं। उन्हीं की ओर देखते हुए कहती है, "रामानुज झाँसी में हैं। मैं यहाँ पापा से मिलने आई थी!" फिर रुककर कहती है, "और अपने समाचार क्या बताऊँ? मेरा जितना कैरियर था, उसे मैंने पा लिया।"

वह हँसते हुए कहता है, "बहुत अच्छा किया।"

सत्या मेज के कोने से दो प्याले उठाकर उन्हें स्टोव के पास रख देती है। अकस्मात रुककर पूछती है, "तुमने अपने लिए क्या सोचा?"

स्टोव धीमी भन्नाहट के साथ जल रहा है। रामदास की आवाज उसमें घुल-सी गई। वह कहता है, "मेरे सोचने से क्या होगा?"

वह मेज पर चाय के शेष बर्तन भी लगा चुकी है। एक चम्मच से मेज पर रेखाएँ बनाते हुए कहती है, "यूनिवर्सिटी ने तुम्हें इस साल भी धोखा दिया।"

वह खिड़की की ओर पीठ सटाकर सन्तोष की मुद्रा में खड़ा हुआ है। निश्चिंत भाव से कहता है, "इसे धोखा नहीं कहते, सत्या! धोखा तो वह है जहाँ कुछ पाने की आशा दिलाकर उसे न दिया जाए, या कुछ छीन लिया जाए। मुझे यूनिवर्सिटी ने कभी भी कोई आशा नहीं दिलाई। जिन्हें कुछ पाने की आशा दे दी जाती है, वे कुछ पा भी जाते हैं। मुझे न कुछ यूनिवर्सिटी को देना है, न कुछ उससे पाना है। मुझे अब तक यहाँ रुके रहने में अच्छा लगता था, इसीलिए बिना किसी गम्भीर योजना के मैं यहीं पड़ा हुआ था। अब यहाँ से जी उचट गया है।"

पानी एक मिथ्या आवेग से उबल रहा है।

सत्या पूछती है, "अब जी क्यों उचट गया है?"

वह सहसा कुछ नहीं बोलता। उसके चुप हो जाते ही सत्या के मुँह पर एक छाया-सी उतर आती है। व्यग्रता के साथ वह रामदास की ओर देखती रहती है।

वह चाय बनाने लगता है। सत्या उसके निकट कुछ पीछे हटकर खड़ी है। पूछती है, "तब क्या करोगे?"

"जाकर किसी प्राइमरी स्कूल में मास्टरी करूँगा।"

थोड़ी देर कमरे में एक अवांछित गम्भीरता-सी छाई हुई है। उसे सत्या की पहलेवाली हँसी तोड़ देती है। वह कहती है, "यह भी ठीक है। तुम्हें शायद पैंतीस रुपया महीना मिलेगा। तुम कुटी में रहोगे। अपने हाथ से भोजन बनाओगे या कन्द-मूल खाकर पेट भरोगे और उपनिषदों से सन्तोष की महिमा पर नए-नए उद्धरण याद करोगे।"

पर वह गम्भीरतापूर्वक कहता है, "मैं सचमुच यही करना चाहता हूँ। पर कन्द-मूल से पेट नहीं भर पाऊँगा। अब जंगलों में खाने लायक इतने कन्द-मूल नहीं मिलते।"

मेज के पास सत्या कुर्सी को खींचकर बैठ गई है। यह चारपाई के सिरहाने मेज की ओर मुँह करके बैठा है। सत्या प्यालों में चाय डालती है। वह चुपचाप चाय का गिरना देखता रहता है।

कुछ रुककर वह फिर पूछती है, "मुंसिफी की परीक्षा नहीं दोगे?"

उत्तर में एक निषेधात्मक भाव से सिर हिलाते हुए वह मुस्कुराता हुआ कहता है, "चाय पियो।"

दोनों चुपचाप चाय पीते रहते हैं। फिर सत्या कहना शुरू करती है, "झाँसी बहुत अच्छी जगह है। न बहुत बड़ी है, न बहुत छोटी। साफ़-सुथरी सिविल लाइंस है। तुम आना। तुम्हें बहुत पसन्द आएगी।"

बिना कुछ सोचे वह कहता है, "आऊँगा।" पर उसके कहने का ढंग कहता है कि वह नहीं आएगा।

कुछ करते रहने के विचार से, सत्या मेज़ पर रखे हुए एक कागज़ पर पेंसिल से रेखाएँ खींचने लगती है। रेखाएँ खींचते-खींचते पूछती है, "बेबी के विषय में जानते हो? उसकी शादी हो गई है। किसी रियासत के कोई राजकुमार हैं। बेबी उन्हीं की तीसरी पत्नी है।"

वह कहता है, "जानता हूँ।"

सहसा उत्साहित होकर कहने लगता है, "अपने और मित्रों के भी हालचाल तुमने सुने? लो, बता रहा हूँ। श्री राजधर, बी.ए., एल-एल.बी., उपमन्त्री, शिक्षा विभाग नियुक्त हुए हैं। अपने राज्य से मोहर लगा हुआ, टाइप किया हुआ एक पत्र उन्होंने पास भिजवाया है। आशा दिलाई है कि विपत्ति में याद किए जाने पर मेरे काम आएँगे।"

"और, श्याममोहन का नाम याद है? उसे तुम देख लो तो स्वास्थ्य और सौन्दर्य के विषय में तुम एक पुस्तक लिख डालो। उसने अपना एक चित्र मेरे पास हाल ही में भेजा है। कोई नलिन बोस नाम के चित्रकार हैं। उनकी कला-प्रदर्शनी का हाल में उसी ने उद्घाटन किया है। चित्र में पतलून और बुशशर्ट पहने, गले में सिल्क का मफलर बाँधे खड़ा हुआ, प्रदर्शनी के द्वार पर बँधे हुए फीते को काट रहा है। चित्रकला के ऊपर उसके कई निबन्ध अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। वह लक्ष्मी और सरस्वती के सनातन वैर को मिटाकर उनकी बड़ी ही प्रीतिमय सन्धि कर चुका है। ऑस्टिन और ईस्थेटिक्स—यही उसके जीवन के लक्ष्य हैं।"

"और, हमारे कुँवर सुरेन्द्रप्रताप बहादुरसिंह। एक लम्बे-चौड़े फार्म पर उनकी एक कोठी खड़ी हुई है। सवेरे पाँच बजे से ही उसके सामने के चबूतरे पर मज़दूरों की एक सेना खड़ी हो जाती है। वे उन्हें प्रार्थना कराते हैं। वही प्रार्थना जो स्कूलों में लड़के चिल्ला-चिल्लाकर करते हैं, 'वह शक्ति हमें दो दयानिधि...।' फिर उन्हें काम पर जाने का आदेश होता है। कुँवर

साहब बाद में ब्रीचेज़ और कमीज पहनकर घोड़े पर फार्म का चक्कर लगाते हैं। जिधर निकल जाते हैं, उधर मजदूरों के हाथों में बिजली-सी फुर्ती आ जाती है। वे अपने फार्म को किसी आश्रम के मॉडल पर बना रहे हैं। यही उनकी महत्त्वाकांक्षा है।"

सत्या अपनी चाय खत्म कर चुकी है। रामदास की बात समाप्त होते ही वह हँसकर कहने लगती है, "और इस समय कुँवर साहब व्हिस्की की बोतल सामने रखकर आश्रम की समस्याओं पर विचार कर रहे होंगे?"

वह सोचता हुआ कहता है, "इस समय? इस समय तो वे आश्रम की समस्याओं से ऊपर पहुँच चुके होंगे। नौकर-चाकर उन्हें पलंग पर लिटाकर एक-दूसरे की ओर व्यग्रता से देख रहे होंगे।"

दूर कहीं नौ का घंटा बजता है।

वह कहती है, "अब चलना चाहिए।"

रामदास उसकी ओर एक क्षण देखता है। फिर पूछता है, "मस्ट यू गो?"

वह कहती है, "हाँ, रामदास, अब चलना चाहिए।"

दोनों बरामदे में आकर साथ-साथ चलते हैं। आस-पास के कमरों से कुछ विद्यार्थी उन्हें झाँक-झाँककर देख रहे हैं।

वे जीने के पास पहुँचते हैं। रास्ते के बीच में एक विद्यार्थी छपी हुई बुशशर्ट और ऊँची पतलून पहने, हाथ में एक पत्र लिए हुए उसे पढ़ने का अभिनय कर रहा है। रास्ता रुका होने के कारण सत्या ठिठकती है। रामदास आगे बढ़कर कहता है, "क्षमा कीजिएगा ...।"

वह उछलकर किनारे खड़ा हो जाता है और एक अत्याधुनिक उच्चारण के साथ कहता है, "आई एम सॉरी।"

जैसे ही दोनों ज़ीने से उतरने लगते हैं कि वह विद्यार्थी ज़ोर-ज़ोर से सीटी बजाता हुआ बरामदे में एक कोने से मुड़कर अलक्षित हो जाता है।

रामदास और सत्या एक-दूसरे को देखकर हँस पड़ते हैं।

अकस्मात चलते-चलते रामदास के कन्धे को छूकर वह धीमी आवाज़ में पूछती है, "तुम मुझसे नाराज तो नहीं हो, रामदास?"

वह कहता है, "नहीं सत्या, मैं नाराज़ क्यों होने लगा?" फिर वह अपनी ही बात दोहराता है, "नहीं, मैं नाराज़ बिलकुल नहीं हूँ।"

वह उसी स्वर में कहती है, "मैंने तुम्हारी संस्मरणवाली किताब में कुछ बेमतलब की बातें लिख दी थीं।"

वह फिर कहता है, "नहीं, सत्या, मैं बिलकुल नाराज़ नहीं हूँ; तुम वह सब न कहो।"

○ ○ ○

सावन का महीना है। दिन के दो बजे हैं।

एक पथरीली सड़क से एक गलियारा निकलकर जंगल की ओर जाता है। गलियारे के किनारे-किनारे कम ऊँची पहाड़ी टूटे-फूटे रूप में दूर-दूर तक फैलती चली गई है। उसके किनारे की चट्टानों के बीच दरारों से उगे हुए असंख्य जंगली पेड़ हरे-भरे हो गए हैं। दूर से उन्हें देखकर एक भयानक जंगल का भ्रम होता है, पर निकट आने पर वे उतने घने नहीं लगते।

दूसरी और नीची ज़मीन है। बरसाती पानी उसमें रुककर उसे एक झील का रूप दे रहा है। उसके किनारे-किनारे ऊँची-ऊँची घास उग आई है।

कीचड़ और पानी से लथ-पथ एक गाड़ी आकर सड़क के ऊपर गलियारे के पास रुकती है। बिना इंजन बन्द किए, गाड़ी रोककर ड्राइवर अपनी असभ्य आवाज में कहता है—"जल्दी उतरो जी, पेट्रोल जला जा रहा है।"

रामदास गाड़ी से उतरकर बाहर आता है। एक खलासी, मैला-कुचैला अंडरवियर और बनियाइन पहने, लारी की छत पर खड़ा होकर एक छोटा-सा सन्दूक रामदास के हाथ में पकड़ा देता है। इसके पहले कि वह सन्दूक को ज़मीन पर रख सके, खलासी एक होल्डऑल छत से नीचे लुढ़का देता है। उसके छत से नीचे उतरते-उतरते गाड़ी कीचड़ के छींटों को दाएँ-बाएँ उड़ाती आगे बढ़ जाती है।

रामदास की निगाह गलियारे की ओर जाती है। कोई बहुत दूर से, बैलगाड़ी पर चढ़ा हुआ, बैलों को भगाता चला आ रहा है। वह बैलगाड़ी के आने की प्रतीक्षा करता है। सन्दूक के ऊपर बैठकर अपनी जेब से एक कागज़ निकालकर पढ़ता है। यह अमजद अली का पत्र है :

"प्रिय मित्रवर

सप्रेम नमस्ते।

समाचार यह है कि आपकी इच्छानुसार सब इन्तज़ाम ठीक हो गया है। यह हाईस्कूल अपने लोगों के हाथ में है। यहाँ के अपने पुराने चैतुए आपके आने की खबर पाकर रोज़ पूछते हैं कि आप कब आ रहे हैं। आपके आ जाने पर ही शेष बातें होंगी। आपको तीन साल की सालाना तरक्की एक साथ दिलाकर 135 रुपया महीना देने की सोची जा रही है। यह बहुत कम है, पर आपने लिखा ही है कि आप तनख्वाह के लिए नहीं आ रहे हैं...।"

इस पत्र को यह बार-बार देखता रहता है, जब तक कि बैलगाड़ी पास नहीं आ जाती।

एक युवक बैलगाड़ी सड़क पर लाकर खड़ी कर देता है, दोनों हाथों से रामदास के पाँव छूकर हाथ मत्थे से लगाता है और पूछता है, "आप ही हेडमास्टर साहब हैं।"

स्वीकार में सिर हिलाकर वह पूछता है, "रनपुरा की नहर-कोठी कितनी दूर पड़ेगी?"

वह हाथ चमकाकर कहता है, "रनपुरा कोठी से आपको क्या लेना? ज़िलेदार साहब ने आपके रहने का इन्तज़ाम स्कूल के पास ही कर दिया है। कोई तकलीफ न होगी...।"

रामदास कहता है, "कोठी पर अमजद अली से मिलना था।"

वह सन्दूक को बैलगाड़ी पर लादते हुए कहता है, "वे भी स्कूल में ही मिलेंगे।"

रामदास के गाड़ी पर बैठ जाने पर बैल धीरे-धीरे चल पड़ते हैं। ऊँची घास से मच्छरों के झुंड-के-झुंड उड़कर पास के पानी पर जाकर बैठ जाते हैं। कुछ मेंढक बैलगाड़ी के पहियों के पास से उछलकर पानी में छप्-छप् कूद पड़ते हैं।

थोड़ी दूर बाद गलियारे का मोड़ आ जाता है। गाड़ी पहाड़ियों के घुमाव में छिप जाती है। पानी, घास, जंगल और चट्टानों की निस्सीमता सारे मानवीय तत्त्वों को अपने में समेट लेती है।

○ ○ ○

चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हैं। उनके ऊपर अँधेरे का कवच पहनकर तेन्दुवे घूम रहे हैं और क्षण-क्षण पर दहाड़ रहे हैं। उन्हीं पहाड़ियों के बीच से एक भयंकर नदी तीव्र प्रवाह के साथ चट्टानों से टकराती हुई बह रही है। आगे एक बाँध है। उसके फाटक खुले हुए हैं। वर्षा की बाढ़ से उतावली नदी की अपार जलराशि बाँध के रास्ते लगभग सत्तर फीट नीचे जाकर अनवरत, अगाध रूप से गिरती है। चारों ओर कानों को फाड़ देनेवाले असंख्य चीत्कारों की-सी विभीषिका फैल रही है।

आकाश पर बादल छाए हैं और हवा पागल हो गई है।

बाँध से कुछ दूर हटकर एक छोटे-से समतल मैदान में एक डाकबँगला बना है। अन्दर गैस की रोशनी फैल रही है। एक खिड़की के पास खड़ी होकर सत्या बाहर के अन्धकार, प्रपात के वेग और पर्वतों की दुर्गम शून्यता पर अपनी दृष्टि लगाए है।

कमरे के अन्दर, एक छोटी-सी मेज़ के पास, एक आराम-कुर्सी पर रामानुज लेटा हुआ है। एक छोटा-सा स्पैनियल कुत्ता उसके लटके हुए हाथ और कुरते की बाँह से खेल रहा है और वह उसी को कुछ शिक्षाएँ दे रहा है—बैठो, यू बदमाश, बैठो-बैठो।

सहसा वह मुड़कर सत्या से कहता है, "रामदास का हाल सुना है? वह कहीं देहात में मास्टरी करने जा रहा है।"

वह बिना मुड़े हुए कहती है, "मालूम है।"

कुर्सी पर पीछे की ओर झुककर वह साँस लेते हुए कहता है, "इस प्रकार जान-बूझकर कोई अपना भविष्य बिगाड़ता है?"

पर, सत्या अन्धकार की समीक्षा में खोई रहती है। उन्हीं पहाड़ियों की ओर देखती रहती है, जिनके उस पार बहुत दूर एक पथरीली सड़क है, एक घास और झाड़ियों से भरा-पूरा गलियारा है, जिसे उसने कभी नहीं देखा है।

तब वह उठकर उसके पास खड़ा हो जाता है। उसके कन्धों पर पीछे से हाथ रखकर शरारत के साथ पूछता है, "जानती हो, सत्या, लोग क्या कहते थे?"

उसके हाथों पर हाथ रखते हुए वह धीरे-से पूछती है, "क्या कहते थे?"

"लोग कहते थे कि रामदास तुमसे बहुत प्यार करता था। यहाँ तक सोचा जाता था कि तुम लोग विवाह कर लोगे।"

अब वह मुड़कर रामानुज के सामने खड़ी हो जाती है। उसके सिर को अपने हाथों के बीच लेकर धीरे-से पूछती है, "तुम भी यही सोचते थे?"

वह मुस्कुराकर सिर हिलाता है। कहता है, "नहीं! पर, मैं यह ज़रूर सोचता था कि वह तुम्हें प्यार करता है।"

रामानुज के चेहरे से अपने हाथों को धीरे-धीरे हटाकर वह फिर पूर्ववत खिड़की के बाहर देखने लगती है। धीमे स्वरों में, बड़े स्नेह के साथ कहती है, "तुम गलत सोचते थे। रामदास में वह जड़ता नहीं, जिससे वह अपने संसार को भुला दे, जिसके सहारे वह किसी को तुम्हारी तरह प्यार कर सके।"

वह चुपचाप खड़ी रहती है। वायु का एक तीव्र वेग अपने साथ कुछ बड़ी-बड़ी बूँदों को उड़ा लाता है। प्रपात के उड़ते हुए असंख्य जलकणों के साथ सूक्ष्म जलकण सावन के

घटाटोप अन्धकार और वायु के उद्धत आघातों में लीन हो जाते हैं। उन्हें कोई नहीं देख पाता।

○ ○ ○

युग के आकर्षण, अतीत की प्रताड़ना, वर्तमान की निराशा।

अँधेरे में पथरीले रास्ते पर सब मिलकर रामदास से कह रही हैं—

"गाँव में जाना। दलितों की शक्ति बनना। अशिक्षितों को विद्या देना। उनकी निराशा, उनकी मूर्च्छा को समाप्त करके उन्हें नई चेतना देना। झुलसी हुई पहाड़ियों की छाया में, एक धूसर सन्ध्या के मलिन आतंक में पाए हुए कुछ किशोर संस्कारों को साकार करना। ये सब महान उद्देश्य हैं।"

"किन्तु सुख और सुविधा को त्यागकर आनन्द के सब साधनों को ठुकराकर, इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तुम्हीं को क्यों आना पड़ा?"

"समझ लो, रामदास, इस रोग-शोक-जर्जर प्रान्तर में 135 रुपये मासिक पर मास्टरी करने के लिए तुम्हीं जैसों को आना पड़ता है। आरम्भ से ही जो व्यवस्था तुम्हारे मार्ग में बाधाओं की खींच-खींचकर लाती रही, वही अब तुम्हें इन बाधाओं के देश में खींचे लिए जा रही है। तुम देख नहीं रहे हो, यहाँ आकर, ख्याति और उन्नति की सब आकांक्षाओं का गला घोंटकर अपने को जीवनमृत बनाने के लिए तुम्हीं क्यों चुने गए हो?"

परन्तु मन में उठनेवाले इन क्रूर भावों को दबाकर वह बार-बार अपने-आप से कहता है—

"यहाँ मैं न आऊँगा तो और कौन आएगा? किसी और को यहाँ आने की गरज ही क्या है?

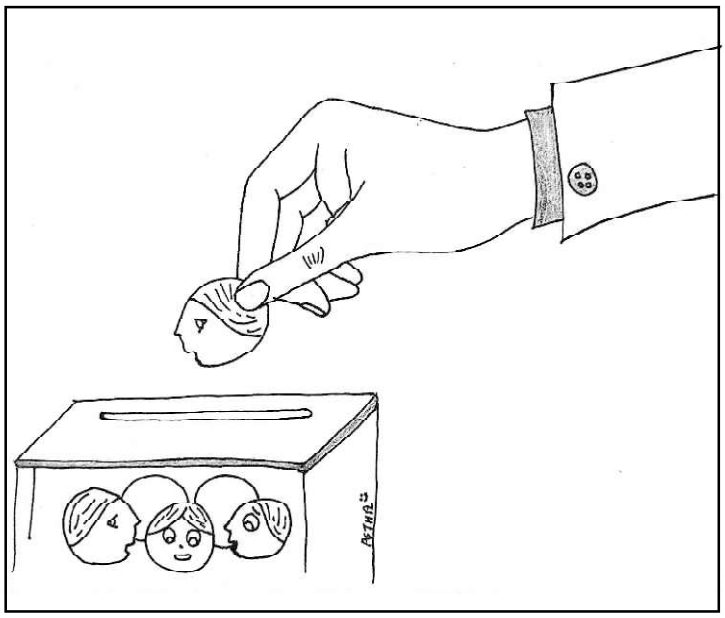

अज्ञातवास

वे एक ज़मींदार के बेटे थे। पिता एक छोटे ज़मींदार थे, जिन्हें बड़े ज़मींदार किसान मानते; किसान उन्हें राजा समझते। गाँव का कच्चा और प्रशस्त घर। ग्रामीण सम्पन्नता। अदालतों में मामले-मुकदमे होते। उनकी अशिक्षा के कारण बैजनाथ मुख्तार जैसा चाहता वैसा करता। वे समझते, कहीं कुछ धोखा है। पर जान न पाते वह धोखा कहाँ है। रजनीकांत को उन्होंने पढ़ाना चाहा। सोचा, लड़का इंट्रेन्स पास कर लेगा, घर पर बैठकर ज़मीन-जायदाद की बातें समझ सकेगा; कानूनी दाव-पेंच, वकीलों के शिकंजे, मुहर्रिरों की चापलूसी, अर्जीनवीसों की धोखेबाजी, हाकिमों की निगाह, अहलकारों के इरादे—यह सब समझकर पैतृक सम्पत्ति बचाने-भर की विद्या आ जाएगी। बैजनाथ को अलग कर दिया जाएगा।

न जाने क्या था कि गाँव में पैदा होकर, उम्र-भर वहाँ रहकर भी वहाँ के जीवन को वे मन से नहीं अपना सके।

यह गाँव की जिंदगी है!

इसकी याद के सहारे साहित्यिक मधुरता की दूकान चलती है। पर यहाँ आज भी बर्बरता का शासन है। यहाँ कमज़ोर होकर चलने में सबकी ताकत का बोझा ढोना पड़ता है। ताकतवर होने के लिए सब कमज़ोरियों से समझौता करना पड़ता है। पार्टीबंदी। दूसरे बदमाशों को नीचा दिखाने के लिए अपने घर पर बदमाश पालना। अपने पाले हुए बदमाशों से अपने पड़ोसियों को डराना, पर उनसे अपने-आप भी डरना। उनकी उद्दण्डता को सहना। उनके अपराधों को अपनाना। उनके लिए अदालतों में मुकदमे लड़ना। पुलिस का आतंक। दिन-रात उसकी आराधना करना। उसके लिए झूठे गवाह ढूँढना। वैसा न करने पर खुद झूठे गवाहों का शिकार बनना। चारों ओर डकैतों का खतरा। अरक्षा और आतुरता की ज़िंदगी। प्रकृति के उत्पात। गर्मियों के सर्वग्रासी अग्निकांड। वर्षा का प्रलयंकर धारासम्पात। गिरते हुए घर। धार में बहते हुए छप्पर। पानी में डूबती, सड़ती हुई फसलें। जाड़ों की उपल-वृष्टि। पाला, ओस, कुहरा। पछुवा हवा, टिड्डियाँ, चूहे। हड्डियों को गलाकर पैदा की हुई, लहलहाती खेती को निरुपाय होकर इनके सामने सर पटकते, घिसटते देखना। सबसे डरना। अपने से ऊँची जातिवालों से, ऊँचे वर्गवालों से, महाजनों से, वैद्यों से, थाने से, तहसील से, भूत-प्रेत से, महामारी से, भाग्य से, भगवान से—सबसे डरना। जिससे न डरना, उसके लिए डर बनकर रहना। कदम-कदम पर झगड़े और मुकदमे की बातें। नहर के पानी के झगड़े। बागों से फल और लकड़ी लेने के झगड़े। खेतों की मेड़ के लिए होनेवाली फौज़दारियाँ। अपनी ज़मीन पर से जानवरों के निकास को लेकर होनेवाले हत्याकांड।

जहाँ बातचीत के केवल दो रूप हों—खुशामद या गाली-गलौज। शिष्ट भाषा जहाँ बुजदिली की निशानी है। उदारता जहाँ अपने स्वत्व को अपने पास रोक रखने की असमर्थता का नाम है। दूसरे को सहायता जहाँ इसलिए दी जाती है कि वह बाद में सामने आँख न उठा सके। छोटे-से मसले को भी जहाँ बड़े मुकदमे का रूप दिया जाता है कि लोग बड़े मसले पैदा करने की हिम्मत न दिखा सकें। जहाँ गरीबी एक ऐसा चुम्बक है जो सभी उपद्रवों के लौह आघातों को दूर से अपनी ओर खींच लेती है। जहाँ अमीरी में ऐसी आग है जो पड़ोसियों को जला देती है। सब उसे छूने से पहले ही उसे देखते ही जलते हैं, उसे बुझाना चाहते हैं।

वे ग्राम-जीवन की इन जटिलताओं में बंधकर कभी-कभी छटपटाते। इस जीवन का कोई दूसरा पक्ष हो भी तो वह उन्हें खींच न पाता। फिर भी किसी तरह मन को दबाकर उन्होंने यहाँ के वातावरण में अपने को खपा लिया था। बांबी की दीमक की तरह। घास में मटियाले गोजर की तरह। पत्थर के नीचे चुपचाप पड़े हुए कनखजूरे की तरह। किन्तु अब रजनीकांत की प्रतिभा ने एक बार उनके मन में फिर पहले की तृष्णा उकसा दी। मन की सारी घुटन, अपमान, क्षोभ, निराशा, निरुपायता—उनसे कहने लगी : रजनीकांत को बचाओ। सांपों और कनखजूरों का साथ, प्रकृति के विषम आघात, अस्तित्व की रक्षा के लिए कदम-कदम पर झेली जानेवाली अवज्ञा, दुर्बलता के साथ रोज़-रोज़ होनेवाला समझौता—इस सबसे उसे बचाओ। तुम जो ज़हर पी चुके हो, उसके खाली पात्र तक को उसके आगे से खींच लो।

आज के श्री आर. कान्त, सुपरिटेंडिंग इन्जीनियर। मोटी तनख्वाह। विद्या, बुद्धि, सम्पन्नता की प्रसिद्धि। निर्भीकता। क्रूर न्यायप्रियता। शहर में नवीनतम डिज़ाइन की बड़ी कोठी। कीमती फर्नीचर। फ्रिज, कूलर्स, रेडियोग्राम, कीमती कालीनें। स्विमिंग पूल। कलापूर्ण बाटिका। टेनिस कोर्ट। पोर्टिको के पंख के नीचे चमकदार ब्यूक कार। इस पर कलाप्रियता की ख्याति। चित्रकला और संगीत के विशेषज्ञ। ग्रामगीतों के प्रसिद्ध प्रेमी। विदेशी पेयों के निपुण ज्ञाता और भोक्ता। शिकार का शौक। शताब्दी का सारा हर्ष, उल्लास, नवीनता उनके जीवन में समा गई है। जीवन ने उन्हें सब कुछ दिया है, उनसे बहुत कुछ पाना चाहता है। प्रभा उनकी अकेली सन्तान है। अविवाहित। अमेरिका से शिक्षा पाकर आनेवाले प्रेमी की प्रतीक्षा कर रही है।

पहले सब धीरे-धीरे हुआ। हाई स्कूल से कॉलेज, यूनिवर्सिटी, इन्जीनियरिंग कॉलेज। पिता की सम्पत्ति की आखिरी बूंदें उनके भविष्य की अदृष्टता में समाती रहीं। वे बूढ़े हो रहे थे, पर निराश नहीं थे। छोटी-सी ज़मींदारी की आय नगण्य हो रही थी। किसानों के लगान न देने के आन्दोलन चल रहे थे। मुकदमों की संख्या बढ़ रही थी। मंदी के दिन। खेती के सहारे जो कुछ अनाज घर में आता, उसकी परिणति कुछ गिने-गिनाये रुपयों में होते देर न लगती। रजनीकान्त छुट्टियों में घर आते। घर की दशा पर दुःखी होते। पर उनका चमकदार चेहरा, साफ़-सुथरे सूट, टाइयाँ, यह सब देखकर वे समझते, मंज़िल नज़दीक है। यह मंज़िल नज़दीक थी भी, पर रजनीकान्त का मन अपनी पहली मंज़िल से दूर भटक गया था। माँ का स्नेह उन्हें अच्छा लगता, पर जल्दी उबा देता। गाँव में उन्हें जान पड़ता, धूल पहले से ज़्यादा हो गई है। अमराइयों में वह सघनता नहीं। घास के मैदान वीरान-से लगते। शाम के झुटपुटे की अस्पष्ट मादकता में उन्हें उदासी और तबाही-सी जान पड़ती। वह पहलेवाला आकर्षण नहीं, पहले का मोह नहीं। पिता के पास बैठते और उन्हें बातचीत के विषयों की कमी जान

पड़ने लगती। उत्साह के वेग में उनके पिता अपने पुत्र के परिवर्तन को न समझ पाते। पर रजनीकान्त समझकर भी समझना न चाहते। धीरे-धीरे वह स्थिति भी समाप्त हुई। वे इंजीनियर बने । माता-पिता का देहान्त हुआ। एक पर्दा-सा गिरा, दूसरा उठा। जीवन में उल्लास, आनन्द और जटिलताओं ने प्रवेश किया। एक पर्त पर दूसरी पर्त चढ़ती गई। कम्पनियों के शेयर्स, बैंक के एकाउण्ट्स। चलाचल सम्पत्ति। उसके प्रबन्धक। नाटक के अभिनेताओं-सा रहन-सहन। कभी कला-प्रेम का दम्भ। कभी दरिद्रों और संस्थाओं की सहायता द्वारा खरीदा हुआ सस्ता आत्मतोष और सामाजिक महत्त्व। समय-समय पर पहने जानेवाली भांति-भांति की वेश-भूषा। समवयस्कों और सहकर्मियों का साथ। पिकनिकें। उनकी पत्नियों से सहज लालसापूर्ण सम्पर्क। बड़े-बड़े शहरों के होटलों में आवारागर्दी। निम्न कोटि के विदेशियों का साथ। छिपकर किए गए दुष्कर्म। उनको छिपाने के लिए ब्लैकमेल में दिए गए रुपये। साथियों से धोखेबाजी। जो कहना, उसे न करना। जो करना, उसे न कहना। जो कहना और करना उसकी डींग हांकना। जहाँ चुप रहने का मन हो, वहाँ बोलना। जहाँ बोलना हो, वहाँ चुप रहकर गम्भीर व्यक्तित्व की ख्याति लूटना। जहाँ गाली देनी हो, वहाँ प्रशंसा करना। जहाँ प्रशंसा करनी चाहिए, वहाँ मुस्कराहट से, व्यंग से या स्पष्टवादिता की स्पष्ट ख्याति के सहारे निन्दा करना। एक नाटक खेलना, खुद खेलना, खुद ही देखना, खुद ही आलोचना करना, खुद ही रीझना। फिर उसी में तल्लीन हो जाना। सम्पत्ति, ऊँचा पद, चाटुकारों का साथ, अच्छी शिक्षा, सम्मान पाने की महत्त्वाकांक्षा, सबका आदर और प्रेम लूटने की सहज प्रवृत्ति, परम्परा से मिली हुई किसानों की स्वार्थ-बुद्धि—इस सबने एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया कि सब कुछ साफ़ होते हुए भी कहीं कुछ भी साफ़ नहीं। उछलती-बहती चमकदार धारा के नीचे चट्टान नहीं, दलदल है। पर अब जो कुछ बचा है, वह ऊपर की तह पर आ चुका है। जो भी है, वही पूँजी जीवन को जीने लायक बनाने के लिए काफ़ी है।

○ ○ ○

सिद्धान्त!

पापा सिद्धान्त की बात करते हैं!

जो कुछ आदत बन गया, उनके साथ ऐसा जुड़ गया कि छुटाना मुश्किल हो गया, उसी को सिद्धान्त कह दिया। शायद यह सभी के साथ हो। किसी सच बोलनेवाले को झूठ बोलना मुश्किल लगा होगा। ज़बान लड़खड़ा गई होगी। चेहरा लाल हो गया होगा। आगे का शब्द पीछे और पीछे का आगे निकलने लगा होगा। तब उसने सच बात कहने का सिद्धांत निकाला होगा। पर शायद ऐसा न हो। झूठ बोलकर, बहुत कुछ गंवाकर, सच बोलने की अक्षमता से दबकर, किसी ने अपनी ही हीनता की प्रताड़ना में शायद सत्य के सिद्धान्त का सहारा लिया होगा।

पर ऐसी बातें मेरे मन में क्यों आ रही हैं, बीमारों के से खयाल? मेरा मन बीमार है। पापा को यों हंसता-बोलता देखकर मैं बीमारों की तरह क्यों सोचने लगती हूँ? पापा बहुत अच्छे हैं ! वे सिद्धान्तों की कभी-कभी झूठी दुहाई देते हैं। कभी-कभी उनके अपने ही सिद्धान्त और रहन-सहन में फ़र्क दिखता है। तो उसी से क्या हुआ? यह तो सभी के साथ होता है। सिद्धान्त बना लेने से ही क्या होता है, वह मशीन की तरह तो काम करता नहीं कि उसकी बंधी हुई पद्धति में ज़िन्दगी को बांधकर चला दिया जाए। वह तो मरीज़ों की पहियेदार कुर्सी है, उसे अपने ही हाथों अपने ही मन की दिशा में चलाना होता है। सिर्फ़ उस पर बैठे होने

का ही संतोष मिलता है। फिर पापा का क्या कसूर। सिद्धान्तों के सहारे रहता ही है? सिद्धान्त तो खुद ही हमारे रहने के सहारे रहते हैं। सभी अपनी आदतों के, संस्कारों के गुलाम हैं। उन्हीं के सहारे लोग जो कुछ बार-बार करते हैं, उसी को अपना सिद्धान्त बना देते हैं। पापा ही तो कहते हैं, हमारी बातचीत से व्याकरण निकलती है। हमारे रहन-सहन से सिद्धान्त निकलते हैं। पापा जब खाते हैं तब खाते हैं। जब पीते हैं तब पीते हैं। सचमुच ही यह कितना महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जब खेलते हैं तब सिर्फ़ खेलते हैं। काम करते हैं तो सिर्फ़ काम करते हैं।

○ ○ ○

डाकबंगले से कुछ ही दूरी पर बना हुआ एक शेड। दो-चार आराम-कुर्सियाँ एक ओर डाली गई थीं। फर्श पर एक पुरानी दरी बिछा दी गई थी। गाँववाले उसी पर आकर-आकर बैठने लगे।

दिन-भर सबने सब तरह के काम किए हैं और अब यहाँ गाने के लिए इकट्ठा हुए हैं।

रामलाल सुतली बटता रहा। सन के उलझे हुए तारों का एक छोटा-सा गोला बनाकर उसे बगल में दबाए हुए, गाँव की एक गली से दूसरी गली में घूमता। हाथ में लकड़ी का चार कोनेवाला एक लट्टू, बीच में लकड़ी की छोटी-सी डंडी लगी हुई। किसी तकुली का परिवर्तित और परिवर्द्धित संस्करण। रामलाल का यही काम है। सुबह से ही तैयार होकर, गुड़ खाकर, एक लोटा पानी पीकर, हाथ में तकुली और बगल में सन का गोला लिए हुए पूरे गाँव का चक्कर लगाता है। बात-बात पर कहता है, "तकुली पर सूत कातने से गांधी बाबा ने सुराज ले लिया है। इतना मोटा सन कातने से हमें रामराज मिलेगा।" पर उसके रामराज के एक दिन की कीमत चार आना है। दिन-भर में जितनी सुतली निकलती है, उसकी रस्सियाँ बनाता है। इतवार और बुधवार को लगनेवाले बाज़ार में जाकर बेच देता है। भूखों नहीं मरता। इसी पुरुषार्थ के सहारे रामराज लाने का मज़ाक कर सकता है। हंसने-हंसाने के लिए बुरा नहीं। पर चाहो कि साथ बैठ जाए, एक चिलम फूंक ले, तो उसके ख़िलाफ़ सन्त लोग पहले ही कह गए हैं, "रमता जोगी, बहता पानी।" सबेरे पेट में गुड़ डालकर और शाम को ज्वार की रोटियाँ गले के नीचे उतारकर रामलाल बिरहा गाता है, कान पर हाथ रखकर। यहाँ गाएगा तो आवाज़ ढाक के जंगलों को भेदती हुई मील-भर दूर परमाई की बाग में जाकर गूँजेगी। आसपास के लोग कान उठाकर सुनेंगे : रामलाल बिरहा गा रहा है। कहेंगे, "बेशरम। तन में नहीं लत्ता, पान खाय अलबत्ता!"

दरी के ऊपर घसीटे बैठा हुआ है। बनमानुस-सा। इसे देख लें तो अबामिनेबुल स्नोमैन के बारे में होनेवाली सब शंकाएँ समाप्त हो जाएँ। गाँव के पश्चिमी ओर झील के किनारे, दो-चार जो ताड़-खजूर के पेड़ हैं, उन्हीं के पास उसका पौन बीघे का खेत है। घसीटे का और कोई नहीं, न कोई सगा-सम्बन्धी, न इस खेत को छोड़कर कोई सम्पत्ति ही है। उसी खेत के किनारे एक जूते के नाल की शक्ल की झोपड़ी पड़ी है। ईख के पुराने सूखे पत्तों का एक छप्पर है। उसी को गोलाकार खड़ा करके बीच में दो-एक लकड़ियों को ज़मीन पर टिकाकर गिरने से बचा लिया गया है। एक ओर खर-पतवार जड़कर उस पर मिट्टी पोत दी है। एक और झांखरों का टट्टर है जिसे खोलकर कीड़ों की तरह घसीटे अन्दर रेंग जाया करता है। दाढ़ी-मूँछ और सर के बाल बढ़े हुए और रूखे। आँखों के ऊपर-नीचे कुछ सूजन-सी है। दमे का मरीज़ है। झोपड़ी के अन्दर पड़ा-पड़ा गले और नाक के सहारे ऐसी-ऐसी आवाज़ें

निकालता है कि अंधेरे-उजेले में लड़के उस तरफ़ जाते हुए घबराते हैं। तम्बाकू पीते हुए जब वह खांसता है तो लगता है, किसी खुरदरे पत्थर पर टीन की भारी संदूक को खिसका दिया गया है। झोपड़ी के बाहर एक भैंसा बंधा रहता है, उसी जैसा बूढ़ा। देखते ही ज़ोर की साँस लेता है। सर हिलाकर मारने दौड़ता है। दुबला हो गया है पर काले चेहरे के भीतर से चमकती हुई आँखों में खून-सा दीख पड़ता है। उसे देखने से समझ में आ जाता है, क्यों यमराज ने इसी के किसी पूर्व पुरुष को अपना वाहन बनाया था। उसी के सहारे घसीटे पौन बीघे के खेत से अपनी जीविका चलाता है। खेती, दमा, अकेलापन, बनमानुसों और प्रेतों की समकक्षता, यही उसकी ज़िन्दगी है। वही घसीटे आज इस सभा में आया हुआ है। किसी का कहना है कि वह गाता भी है।

बनवारी अहीर भी बैठा हुआ है। पहले जो कुछ भी रहा हो, अब चेहरे पर खोखलापन उभर आया है—बड़ी-बड़ी बिच्छू के डंक सरीखी, उमेठी हुई मूँछों के बावजूद। लगभग छः फुट लम्बा शरीर, भारी चेहरा, छोटा मत्था। छोटी-छोटी आँखें, गड्ढों के भीतर से किसी अस्वाभाविक चमक के साथ झांकती हुई। गालों की हड्डियाँ उभरी हुई। सिर्फ़ मूँछों के कारण चेहरे पर पुरानी उग्रता की कुछ निशानी बची हुई है, नहीं तो यह किसी भुखमरे, अधपनपे गरीब का चेहरा है। बनवारी का कभी बड़ा नाम था। लाठी के सहारे वह दस-दस हाथ ऊँची दीवारें कूद जाता था। पेशेवर लठैत था। आधी उमर फौज़दारियों, बलवों, अदालतों और जेल की चहारदीवारियों में बीती, पर उसके बाद जो कुछ हुआ उससे गाँव के कई लोगों में धर्म के प्रति फिर से आस्था पैदा हो गई। बनवारी के आधे अंग को लकवा मार गया। रामनरेश के घर की फौज़दारी में। पड़ोस के मकान पर कब्ज़ा किया था। दूसरी फरीकवाले मैदान छोड़ चुके थे। रामनरेश दस साल की मुकदमेबाज़ी में बार-बार हारकर आज पहली बार जीता था। आकर बनवारी के गले से लिपट गया। पागल सियार की तरह आसमान की ओर सर उठाकर एक लम्बी ललकार छोड़ता हुआ बनवारी की लाठी की तारीफ करने लगा। तभी न जाने क्या हुआ, बनवारी लड़खड़ाकर ज़मीन पर गिर पड़ा। पीड़ा और असमर्थता के मारे उसकी आँखें फैल गईं। कुछ दिनों बाद बनवारी की लाठी बिना तेल के रूखी और काली पड़ गई। उसमें घुन लगने लगा। बनवारी को लकवा मार गया। अब वह एक मोटी बैसाखी के सहारे लंगड़ाता हुआ गाँव के निरर्थक चक्कर लगाता है। जिस किसी के चबूतरे पर बैठकर तम्बाकू पी लेता है। उसकी मूँछें उसके अतीत को उसके वर्तमान में खींचने की निरर्थक चेष्टा करती हैं। वर्तमान उसके साथ लंगड़ाकर चलता है। भविष्य आँख की अंधेरी गुफाओं से अनिश्चय के साथ झांकता है। यह सब है, फिर भी बनवारी होली और धमार गाता है। ढोलक और मजीरे के ऊपर उसकी स्पष्ट, ऊँची, कुछ मीठी, कुछ कड़ी आवाज़ चारों ओर फैलकर थोड़ी देर के लिए ग्राम-संगीत की सरल स्वच्छन्दता को अपने में समेट लेती है।

बनवारी शेड से कुछ दूर हटकर ज़मीन पर बैठा हुआ है। उसी के पास बहरैची चीथड़ों के एक गन्दे-से गेंद को जलाकर गांजा सुलगा रहा है। इस वक्त बहरैची हंस रहा है। पर इस तरह वह बहुत कम हंसता है। पिछले साल-भर से तो किसी ने शायद उसे हंसते देखा ही नहीं। उसके आठ-दस बीघे खेत थे। बैलों की जोड़ी थी, बैलगाड़ी थी, दुधार भैंस थी। घर का अकेला मर्द, घर में बीवी को संग्रहणी का मर्ज़। पाँच छोटे-छोटे बच्चे। उन्हें देखना, बीबी की देखभाल करना, और फिर अपने बूते पर अकेले खेती करना। एक बार कार्तिक के महीने में उसे मलेरिया ने धर दबाया। खेतों की नमी उखड़ी जा रही थी। बैल खूंटे पर बंधे-बंधे

कमज़ोर हुए जा रहे थे। जोतने-बोने के दिन निकले जा रहे थे। उसने खेत बटाई पर उठा दिए। उसके बाद पुराने लम्बरदार लालतासिंह की पुरानी दुश्मनी बीच में आ गई। बटाई के काश्तकारों की दरख्वास्त। पटवारी और कानूनगो की साजिश। लालतासिंह का दबाव। तहसील के चक्कर। बहरैची की समझ में और कुछ नहीं आया। यही समझा कि ज़मीन उसकी नहीं रही। वह उन्हीं शिकमी किसानों के नाम लिख गई जिन्होंने उसके खेत उस साल कातिक के महीने में जोत लिए थे। बड़े अभिमान से किसी नेता ने समझाया, भूमि उसी की है जो उस पर हल चलाता है। बहरैची इस सिद्धान्त को और इस सिद्धान्त की नींव पर बने हुए कानून को सुनता रहा। हाथ-पाँव जैसे सुन्न हो गए हों। आँखें फटी-सी रह गईं। मुँह खुला रह गया। कुछ जवाब नहीं देते बना। आसपास के गाँवों में चार-चार सौ बीघे की सीरें पुराने ज़मींदारों के कब्ज़े में चली आ रही हैं। जिनके नाम ज़मीन लिखी हुई है उन्हें पता भी नहीं कि वह कहाँ है, उसे सींचने का पानी कहाँ से आता है, उसमें धान उगता है कि गेहूँ। पर उनके लिए ये सिद्धान्त और कानून की किताबें वैसी ही रह जाती हैं जैसे किसी पहलवान के शरीर पर किसी हंसमुख बच्चे के मुक्के, जो खेल ही खेल में उस पर बरसते हैं, जिन्हें वह मुस्कराते हुए स्वीकार करता है। बहरैची ने अदालतों के चक्कर लगाए, शत्रु को मारने के लिए चंडी का अनुष्ठान कराया, दाढ़ी-मूँछ बढ़ा ली, पर पूरा साल वैसे ही बीत गया। मज़दूरी करके किसी प्रकार दिन काटे। इस साल किसी एक मुकदमे की अपील में जीत हुई है। दो बीघा खेत वापस आया है। बहरैची की मूँछ फिर पुरानी लम्बाई पर आ रही है। दाढ़ी मुंड गई है। बुझे हुए मन से उन्हीं दो बीघों पर अपने जर्जर संसार को चलाने की कोशिश कर रहा है और बहरैची भी गाने के लिए आया है।

सिर्फ़ रामलाल, घसीटे, बनवारी और बहरैची ही की बात नहीं, राधे के खलिहान में अभी परसों आग लगी, अगहनी धान की गीली फसल सुलगकर रह गई। बेचू को घरवाली को किसी सांड़ ने सींगों पर उठाकर दस हाथ की दूरी पर फेंक दिया। टूटी हुई कमर लिए वह चार दिन से चारपाई पर पड़ी हुई कराह रही है। सभी के साथ अपने-अपने दुःख हैं, अपनी-अपनी निराशाएँ हैं। केवल रामचरन को लोग सुखी समझते हैं। उसका घर भरा-पुरा है। लड़के हैं, उनकी पत्नियाँ हैं, खेत-पात हैं। जानवर हैं। बस मन में एक कांटा कई साल पहले से चुभा हुआ है। उसकी बीवी एक रात कहीं चली गई। फिर उसका पता नहीं चला। वह जानता है कि किसके साथ गई है। कहाँ गई है, यही नहीं जानता। न जाने कितने दिनों तक ज़ंजीर में बंधे हुए हाथी की तरह वह कसमसाता रहा। अकेले में रोता रहा। अपने-आपको कोसता रहा है। इतने साल बीत गए हैं पर जब-जब जाड़े की ठंडी हवाएँ हरहराती हुई बहती हैं और पाला गिरता है और पड़ोस के बाग में चमगादड़ चीखते हैं, उसे लगता है कि वह कांटा कसक रहा है, पुराने घाव में चुभन-सी होती है और सब समझते हैं कि वह एक सम्पन्न किसान है और ऐसे सुखी आदमी ने नेतृत्व में इन अपंग जर्जर खेतिहारों और मज़दूरों का समुदाय गाने के लिए इकट्ठा हुआ है।

चिलम, गांजा, बीड़ी, हंसी-मज़ाक, कुछ गीत। मूर्छा की बर्फ़ीली झील पर सूरज की कमज़ोर किरणें तैरती हैं। सतह के नीचे कुछ पिघलता-सा है। कुछ बुलबुले उठते हैं। फिर काले बादल, कुहरा, अंधेरा और बर्फ़ीली चट्टान-सी पानी की चिकनी चादर...।

○ ○ ○

राग दरबारी

शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था।

वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है। जैसे कि सत्य के होते हैं, इस ट्रक के भी कई पहलू थे। पुलिसवाले उसे एक ओर से देखकर कह सकते थे कि वह सड़क के बीच में खड़ा है, दूसरी ओर से देखकर ड्राइवर कह सकता था कि वह सड़क के किनारे पर है। चालू फ़ैशन के हिसाब से ड्राइवर ने ट्रक का दाहिना दरवाज़ा खोलकर डैने की तरह फैला दिया था। इससे ट्रक की खूबसूरती बढ़ गई थी, साथ ही यह खतरा मिट गया था कि उसके यहाँ होते हुए कोई दूसरी सवारी भी सड़क के ऊपर से निकल सकती है।

सड़क के एक ओर पेट्रोल-स्टेशन था; दूसरी ओर छप्परों, लकड़ी और टीन के सड़े टुकड़ों और स्थानीय क्षमता के अनुसार निकलनेवाले कबाड़ की मदद से खड़ी की हुई दुकानें थीं। पहली निगाह में ही मालूम हो जाता था कि दुकानों की गिनती नहीं हो सकती। प्रायः सभी में जनता का एक मनपसन्द पेय मिलता था जिसे वहाँ गर्द, चीकट, चाय की कई बार इस्तेमाल की हुई पत्ती और खौलते पानी आदि के सहारे बनाया जाता था। उनमें मिठाइयाँ भी थीं जो दिन-रात आँधी-पानी और मक्खी-मच्छरों के हमलों का बहादुरी से मुकाबला करती थीं। वे हमारे देसी कारीगरों के हस्तकौशल और उनकी वैज्ञानिक दक्षता का सबूत देती थीं। वे बताती थीं कि हमें एक अच्छा रेज़र-ब्लेड बनाने का नुस्खा भले ही न मालूम हो, पर कूड़े को स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में बदल देने की तरकीब सारी दुनिया में अकेले हमीं को आती है।

ट्रक के ड्राइवर और क्लीनर एक दुकान के सामने खड़े चाय पी रहे थे। रंगनाथ ने दूर से इस ट्रक को देखा और देखते ही उसके पैर तेज़ी से चलने लगे।

आज रेलवे ने उसे धोखा दिया था। स्थानीय पैसेंजर ट्रेन को रोज़ की तरह दो घण्टा लेट समझकर वह घर से चला था, पर वह सिर्फ़ डेढ़ घण्टा लेट होकर चल दी थी। शिकायती किताब के कथा-साहित्य में अपना योगदान देकर और रेलवे अधिकारियों की निगाह में हास्यास्पद बनकर वह स्टेशन से बाहर निकल आया था। रास्ते में चलते हुए उसने ट्रक देखा और उसकी बाछें—वे जिस्म में जहाँ कहीं भी होती हों—खिल गईं।

जब वह ट्रक के पास पहुँचा, क्लीनर और ड्राइवर चाय की आखिरी चुस्कियाँ ले रहे थे। इधर-उधर ताककर, अपनी खिली हुई बाछों को छिपाते हुए, उसने ड्राइवर से निर्विकार ढंग से पूछा, "क्यों ड्राइवर साहब, यह ट्रक क्या शिवपालगंज की ओर जाएगा?"

ड्राइवर के पीने को चाय थी और देखने को दुकानदारिन थी। उसने लापरवाही से

जवाब दिया, "जाएगा।"

"हमें भी ले चलिएगा अपने साथ? पन्द्रहवें मील पर उतर पड़ेंगे। शिवपालगंज तक जाना है।"

ड्राइवर ने दुकानदारिन की सारी सम्भावनाएँ एक साथ देख डालीं और अपनी निगाह रंगनाथ की ओर घुमायी। अहा! क्या हुलिया था! नवकंजलोचन कंजमुख करकंज पदकंजारुणम्! पैर खद्दर के पैजामे में, सिर खद्दर की टोपी में, बदन खद्दर के कुर्ते में। कन्धे से लटकता हुआ भूदानी झोला। हाथ में चमड़े की अटैची। ड्राइवर ने उसे देखा और देखता ही रह गया। फिर कुछ सोचकर बोला, "बैठ जाइए शिरिमानजी, अभी चलते हैं।"

घरघराकर ट्रक चला। शहर की टेढ़ी-मेढ़ी लपेट से फुरसत पाकर कुछ दूर आगे साफ़ और वीरान सड़क आ गई। यहाँ ड्राइवर ने पहली बार टॉप गियर का प्रयोग किया, पर वह फिसल-फिसलकर न्यूटरल में गिरने लगा। हर सौ गज़ के बाद गियर फिसल जाता और एक्सिलेटर दबे होने से ट्रक की घरघराहट बढ़ जाती, रफ्तार धीमी हो जाती। रंगनाथ ने कहा, "ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिलकुल अपने देश की हुकूमत-जैसा है।"

ड्राइवर ने मुस्कराकर वह प्रशंसा-पत्र ग्रहण किया। रंगनाथ ने अपनी बात साफ़ करने की कोशिश की। कहा, "उसे चाहे जितनी बार टॉप गियर में डालो, दो गज़ चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खाँचे में आ जाती है।"

ड्राइवर हँसा। बोला, "ऊँची बात कह दी शिरिमानजी ने।"

इस बार उसने गियर को टॉप में डालकर अपनी एक टाँग लगभग नब्बे अंश के कोण पर उठायी और गियर को जाँघ के नीचे दबा लिया। रंगनाथ ने कहना चाहा कि हुकूमत को चलाने का भी यही नुस्खा है, पर यह सोचकर कि बात ज़रा और ऊँची हो जाएगी, वह चुप बैठा रहा।

उधर ड्राइवर ने अपनी जाँघ गियर से हटाकर यथास्थान वापस पहुँचा दी थी। गियर पर उसने एक लम्बी लकड़ी लगा दी और उसका एक सिरा पेनल के नीचे ठोंक दिया। ट्रक तेज़ी से चलता रहा। उसे देखते ही साइकिल-सवार, पैदल, इक्के—सभी सवारियाँ कई फर्लांग पहले ही से खौफ के मारे सड़क से उतरकर नीचे चली जातीं। जिस तेज़ी से वे भाग रही थीं, उससे लगता था कि उनकी निगाह में वह ट्रक नहीं है; वह आग की लहर है, बंगाल की खाड़ी से उठा हुआ तूफ़ान है, जनता पर छोड़ा हुआ कोई बदकलाम अहलकार है, पिंडारियों का गिरोह है। रंगनाथ ने सोचा, उसे पहले ही ऐलान करा देना था कि अपने-अपने जानवर और बच्चे घरों में बन्द कर लो, शहर से अभी-अभी एक ट्रक छूटा है।

तब तक ड्राइवर ने पूछा, "कहिए शिरिमानजी! क्या हालचाल हैं ? बहुत दिन बाद देहात की ओर जा रहे हैं!"

रंगनाथ ने शिष्टाचार की इस कोशिश को मुस्कराकर बढ़ावा दिया। ड्राइवर ने कहा, "शिरिमानजी, आजकल क्या कर रहे हैं?"

"घास खोद रहा हूँ।"

ड्राइवर हँसा। दुर्घटनावश एक दस साल का नंग-धड़ंग लड़का ट्रक से बिलकुल ही बच गया। बचकर वह एक पुलिया के सहारे छिपकली-सा गिर पड़ा। ड्राइवर इससे प्रभावित नहीं हुआ। एक्सिलेटर दबाकर हँसते-हँसते बोला, "क्या बात कही है! ज़रा खुलासा समझाइए।"

"कहा तो, घास खोद रहा हूँ। इसी को अंग्रेज़ी में रिसर्च कहते हैं। परसाल एम. ए. किया था। इस साल से रिसर्च शुरू की है।"

ड्राइवर जैसे अलिफ़-लैला की कहानियाँ सुन रहा हो, मुस्कराता हुआ बोला, "और शिरिमानजी, शिवपालगंज क्या करने जा रहे हैं?"

"वहाँ मेरे मामा रहते हैं। बीमार पड़ गया था। कुछ दिन देहात में जाकर तन्दुरुस्ती बनाऊँगा।"

इस बार ड्राइवर काफ़ी देर तक हँसता रहा। बोला, "क्या बात बनायी है शिरिमानजी ने!"

रंगनाथ ने उसकी ओर सन्देह से देखते हुए पूछा, "जी! इसमें बात बनाने की क्या बात?"

वह इस मासूमियत पर लोट-पोट हो गया। पहले ही की तरह हँसते हुए बोला, "क्या कहने हैं! अच्छा जी, छोड़िए भी इस बात को। बताइए, मित्तल साहब के क्या हाल हैं? क्या हुआ उस हवालाती के खूनवाले मामले का?"

रंगनाथ का खून सूख गया। भर्राए गले से बोला, "अजी, मैं क्या जानूँ यह मित्तल कौन है।"

ड्राइवर की हँसी में ब्रेक लग गया। ट्रक की रफ़्तार भी कुछ कम पड़ गई। उसने रंगनाथ को एक बार गौर से देखकर पूछा, "आप मित्तल साहब को नहीं जानते ?"

"नहीं।"

"जैन साहब को ?"

"नहीं।"

ड्राइवर ने खिड़की के बाहर थूक दिया और साफ़ आवाज़ में सवाल किया, "आप सी.आई.डी. में काम नहीं करते?"

रंगनाथ ने झुँझलाकर कहा, "सी.आई.डी.? यह किस चिड़िया का नाम है?"

ड्राइवर ने ज़ोर से साँस छोड़ी और सामने सड़क की दशा का निरीक्षण करने लगा। कुछ बैलगाड़ियाँ जा रही थीं। जब कहीं और जहाँ भी कहीं मौका मिले, वहाँ टाँगें फैला देनी चाहिए, इस लोकप्रिय सिद्धान्त के अनुसार गाड़ीवान बैलगाड़ियों पर लेटे हुए थे और मुँह ढाँपकर सो रहे थे। बैल अपनी क़ाबिलियत से नहीं, बल्कि अभ्यास के सहारे चुपचाप सड़क पर गाड़ी घसीटे लिये जा रहे थे। यह भी जनता और जनार्दनवाला मज़मून था, पर रंगनाथ की हिम्मत कुछ कहने की नहीं हुई। वह सी.आई.डी. वाली बात से उखड़ गया था। ड्राइवर ने पहले रबड़वाला हॉर्न बजाया, फिर एक ऐसा हॉर्न बजाया जो संगीत के आरोह-अवरोह के बावजूद बड़ा ही डरावना था, पर गाड़ियाँ अपनी राह चलती रहीं। ड्राइवर काफ़ी रफ़्तार से ट्रक चला रहा था और बैलगाड़ियों के ऊपर से निकाल ले जानेवाला था; पर गाड़ियों के पास पहुँचते-पहुँचते उसे शायद अचानक मालूम हो गया कि वह ट्रक चला रहा है, हेलीकॉप्टर नहीं। उसने एकदम से ब्रेक लगाया, पेनल से लगी हुई लकड़ी नीचे गिरा दी, गियर बदला और बैलगाड़ियों को लगभग छूता हुआ उनसे आगे निकल गया। आगे जाकर उसने घृणापूर्वक रंगनाथ से कहा, "सी.आई.डी. नहीं हो तो तुमने यह खद्दर क्यों डाल रखा है जी?"

रंगनाथ इन हमलों से लड़खड़ा गया था। पर उसने इस बात को मामूली जाँच-

पड़ताल का सवाल मानकर सरलता से जवाब दिया, "खद्दर तो आजकल सभी पहनते हैं।"

"अजी, कोई तुक का आदमी तो पहनता नहीं।" कहकर उसने दुबारा खिड़की के बाहर थूका और गियर को टॉप में डाल दिया।

रंगनाथ का परसनालिटी कल्ट समाप्त हो गया। थोड़ी देर वह चुपचाप बैठा रहा। बाद में मुँह से सीटी बजाने लगा। ड्राइवर ने उसे कुहनी से हिलाकर कहा, "देखो जी, चुपचाप बैठो। यह कीर्तन की जगह नहीं है।"

रंगनाथ चुप हो गया। तभी ड्राइवर ने झुँझलाकर कहा, "यह गियर बार-बार फिसलकर... न्यूटरल ही में घुसता है। देख क्या रहे हो? ज़रा पकड़े रहो जी!"

थोड़ी देर में उसने दुबारा झुँझलाकर कहा, "ऐसे नहीं, इस तरह! दबाकर ठीक से पकड़े रहो।"

ट्रक के पीछे काफ़ी देर से हॉर्न बजता आ रहा था। रंगनाथ उसे सुनता रहा था और ड्राइवर उसे अनसुना करता रहा था। कुछ देर बाद पीछे से क्लीनर ने लटककर ड्राइवर की कनपटी के पास खिड़की पर खट्-खट् करना शुरू कर दिया। ट्रकवालों की भाषा में इस कार्रवाई का निश्चित ही कोई खौफ़नाक मतलब होगा, क्योंकि उसी वक्त ड्राइवर ने रफ़्तार कम कर दी और ट्रक को सड़क की बायीं पटरी पर कर लिया।

हॉर्न की आवाज़ एक ऐसे स्टेशन-वैगन से आ रही थी जो आजकल विदेशों के आशीर्वाद से सैकड़ों की संख्या में यहाँ देश की प्रगति के लिए इस्तेमाल होते हैं और हर सड़क पर हर वक़्त देखे जा सकते हैं। स्टेशन-वैगन दायें से निकलकर आगे धीमा पड़ गया और उससे बाहर निकले हुए एक खाकी हाथ ने ट्रक को रुकने का इशारा दिया। दोनों गाड़ियाँ रुक गईं।

स्टेशन-वैगन से एक अफ़सरनुमा चपरासी और एक चपरासीनुमा अफ़सर उतरे। खाकी कपड़े पहने हुए दो सिपाही भी उतरे। उनके उतरते ही पिंडारियों-जैसी लूट-खसोट शुरू हो गई। किसी ने ड्राइवर का ड्राइविंग लाइसेंस छीना, किसी ने रजिस्ट्रेशन-कार्ड; कोई बैकव्यू मिरर खटखटाने लगा, कोई ट्रक का हॉर्न बजाने लगा। कोई ब्रेक देखने लगा। उन्होंने फूटबोर्ड हिलाकर देखा, बत्तियाँ जलायीं, पीछे बजनेवाली घण्टी टुनटुनायी। उन्होंने जो कुछ भी देखा, वह खराब निकला; जिस चीज़ को छुआ, उसी में गड़बड़ी आ गई। इस तरह उन चार आदमियों ने चार मिनट में लगभग चालीस दोष निकाले और फिर एक पेड़ के नीचे खड़े होकर इस प्रश्न पर बहस करनी शुरू कर दी कि दुश्मन के साथ कैसा सुलूक किया जाए।

रंगनाथ की समझ में कुल यही आया कि दुनिया में कर्मवाद के सिद्धान्त, 'पोयोटिक जस्टिस' आदि की कहानियाँ सच्ची हैं; ट्रक की चेकिंग हो रही है और ड्राइवर से भगवान उसके अपमान का बदला ले रहा है। वह अपनी जगह बैठा रहा। पर इसी बीच ड्राइवर ने मौका निकालकर कहा, "शिरिमानजी, ज़रा नीचे उतर आवें। वहाँ गियर पकड़कर बैठने की अब क्या ज़रूरत है?"

रंगनाथ एक दूसरे पेड़ के नीचे जाकर खड़ा हो गया। उधर ड्राइवर और चेकिंग जत्थे में ट्रक के एक-एक पुर्ज़े को लेकर बहस चल रही थी। देखते-देखते बहस पुर्ज़ों से फिसलकर देश की सामान्य दशा और आर्थिक दुरवस्था पर आ गई और थोड़ी ही देर में उपस्थित लोगों

की छोटी-छोटी उपसमितियाँ बन गईं। वे अलग-अलग पेड़ों के नीचे एक-एक विषय पर विशेषज्ञ की हैसियत से विचार करने लगीं। काफ़ी बहस हो जाने के बाद एक पेड़ के नीचे खुला अधिवेशन-जैसा होने लगा और कुछ देर में जान पड़ा, गोष्ठी खत्म होनेवाली है।

आख़िर में रंगनाथ को अफ़सर की मिमियाती आवाज़ सुन पड़ी, "क्यों मियाँ अशफ़ाक, क्या राय है? माफ़ किया जाए?"

चपरासी ने कहा, "और कर ही क्या सकते हैं हुजूर? कहाँ तक चालान कीजिएगा। एकाध गड़बड़ी हो तो चालान भी करें।"

एक सिपाही ने कहा, "चार्ज-शीट भरते-भरते सुबह हो जाएगी।"

इधर-उधर की बातों के बाद अफ़सर ने कहा, "अच्छा जाओ जी बण्टासिंह, तुम्हें माफ किया।"

ड्राइवर ने खुशामद के साथ कहा, "ऐसा काम शिरिमानजी ही कर सकते हैं।"

अफ़सर काफ़ी देर से दूसरे पेड़ के नीचे खड़े हुए रंगनाथ की ओर देख रहा था। सिगरेट सुलगाता हुआ वह उसकी ओर आया। पास आकर पूछा, "आप भी इसी ट्रक पर जा रहे हैं?"

"जी हाँ।"

"आपसे इसने कुछ किराया तो नहीं लिया है?"

"जी, नहीं।"

अफ़सर बोला, "वह तो मैं आपकी पोशाक ही देखकर समझ गया था, पर जाँच करना मेरा फर्ज़ था।"

रंगनाथ ने उसे चिढ़ाने के लिए कहा, "यह असली खादी थोड़े ही है। यह मिल की खादी है।"

उसने इज़्ज़त के साथ कहा, "अरे साहब, खादी तो खादी! उसमें असली-नकली का क्या फ़र्क?"

अफ़सर के चले जाने के बाद ड्राइवर और चपरासी रंगनाथ के पास आए। ड्राइवर ने कहा, "ज़रा दो रुपये तो निकालना जी!"

उसने मुँह फेरकर कड़ाई से जवाब दिया, "क्या मतलब है? मैं रुपया क्यों दूँ?"

ड्राइवर ने चपरासी का हाथ पकड़कर कहा, "आइए शिरिमानजी, मेरे साथ आइए।" जाते-जाते वह रंगनाथ से कहने लगा, "तुम्हारी ही वजह से मेरी चेकिंग हुई और तुम्हीं मुसीबत में मुझसे इस तरह बात करते हो? तुम्हारी यही तालीम है?"

वर्तमान शिक्षा-पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है। ड्राइवर भी उस पर रास्ता चलते-चलते एक जुम्ला मारकर चपरासी के साथ ट्रक की ओर चल दिया। रंगनाथ ने देखा, शाम घिर रही है, उसका अटैची ट्रक में रखा है, शिवपालगंज अभी पाँच मील दूर है और उसे लोगों की सद्भावना की ज़रूरत है। वह धीरे-धीरे ट्रक की ओर आया। उधर स्टेशन-वैगन का ड्राइवर हॉर्न बजा-बजाकर चपरासी को वापस बुला रहा था। रंगनाथ ने दो रुपये ड्राइवर को देने चाहे। उसने कहा, "अब दे ही रहे हो तो अरदली साहब को दो। मैं तुम्हारे रुपयों का क्या करूँगा?"

कहते-कहते उसकी आवाज़ में उन संन्यासियों की खनक आ गई जो पैसा हाथ से

नहीं छूते, सिर्फ़ दूसरों को यह बताते हैं कि तुम्हारा पैसा हाथ का मैल है। चपरासी रुपयों को जेब में रखकर, बीड़ी का आखिरी कश खींचकर, उसका अधजला टुकड़ा लगभग रंगनाथ के पैजामे पर फेंककर स्टेशन-वैगन की ओर चला गया। उसके रवाना हो जाने पर ड्राइवर ने भी ट्रक चलाया और पहले की तरह गियर को 'टॉप' में लेकर रंगनाथ को पकड़ा दिया। फिर अचानक, बिना किसी वजह के, वह मुँह को गोल-गोल बनाकर सीटी पर सिनेमा की एक धुन निकालने लगा। रंगनाथ चुपचाप सुनता रहा।

थोड़ी देर में ही धुँधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियों-सी रखी हुई नज़र आईं। ये औरतें थीं, जो कतार बाँधकर बैठी हुई थीं। वे इत्मीनान से बातचीत करती हुई वायु-सेवन कर रही थीं और लगे-हाथ मल-मूत्र का विसर्जन भी। सड़क के नीचे घूरे पटे पड़े थे और उनकी बदबू के बोझ से शाम की हवा किसी गर्भवती की तरह अलसायी हुई-सी चल रही थी। कुछ दूरी पर कुत्तों के भूँकने की आवाज़ें हुईं। आँखों के आगे धुएँ के जाले उड़ते हुए नज़र आए। इससे इन्कार नहीं हो सकता था कि वे किसी गाँव के पास आ गए थे। यही शिवपालगंज था।

○ ○ ○

वैद्यजी थे, हैं और रहेंगे।

अंग्रेज़ों के ज़माने में वे अंग्रेज़ों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देसी हुकूमत के दिनों में वे देसी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे। पिछले महायुद्ध के दिनों में, जब देश को जापान से ख़तरा पैदा हो गया था, उन्होंने सुदूर-पूर्व में लड़ने के लिए बहुत से सिपाही भरती कराए। अब ज़रूरत पड़ने पर रातोंरात वे अपने राजनीतिक गुट में सैकड़ों सदस्य भरती करा देते थे। पहले भी वे जनता की सेवा जज की इजलास में जूरी और असेसर बनकर, दीवानी के मुकदमों में जायदादों के सिपुर्ददार होकर और गाँव के ज़मींदारों में लम्बरदार के रूप में करते थे। अब वे कोऑपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डॉयरेक्टर और कॉलिज के मैनेजर थे। वास्तव में वे इन पदों पर काम नहीं करना चाहते थे क्योंकि उन्हें पदों का लालच न था। पर उस क्षेत्र में ज़िम्मेदारी के इन कामों को निभानेवाला कोई आदमी ही न था और वहाँ जितने नवयुवक थे, वे पूरे देश के नवयुवकों की तरह निकम्मे थे; इसीलिए उन्हें बुढ़ापे में इन पदों को सँभालना पड़ा था।

बुढ़ापा। वैद्यजी के लिए इस शब्द का इस्तेमाल तो सिर्फ़ अरिथमेटिक की मजबूरी के कारण करना पड़ा क्योंकि गिनती में उनकी उमर बासठ साल हो गई थी। पर राजधानियों में रहकर देश-सेवा करनेवाले सैकड़ों महापुरुषों की तरह वे भी उमर के बावजूद बूढ़े नहीं हुए थे और उन्हीं महापुरुषों की तरह वैद्यजी की यह प्रतिज्ञा थी कि हम बूढ़े तभी होंगे जब कि मर जाएँगे और जब तक लोग हमें यक़ीन न दिला देंगे कि तुम मर गए हो, तब तक अपने को जीवित ही समझेंगे और देश-सेवा करते रहेंगे। हर बड़े राजनीतिज्ञ की तरह वे राजनीति से नफ़रत करते थे और राजनीतिज्ञों का मज़ाक उड़ाते थे। गाँधी की तरह अपनी राजनीतिक पार्टी में उन्होंने कोई पद नहीं लिया था क्योंकि वे वहाँ नये खून को प्रोत्साहित करना चाहते थे; पर कोऑपरेटिव और कॉलिज के मामलों में लोगों ने उन्हें मजबूर कर दिया था और उन्होंने मजबूर होना स्वीकार कर लिया था।

वैद्यजी का एक पेशा वैद्यक का भी था। वैद्यक में उन्हें दो नुस्खे खासतौर से आते

थे—'गरीबों का मुफ़्त इलाज' और 'फ़ायदा न हो तो दाम वापस'। इन नुस्खों से दूसरों को जो आराम मिला हो वह तो दूसरी बात है, खुद वैद्यजी को भी आराम की कमी नहीं थी।

उन्होंने रोगों के दो वर्ग बना रखे थे—प्रकट रोग और गुप्त रोग। वे प्रकट रोगों की प्रकट रूप से और गुप्त रोगों की गुप्त रूप से चिकित्सा करते थे। रोगों के मामले में उनकी एक यह थ्योरी थी कि सभी रोग ब्रह्मचर्य के नाश से पैदा होते हैं। कॉलिज के लड़कों का तेजहीन, मरियल चेहरा देखकर वे प्रायः इस थ्योरी की बात करने लगते थे। अगर कोई कह देता कि लड़कों की तन्दुरुस्ती गरीबी और अच्छी खुराक न मिलने से बिगड़ी हुई है, तो वे समझते थे कि वह घुमाकर ब्रह्मचर्य के महत्त्व को अस्वीकार कर रहा है और चूँकि ब्रह्मचर्य को न माननेवाला बदचलन होता है इसलिए गरीबी और खुराक की कमी की बात करनेवाला भी बदचलन है।

ब्रह्मचर्य के नाश का क्या नतीजा होता है, इस विषय पर वे बड़ा ख़ौफ़नाक भाषण देते थे। सुकरात ने शायद उन्हें या किसी दूसरे को बताया था कि ज़िन्दगी में तीन बार के बाद चौथी बार ब्रह्मचर्य का नाश करना हो तो पहले अपनी क़ब्र खोद लेनी चाहिए। इस इंटरव्यू का हाल वे इतने सचित्र ढंग से पेश करते थे कि लगता था, ब्रह्मचर्य पर सुकरात उनके आज भी अवैतनिक सलाहकार हैं। उनकी राय में ब्रह्मचर्य न रखने से सबसे बड़ा हर्ज यह होता था कि आदमी बाद में चाहने पर भी ब्रह्मचर्य का नाश करने लायक नहीं रह जाता था। संक्षेप में, उनकी राय थी कि ब्रह्मचर्य का नाश कर सकने के लिए ब्रह्मचर्य का नाश न होने देना चाहिए।

उनके इन भाषणों को सुनकर कॉलिज के तीन-चौथाई लड़के अपने जीवन से निराश हो चले थे। पर उन्होंने एक साथ आत्महत्या नहीं की थी, क्योंकि वैद्यजी के दवाखाने का एक विज्ञापन था—

'जीवन से निराश नवयुवकों के लिए आशा का सन्देश!'

आशा किसी लड़की का नाम होता, तब भी लड़के यह विज्ञापन पढ़कर इतने उत्साहित न होते। पर वे जानते थे कि सन्देश एक गोली की ओर से आ रहा है जो देखने में बकरी की लेंडी-जैसी है, पर पेट में जाते ही रगों में बिजली-सी दौड़ाने लगती है।

एक दिन उन्होंने रंगनाथ को भी ब्रह्मचर्य के लाभ समझाए। उन्होंने एक अजीब-सा शरीर-विज्ञान बताया, जिसके हिसाब से कई मन खाने से कुछ छटाँक रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से कुछ और, और इस तरह आखिर में वीर्य की एक बूँद बनती है। उन्होंने साबित किया कि वीर्य की एक बूँद बनाने में जितना खर्च होता है उतना एक ऐटम बम बनाने में भी नहीं होता। रंगनाथ को जान पड़ा कि हिन्दुस्तान के पास अगर कोई कीमती चीज़ है तो वीर्य ही है। उन्होंने कहा कि वीर्य के हज़ार दुश्मन हैं और सभी उसे लूटने पर आमादा हैं। अगर कोई किसी तरकीब से अपना वीर्य बचा ले जाए तो, समझो, पूरा चरित्र बचा ले गया। उनकी बातों से लगा कि पहले हिन्दुस्तान में वीर्य-रक्षा पर बड़ा ज़ोर था, और एक ओर घी-दूध की तो दूसरी ओर वीर्य की नदियाँ बहती थीं। उन्होंने आखिर में एक श्लोक पढ़ा जिसका मतलब था कि वीर्य की एक बूँद गिरने से आदमी मर जाता है और एक बूँद उठा लेने से ज़िन्दगी हासिल करता है।

संस्कृत सुनते ही सनीचर ने हाथ जोड़कर कहा, "जय भगवान् की !" उसने सिर

ज़मीन पर टेक दिया और श्रद्धा के आवेग में अपना पिछला हिस्सा छत की ओर उठा दिया। वैद्यजी और भी जोश में आ गए और रंगनाथ से बोले, "ब्रह्मचर्य के तेज का क्या कहना! कुछ दिन बाद शीशे में अपना मुँह देखना, तब ज्ञात होगा।"

रंगनाथ सिर हिलाकर अन्दर जाने को उठ खड़ा हुआ। अपने मामा के इस स्वभाव को वह पहले से जानता था। रुप्पन बाबू दरवाज़े के पास खड़े थे। उन पर वैद्यजी के भाषण का कोई असर नहीं पड़ा था। उन्होंने रंगनाथ से फुसफुसाकर कहा, "मुँह पर तेज लाने के लिए आजकल ब्रह्मचर्य की क्या ज़रूरत? वह तो क्रीम-पाउडर के इस्तेमाल से भी आ जाता है।"

○ ○ ○

पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ईजाद दीवानी की अदालतों में हुई है, ताकि वादी और प्रतिवादी इस अफसोस को लेकर न मरें कि उनका मुकदमा अधूरा ही पड़ा रहा। इसके सहारे वे सोचते हुए चैन से मर सकते हैं कि मुक़दमे का फ़ैसला सुनने के लिए अभी अगला जन्म तो पड़ा ही है।

○ ○ ○

छत के ऊपर एक कमरा था जो हमेशा संयुक्त परिवार की पाठ्य-पुस्तक-जैसा खुला पड़ा रहता था। कोने में रखी हुई मुगदरों की जोड़ी इस बात का ऐलान करती थी कि सरकारी तौर पर यह कमरा बद्री पहलवान का है। वैसे, परिवार के दूसरे प्राणी भी कमरे का अपने-अपने ढंग से प्रयोग करते थे। घर की महिलाएँ काँच और मिट्टी के बरतनों में ढेरों अचार भरकर छत पर धूप में रखती थीं और शाम होते-होते कमरे में जमा कर देती थीं। यही हाल छत पर सूखनेवाले कपड़ों का भी था। कमरे के आर-पार एक रस्सी लटकती थी जिस पर शाम के वक्त लँगोट और चोलियाँ, अँगोछे और पेटीकोट साथ-साथ झूलते नज़र आते थे। वैद्यजी के दवाखाने की अनावश्यक शीशियाँ भी कमरे की एक आलमारी में जमा थीं। प्रायः सभी शीशियाँ खाली थीं। उन पर चिपके हुए सचित्र विज्ञापन 'इस्तेमाल के पहले' शीर्षक पर एक अर्धमानव की तस्वीर से और 'इस्तेमाल के बाद' शीर्षक के अन्तर्गत एक ऐसे आदमी की तस्वीर से, जिसकी पूँछें ऐंठी हुई हैं, लँगोट कसा हुआ है और परिणामतः स्वास्थ्य बहुत अच्छा है, पता चलता था कि ये वही शीशियाँ हैं जो हज़ारों इन्सानों को शेर के मानिन्द बना देती हैं; यह दूसरी बात है कि वे अपने गुसलखाने और शयन-कक्ष में ही कमर लपलपाते हुए शेर की तरह घूमा करते हैं, बाहर बकरी-के-बकरी बने रहते हैं।

एक साहित्य है जो गुप्त कहलाता है, जो 'भारत में अंग्रेज़ी राज' जैसी पुस्तकों से भी ज़्यादा खतरनाक है, क्योंकि उसका छापना 1947 के पहले तो जुर्म था ही, आज भी जुर्म है, जो बहुत-सी दफ़्तरी बातों की तरह गुप्त होकर भी गुप्त नहीं रहता, जो आहार-निद्रा-भय आदि में फँसे हुए आदमियों की ज़िन्दगी में एक बड़े सुखद लिटरेरी सप्लीमेण्ट का काम करता है और जो विशिष्ट साहित्य और जन-साहित्य की बनावटी श्रेणियों को लाँघकर व्यापक रूप से सबके हृदयों में प्रतिष्ठित है। वैसे उसमें कोई खास बात नहीं होती, सिर्फ़ यही बताया जाता है कि किसी आदमी ने किसी आदमी या किसी औरत के साथ किसी तरह से क्या बर्ताव किया; यानी उसमें, सुमित्रानन्दन पन्त की दार्शनिक भाषा में कहा जाए तो, 'मानव मानव के चिरन्तन' सम्बन्धों का वर्णन होता है।

इस कमरे का प्रयोग ऐसे साहित्य के अध्ययन के लिए भी होता था और वह

अध्ययन, ज़ाहिर है, परिवार में अकेले विद्यार्थी होने के नाते, रुप्पन बाबू ही करते थे। रुप्पन बाबू कमरे का प्रयोग और कामों के लिए भी करते थे। जिस सुख के लिए दूसरे लोगों को रोटी के टुकड़े, पेड़ की छाँव, कविता, शराब की सुराही, प्रेमिका आदि उमरखैयामी पदार्थों की ज़रूरत होती है, वह सुख रुप्पन बाबू इस कमरे में अपने-आप ही खींच लेते थे।

○ ○ ○

कुछ दिनों में ही रंगनाथ को शिवपालगंज के बारे में ऐसा लगने लगा कि महाभारत की तरह, जो कहीं नहीं है वह यहाँ है, और जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। उसे जान पड़ा कि हम भारतवासी एक हैं और हर जगह हमारी बुद्धि एक-सी है। उसने देखा कि जिसकी प्रशंसा में सभी मशहूर अखबार पहले पृष्ठ से ही मोटे-मोटे अक्षरों में चिल्लाना शुरू करते हैं, जिसके सहारे बड़े-बड़े निगम, आयोग और प्रशासन उठते हैं, गिरते हैं, घिसटते हैं, वही दाँव-पेंच और पैंतरेबाज़ी की अखिल भारतीय प्रतिभा यहाँ कच्चे माल के रूप में इफरात से फैली पड़ी है। ऐसा सोचते ही भारत की सांस्कृतिक एकता में उसकी आस्था और भी मज़बूत हो गई।

○ ○ ○

शिवपालगंज गाँव था, पर वह शहर से नज़दीक और सड़क के किनारे था। इसलिए बड़े-बड़े नेताओं और अफ़सरों को वहाँ तक आने में कोई सैद्धान्तिक एतराज़ नहीं हो सकता था। कुओं के अलावा वहाँ कुछ हैण्डपम्प भी लगे थे, इसलिए बाहर से आनेवाले बड़े लोग प्यास लगने पर, अपनी जान को खतरे में डाले बिना, वहाँ का पानी पी सकते थे। खाने का भी सुभीता था। वहाँ के छोटे-मोटे अफ़सरों में कोई-न-कोई ऐसा निकल ही आता था जिसके ठाठ-बाट देखकर वहाँवाले उसे परले सिरे का बेईमान समझते, पर जिसे देखकर ये बाहरी लोग आपस में कहते, कितना तमीजदार है। बहुत बड़े खानदान का लड़का है। देखो न, इसे चीको साहब की लड़की ब्याही है। इसलिए भूख लगने पर अपनी ईमानदारी को खतरे में डाले बिना वे लोग वहाँ खाना भी खा सकते थे। कारण जो भी रहा हो, उस मौसम में शिवपालगंज में जननायकों और जनसेवकों का आना-जाना बड़े ज़ोर से शुरू हुआ था। उन सबको शिवपालगंज के विकास की चिन्ता थी और नतीजा यह होता था कि वे लेक्चर देते थे।

वे लेक्चर गँजहों के लिए विशेष रूप से दिलचस्प थे, क्योंकि इनमें प्रायः शुरू से ही वक्ता श्रोता को और श्रोता वक्ता को बेवकूफ मानकर चलता था जो कि बातचीत के उद्देश्य से गँजहों के लिए आदर्श परिस्थिति है। फिर भी लेक्चर इतने ज़्यादा होते थे कि दिलचस्पी के बावजूद, लोगों को अपच हो सकता था। लेक्चर का मज़ा तो तब है जब सुननेवाले भी समझें कि यह बकवास कर रहा है और बोलनेवाला भी समझे कि मैं बकवास कर रहा हूँ। पर कुछ लेक्चर देनेवाले इतनी गम्भीरता से चलते कि सुननेवाले को कभी-कभी लगता था यह आदमी अपने कथन के प्रति सचमुच ही ईमानदार है। ऐसा सन्देह होते ही लेक्चर गाढ़ा और फ़ीका बन जाता था और उसका असर श्रोताओं के हाजमे के बहुत ख़िलाफ़ पड़ता है। यह सब देखकर गँजहों ने अपनी-अपनी तन्दुरुस्ती के अनुसार लेक्चर ग्रहण करने का समय चुन लिया था, कोई सवेरे खाना खाने के पहले लेक्चर लेता था, कोई दोपहर को खाना खाने के बाद। ज़्यादातर लोग लेक्चर की सबसे बड़ी मात्रा दिन के तीसरे पहर ऊँघने और शाम को जागने के बीच में लेते थे।

उन दिनों गाँव में लेक्चर का मुख्य विषय खेती था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पहले कुछ और था। वास्तव में पिछले कई सालों से गाँववालों को फुसलाकर बताया जा रहा था कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है। गाँववाले इस बात का विरोध नहीं करते थे, पर प्रत्येक वक्ता शुरू से ही यह मानकर चलता था कि गाँववाले इस बात का विरोध करेंगे। इसीलिए वे एक के बाद दूसरा तर्क ढूँढकर लाते थे और यह साबित करने में लगे रहते थे कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है। इसके बाद वे यह बताते थे कि खेती की उन्नति ही देश की उन्नति है। फिर आगे की बात बताने के पहले ही प्रायः दोपहर के खाने का वक्त हो जाता और वह तमीज़दार लड़का, जो बड़े सम्पन्न घराने की औलाद हुआ करता था और जिसको चीको साहब की लड़की ब्याही रहा करती थी, वक्ता की पीठ का कपड़ा खींच-खींचकर इशारे से बताने लगता कि चाचाजी, खाना तैयार है। कभी-कभी कुछ वक्तागण आगे की बात भी बता ले जाते थे और तब मालूम होता कि उनकी आगे की और पीछे की बात में कोई फ़र्क नहीं था, क्योंकि घूम-फिरकर बात यही रहती थी कि भारत एक खेतिहर देश है, तुम खेतिहर हो, तुमको अच्छी खेती करनी चाहिए, अधिक अन्न उपजाना चाहिए। प्रत्येक वक्ता इसी सन्देह में गिरफ्तार रहता था कि काश्तकार अधिक अन्न नहीं पैदा करना चाहते।

लेक्चरों की कमी विज्ञापनों से पूरी की जाती थी और एक तरह से शिवपालगंज में दीवारों पर चिपके या लिखे हुए विज्ञापन वहाँ की समस्याओं और उनके समाधानों का सच्चा परिचय देते थे। मिसाल के लिए, समस्या थी कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है और किसान बदमाशी के कारण अधिक अन्न नहीं उपजाते। इसका समाधान यह था कि किसानों के आगे लेक्चर दिया जाए और उन्हें अच्छी-अच्छी तस्वीरें दिखायी जाएँ। उनके द्वारा उन्हें बताया जाय कि तुम अगर अपने लिए अन्न नहीं पैदा करना चाहते तो देश के लिए करो। इसी से जगह-जगह पोस्टर चिपके हुए थे जो काश्तकारों से देश के लिए अधिक अन्न पैदा कराना चाहते थे। लेक्चरों और तस्वीरों का मिला-जुला असर काश्तकारों पर बड़े ज़ोर से पड़ता था और भोले-से-भोला काश्तकार भी मानने लगता था कि हो-न-हो, इसके पीछे भी कोई चाल है।

शिवपालगंज में उन दिनों एक ऐसा विज्ञापन खासतौर से मशहूर हो रहा था जिसमें एक तन्दुरुस्त काश्तकार सिर पर अँगोछा बाँधे, कानों में बालियाँ लटकाए और बदन पर मिर्जई पहने गेहूँ की ऊँची फसल को हँसिये से काट रहा था। एक औरत उसके पीछे खड़ी हुई, अपने-आपसे बहुत खुश, कृषि-विभाग के अफ़सरोंवाली हँसी हँस रही थी। नीचे और ऊपर अंग्रेज़ी और हिन्दी अक्षरों में लिखा था, "अधिक अन्न उपजाओ।" मिर्जई और बालीवाले काश्तकारों में जो अंग्रेज़ी के विद्वान थे, उन्हें अंग्रेज़ी इबारत से और जो हिन्दी के विद्वान थे, उन्हें हिन्दी से परास्त करने की बात सोची गई थी; और जो दो में से एक भी भाषा नहीं जानते थे, वे भी कम-से-कम आदमी और औरत को तो पहचानते ही थे। उनसे आशा की जाती थी कि आदमी के पीछे हँसती हुई औरत की तस्वीर देखते ही वे उसकी ओर पीठ फेरकर दीवानों की तरह अधिक अन्न उपजाना शुरू कर देंगे। यह तस्वीर शिवपालगंज में आजकल कई जगह चर्चा का विषय बनी थी, क्योंकि यहाँवालों की निगाह में तस्वीरवाले आदमी की शक्ल कुछ-कुछ बद्री पहलवान से मिलती थी। औरत की शक्ल के बारे में गहरा मतभेद था। वह गाँव की देहाती लड़कियों में से किसकी थी, यह अभी तय नहीं हो पाया था।

वैसे सबसे ज़्यादा ज़ोर-शोरवाले विज्ञापन खेती के लिए नहीं, मलेरिया के बारे में थे।

जगह-जगह मकानों की दीवारों पर गेरू से लिखा गया था कि—"मलेरिया को खत्म करने में हमारी मदद करो, मच्छरों को समाप्त हो जाने दो।" यहाँ भी यह मानकर चला गया था कि किसान गाय-भैंस की तरह मच्छर भी पालने को उत्सुक हैं और उन्हें मारने के पहले किसानों का हृदय-परिवर्तन करना पड़ेगा। हृदय-परिवर्तन के लिए रोब की ज़रूरत है, रोब के लिए अंग्रेज़ी की ज़रूरत है-इस भारतीय तर्क-पद्धति के हिसाब से मच्छर मारने और मलेरिया-उन्मूलन में सहायता करने की सभी अपीलें प्रायः अंग्रेज़ी में लिखी गई थीं। इसीलिए प्रायः सभी लोगों ने इनको कविता के रूप में नहीं, चित्रकला के रूप में स्वीकार किया था और गेरू से दीवार रँगनेवालों को मनमानी अंग्रेज़ी लिखने की छूट दे दी थी। दीवारें रँगती जाती थीं, मच्छर मरते जाते थे। कुत्ते भूँका करते थे, लोग अपनी राह चलते रहते थे।

एक विज्ञापन भोले-भाले ढंग से बताता था कि हमें पैसा बचाना चाहिए। पैसा बचाने की बात गाँववालों को उनके पूर्वज मरने के पहले ही बता गए थे और लगभग प्रत्येक आदमी को अच्छी तरह मालूम थी। इसमें सिर्फ़ इतनी नवीनता थी कि यहाँ भी देश का ज़िक्र था, कहीं-कहीं इशारा किया गया था कि अगर तुम अपने लिए पैसा नहीं बचा सकते तो देश के लिए बचाओ। बात बहुत ठीक थी, क्योंकि सेठ-साहूकार, बड़े-बड़े ओहदेदार, वकील डॉक्टर—ये सब तो अपने लिए पैसा बचा ही रहे थे, इसलिए छोटे-छोटे किसानों को देश के लिए पैसा बचाने में क्या ऐतराज हो सकता था! सभी इस बात से सिद्धान्त रूप में सहमत थे कि पैसा बचाना चाहिए। पैसा बचाकर किस तरह कहाँ जमा किया जाएगा, वे बातें भी विज्ञापनों और लेक्चरों में साफ़ तौर से बतायी गई थीं और लोगों को उनसे भी कोई आपत्ति न थी। सिर्फ़ लोगों को यही नहीं बताया गया था कि कुछ बचाने के पहले तुम्हारी मेहनत के एवज़ में तुम्हें कितना पैसा मिलना चाहिए। पैसे की बचत का सवाल आमदनी और खर्च से जुड़ा हुआ है, इस छोटी-सी बात को छोड़कर बाक़ी सभी बातों पर इन विज्ञापनों में विचार कर लिया गया था और लोगों ने इनको इस भाव से स्वीकार कर लिया था कि ये बेचारे दीवार पर चुपचाप चिपके हुए हैं, न दाना माँगते हैं, न चारा, न कुछ लेते हैं न देते हैं। चलो, इन तस्वीरों को छेड़ो नहीं।

पर रंगनाथ को जिन विज्ञापनों ने अपनी ओर खींचा, वे पब्लिक सेक्टर के विज्ञापन न थे, प्राइवेट सेक्टर की देन थे। उनसे प्रकट होनेवाली बातें कुछ इस प्रकार थीं—"उस क्षेत्र में सबसे ज़्यादा व्यापक रोग दाद है, एक ऐसी दवा है जिसको दाद पर लगाया जाए तो उसे जड़ से आराम पहुँचता है, मुँह से खाया जाए तो खाँसी-जुकाम दूर होता है, बताशे में डालकर पानी से निगल लिया जाए तो हैजे में लाभ पहुँचता है। ऐसी दवा दुनिया में कहीं नहीं पायी जाती। उसके आविष्कारक अब भी ज़िन्दा हैं, यह विलायतवालों की शरारत है कि उन्हें आज तक नोबल पुरस्कार नहीं मिला है।"

इस देश में और भी बड़े-बड़े डॉक्टर हैं जिनको नोबल पुरस्कार नहीं मिला है। एक क़स्बा जहानाबाद में रहते हैं और चूँकि वहाँ बिजली आ चुकी है, इसलिए वे नामर्दी का इलाज बिजली से करते हैं। अब नामर्दों को परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। एक दूसरे डॉक्टर, जो कम-से-कम भारतवर्ष-भर में तो मशहूर हैं ही, बिना ऑपरेशन के अण्ड-वृद्धि का इलाज करते हैं और यह बात शिवपालगंज में किसी भी दीवार पर तारकोल के हरूफ में लिखी हुई पायी जा सकती है। वैसे बहुत-से विज्ञापन बच्चों में सूखा रोग, आँखों की बीमारी और पेचिश आदि

से भी सम्बद्ध हैं, पर असली रोग संख्या में कुल तीन ही हैं—दाद, अण्डवृद्धि और नामर्दी; और इनके इलाज की तरकीब शिवपालगंज के लड़के अक्षर-ज्ञान पा लेने के बाद ही दीवारों पर अंकित लेखों के सहारे जानना शुरू कर देते हैं।

विज्ञापनों की इस भीड़ में वैद्यजी का विज्ञापन 'नवयुवकों के लिए आशा का सन्देश' अपना अलग व्यक्तित्व रखता था। वह दीवारों पर लिखे 'नामर्दी का बिजली से इलाज' जैसे अश्लील लेखों के मुक़ाबले में नहीं आता था। वह छोटे-छोटे नुक्कड़ों, दुकानों और सरकारी इमारतों पर—जिनके पास पेशाब करना और जिन पर विज्ञापन चिपकाना मना था—टीन की खूबसूरत तख्तियों पर लाल-हरे अक्षरों में प्रकट होता था और सिर्फ़ इतना कहता था, 'नवयुवकों के लिए आशा का सन्देश' नीचे वैद्यजी का नाम था और उनसे मिलने की सलाह थी।

एक दिन रंगनाथ ने देखा, रोगों की चिकित्सा में एक नया आयाम जुड़ रहा है। सवेरे से ही कुछ लोग एक दीवार पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिख रहे हैं—बवासीर! शिवपालगंज की उन्नति का लक्षण था। बवासीर के चार आदम-कद अक्षर चिल्लाकर कह रहे थे कि यहाँ पेचिश का युग समाप्त हो रहा है, मुलायम तबीयत, दफ्तर की कुर्सी, शिष्टतापूर्ण रहन-सहन, चौबीस घण्टे चलनेवाले खान-पान और हल्के परिश्रम का युग धीरे-धीरे संक्रमण कर रहा है और आधुनिकता के प्रतीक जैसी बवासीर सर्वव्यापी नामर्दी का मुकाबला करने के लिए मैदान में आ रही है। शाम तक वह दैत्याकार विज्ञापन एक दीवार पर रंग-बिरंगी छाप छोड़ चुका था और दूर-दूर तक ऐलान करने लगा था : बवासीर का शर्तिया इलाज!

देखते-देखते चार-छः दिन में ही सारा ज़माना बवासीर और उसके शर्तिया इलाज के नीचे दब गया। हर जगह वही विज्ञापन चमकने लगा। रंगनाथ को सबसे बड़ा अचम्भा तब हुआ जब उसने देखा, वही विज्ञापन एक दैनिक समाचार-पत्र में आ गया है। यह समाचार-पत्र रोज़ दस बजे दिन तक शहर से शिवपालगंज आता था और लोगों को बताने में सहायक होता था कि स्कूटर और ट्रक कहाँ भिड़ा, अब्बासी नामक कथित गुण्डे ने इरशाद नामक कथित सब्ज़ी-फरोश पर कथित छुरी से कहाँ कथित रूप में वार किया। रंगनाथ ने देखा कि उस दिन अखबार के पहले पृष्ठ का एक बहुत बड़ा हिस्सा काले रंग में रंगा हुआ है और उस पर बड़े-बड़े सफ़ेद अक्षरों में चमक रहा है—बवासीर! अक्षरों की बनावट वही है जो यहाँ दीवारों पर लिखे विज्ञापन में है। उन अक्षरों ने बवासीर को एक नया रूप दे दिया था, जिसके कारण आसपास की सभी चीज़ें बवासीर की मातहती में आ गई थीं। काली पृष्ठभूमि में अखबार के पन्ने पर चमकता हुआ 'बवासीर' दूर से ही आदमी को अपने में समेट लेता था। यहाँ तक कि सनीचर, जिसे बड़े-बड़े अक्षर पढ़ने में भी आन्तरिक कष्ट होता था, अखबार के पास खिंच आया और उस पर निगाह गड़ाकर बैठ गया। बहुत देर तक गौर करने के बाद वह रंगनाथ से बोला, "वही चीज़ है।"

इसमें अभिमान की खनक थी। मतलब यह था कि शिवपालगंज की दीवारों पर चमकनेवाले विज्ञापन कोई मामूली चीज़ नहीं हैं। ये बाहर अखबारों में छपते हैं, और इस तरह जो शिवपालगंज में है, वही बाहर अखबारों में है।

रंगनाथ तख्त पर बैठा रहा। उसके सामने अखबार का पन्ना तिरछा होकर पड़ा था। अमरीका ने एक नया उपग्रह छोड़ा था, पाकिस्तान-भारत-सीमा पर गोलियाँ चल रही थीं, गेहूँ

की कमी के कारण राज्यों का कोटा कम किया जानेवाला था, सुरक्षा-समिति में दक्षिण अफ्रीका के कुछ मसलों पर बहस हो रही थी, इन सब अबाबीलों को अपने पंजे में किसी दैत्याकार बाज़ की तरह दबाकर वह काला-सफ़ेद विज्ञापन अपने तिरछे हरूफ में चीख रहा था : बवासीर! बवासीर! इस विज्ञापन के अखबार में छपते ही बवासीर शिवपालगंज और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के बीच सम्पर्क का एक सफल माध्यम बन चुकी थी।

○ ○ ○

कार्तिक-पूर्णिमा को शिवपालगंज से लगभग पाँच मील की दूरी पर एक मेला लगता है। वहाँ जंगल है, एक टीला है, उस पर देवी का एक मन्दिर है और चारों ओर बिखरी हुई किसी पुरानी इमारत की ईंटें हैं। जंगल में करौंदे, मकोय और बेर के झाड़ हैं और ऊँची-नीची ज़मीन है। खरगोश से लेकर भेड़िये तक, भुट्टाचोरों से लेकर डकैत तक, इस जंगल में आसानी से छिपे रहते हैं। नज़दीक के गाँवों में जो प्रेम-सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर क़ायम होते हैं उनकी व्याख्या इस जंगल में शरीर के स्तर पर होती है। शहर से भी यहाँ कभी पिकनिक करनेवालों के जोड़े घूमने के लिए आते हैं और एक-दूसरे को अपना क्रियात्मक ज्ञान दिखाकर और कभी-कभी लगे-हाथ मन्दिर में दर्शन करके, सिकुड़ता हुआ तन और फूलता हुआ मन लेकर वापस चले जाते हैं।

○ ○ ○

एक पुराने श्लोक में भूगोल की एक बात समझाई गई है कि सूर्य दिशा के अधीन होकर नहीं उगता। वह जिधर ही उदित होता है, वही पूर्व दिशा हो जाती है। उसी तरह उत्तम कोटि का सरकारी आदमी कार्य के अधीन दौरा नहीं करता, वह जिधर निकल जाता है, उधर ही उसका दौरा हो जाता है।

इस नये सौर-सिद्धान्त के अन्तर्गत एक महापुरुष उसी दिन शाम के लगभग चार बजे शहर से मोटर भगाते हुए देहात की ओर आए। सड़क के दोनों ओर प्रजा के खेतों पर निगाह डालते हुए उन्होंने अपने-आपको धन्यवाद दिया कि उनके पिछले साल के व्याख्यान के कारण इस साल रबी की फसल अच्छी होनेवाली है। काश्तकार उनके बताये तरीके से खेती कर रहे हैं। उन्हें यह मालूम हो गया है कि खेत जोतना चाहिए और उनमें खाद ही नहीं, बीज भी डालना चाहिए। वे सब बातें समझने-बूझने लगे हैं और नयी समझदारी के बारे में उनकी घबराहट छूट चुकी है। किसान प्रगतिशील हो रहे हैं और संक्षेप में वे इसी मामले में पिछड़े हैं कि वे आज भी किसान हैं।

○ ○ ○

शहर में चायघर, कमेटी-रूम, पुस्तकालय और विधानसभा की जो उपयोगिता है, वही देहात में सड़क के किनारे बनी हुई पुलिया की है; यानी लोग वहाँ बैठते हैं और गप लड़ाते हैं। इस समय, दिन के लगभग दस बजे, इतवार के दिन रंगनाथ और रुप्पन बाबू एक पुलिया पर बैठे हुए धूप खा रहे थे और ज़माने की हालत पर गौर कर रहे थे।

ज़माने की हालत—अर्थात् अँधेरे में पाए गए दो मज़बूत स्तनों का गर्मागर्म स्पर्श। बात रंगनाथ ने शुरू की थी। उसने चाहा था कि वह उस रात की घटना किसी से न बताए। रुप्पन से वह सिर्फ़ सामान्य ज्ञान की बात करना चाहता था और साथ ही वह इतना जानना चाहता था कि मुहल्ले में ऐसी कौन-कौन-सी लड़कियाँ हैं जो चोली बनानेवाली किसी कम्पनी

के कैलेण्डर में मॉडल की हैसियत से इस्तेमाल हो सकती हैं। उसने जब रुप्पन से बात शुरू की तो ऐसा जान पड़ा था, जैसे वह उस कम्पनी का प्रचार-अधिकारी हो और लड़कियों या उनके स्तनों में उसकी दिलचस्पी बिलकुल कारोबारी तौर की हो। रुप्पन बाबू ने जब उससे इस विषय पर ज़रा गहराई से बात करनी चाही तो गहराई की बहस आ जाने पर प्रत्येक भारतीय विद्यार्थी की तरह वह इधर-उधर कतराने लगा। उसने बात को मोड़कर लड़कियों की तन्दुरुस्ती पर उतारा और 'द ग्रेट इण्डियन ब्रा-मैनुफैक्चरिंग कम्पनी' के प्रचार-अधिकारी के पद से इस्तीफा देकर 'अखिल भारतीय नागरिक स्वास्थ्य-संघ' के महामन्त्री का ओहदा सँभाल लिया; पर रुप्पन बाबू के सवालों ने उसे उस कुर्सी पर भी नहीं टिकने दिया और थोड़ी देर तक अँधेरे, जाड़े, भूत-प्रेत आदि का ज़िक्र करते रहने के बाद रंगनाथ को महसूस हुआ कि धीरे-धीरे, न चाहते हुए भी, उस रात की घटना का पूरा विवरण वह रुप्पन बाबू को सुना चुका है।

रुप्पन बाबू बड़े ध्यान से सुनते रहे और रंगनाथ की बात खत्म होते-होते उन्हें लगा कि भट्ठी में बैठे हैं। उन्हें अपने भीतर एक अजीब-सी गर्मी और तनाव महसूस हुआ जैसा कि लड़कियों की बात चलने पर उनके साथ हमेशा हो जाता था। उन्हें यक़ीन हो गया कि छत पर आनेवाली लड़की बेला थी और जिसको वह आत्म-समर्पण करना चाहती थी, वे स्वयं रुप्पन बाबू थे। मेरा प्रेम-पत्र अब रंग ला रहा है और वह कसमसा रही है, उन्होंने अभिमानपूर्वक सोचा और उसके साथ खुद ही कसमसाने लगे। उस रात छत पर मैं खुद क्यों नहीं सोया, इस अफसोस ने रुप्पन बाबू के गले में एक सिनेमा का गाना लाकर लटका दिया; पर इस वक़्त उन्हें रंगनाथ के आगे एक समझदार आदमी की तरह का रूप प्रकट करना था, इसलिए ऊपर से वे एक समझदार आदमी की तरह बैठे रहे। उन्हें चुप देखकर रंगनाथ ने अपनी बात दोहरायी, "उसके आने और जाने का मुझे पता ही नहीं चला। मुझे सिर्फ़ इतना याद है कि वह मेरी छाती पर झुकी बैठी थी और...।"

रुप्पन बाबू बड़प्पन के साथ बोले, "हो जाता है। कभी-कभी ऐसा धोखा भी हो जाता है। पता नहीं कौन था, कोई आया भी था या नहीं, किसी से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। देहाती हूशों का मामला। भूत-परेत की सोचने लगेंगे। किस-किसको समझाओगे रंगनाथ दादा! जुबान बन्द रखो। हो सकता है, सपना देखा हो; सचमुच भी हो सकता है।"

रंगनाथ को इस व्याख्यान में ऐतराज की दो बातें मालूम दीं—एक तो यह कि रुप्पन बाबू उसके अनुभव को सपने की बात कहकर टाल देना चाहते थे; और दूसरे यह कि बार-बार वे उस लड़की के लिए पुलिंग का प्रयोग कर रहे थे। उसने कहा, "उसमें धोखा हो ही नहीं सकता। मैं जाग रहा था। वह आकर मेरी चारपाई पर बैठी थी, मेरे ऊपर झुकी थी।"

"ठीक है, ठीक है," अपने हाथ से कुछ काल्पनिक मच्छरों को उड़ाते हुए रुप्पन बाबू बोले, "मान लिया। सचमुच ही कोई आया था। पर इस बारे में कहीं कुछ कहने की ज़रूरत नहीं।"

कोई आया था ! रंगनाथ ने आँख मूँदकर एक बार कोणार्क की सुर-सुन्दरियों का सरसरी तौर पर मुआइना किया और बीस बार मन में दोहराया, "आया था नहीं, आयी थी। रुप्पन बाबू, तुम कभी 'आया था' के आगे भी सोच पाओगे या नहीं?"

○ ○ ○

किसी गाँव में किसी ने किसी का खून कर दिया। किसी दूसरे से दुश्मनी निबाहने

के लिए उसका नाम थाने पर बहैसियत क़ातिल दर्ज करा दिया गया। फिर किसी ने अपनी दुश्मनी निवाहने के लिए उसके ख़िलाफ़ गवाही देना स्वीकार कर लिया। फिर किसी ने उसकी किसी से सिफ़ारिश की, किसी ने उसकी ओर से किसी को रिश्वत दी। किसी ने किसी गवाह को धमकाया, किसी को बेवकूफ बनाया और किसी से प्यार जताया। इस तरह मामले के इजलास तक पहुँचते-पहुँचते उसकी शक्ल बदल गई और वह खून का मुक़दमा न रहकर 'खून का बदला' नाम का ड्रामा बन गया। दोनों ओर से वकीलों ने बहुत अच्छा पार्ट अदा किया और जज को इत्मीनान हो गया कि ड्रामे की हैसियत से अच्छी चीज़ पेश की गई है, पर जिसे सबूत कहकर पेश किया गया है, वास्तव में फ़रेब है। अन्त में फ़रेबवाली थ्योरी ने इतना ज़्यादा प्रभावित किया कि उसने यह तो माना ही कि मुलज़िम निर्दोष है, साथ में यह भी मान लिया कि क़त्ल ही नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि 'मुलज़िम हरीराम' को क़त्ल के जुर्म में बाइज़्ज़त बरी कर दिया गया।

○ ○ ○

किसी ज़माने में दार्शनिक लोग परमात्मा के अस्तित्व के बारे में बहस किया करते थे। अब वह बहस गेहूँ को लेकर होने लगी है। दार्शनिकों का एक वर्ग इस मत का है कि देश में गेहूँ काफ़ी मात्रा में मौजूद है, पर व्यापारियों की शरारत के कारण बाज़ार में नहीं आ पाता। दूसरा वर्ग इस मत का है कि गेहूँ नाम की कोई चीज़ होती ही नहीं है और अगर होती भी हो, तो वह कम-से-कम इस देश में तो नहीं ही है। बहस का यह दौर कुछ दिनों से शिवपालगंज में भी आ गया था और वहाँ गेहूँ के साथ ही लोग दूध-दही-घी आदि के बारे में भी नास्तिकता दिखाने लगे थे।

○ ○ ○

लाइन। शिवपालगंज में जनता को पढ़ाया गया था—लाइन प्रगति का नाम है। यही तरक्की है। हर काम लाइन से करो। लाइन से पेड़ लगाओ और उन्हें लाइन से सूख जाने दो। बस के टिकट के लिए लाइन में खड़े रहो और जब बस आ जाय और अपनी राह चली जाय तो दूसरी बस के इन्तज़ार में दस घण्टे लाइन में खड़े होकर मक्खियाँ मारो। जानवरों को लाइन में बाँधो, घूरे लाइन में डालो। जलसे में झण्डियाँ लाइन से बांधो, स्वागत-गीत गवाने के लिए लड़कों को लाइन में खड़ा करो, गले में माला झोंकने के लिए लाइन से खड़े हो जाओ। सबकुछ लाइन से करो। क्योंकि वह आँख से दिखती है और जो आँख से दिखती है, वही उन्नति है। इसके आगे देखने की और सोचने की तुम्हें ज़रूरत नहीं है, क्योंकि उस काम के लिए दूसरे लोग हैं।

○ ○ ○

रंगनाथ को अब तक शिवपालगंज में रहते हुए छः महीने हो गए थे। उसकी तन्दुरुस्ती अच्छी हो गई थी। ज़बान खराब हो गई थी। सही मौके पर चुप हो जाने और गलत जगह पर जोश दिखाने की आदत पड़ने लगी थी। इस झगड़े में वह कहीं नहीं है, यह मजबूरी उसके मन में हीनता-भाव पैदा करने लगी थी। परिस्थिति के ख़िलाफ़ उसके मन में स्वाभाविक रोष भी पैदा होता था, पर वह हर हिन्दुस्तानी के रोष की तरह बहस-मुबाहसे के रास्ते निकल जाता था और बचा-खुचा अच्छे खाने-पीने से दब जाता था। पर आज इस हीनता की अनुभूति और रोष के भाव ने मिलकर उसे न जाने कैसा बना दिया कि उसने डपटना शुरू कर दिया।

उसने बात डपट से शुरू की और डपट ही पर जाकर छोड़ी। जो भी हो, उसकी बात का अर्थ यही निकला कि इस परिस्थिति का डटकर विरोध किया जाना चाहिए—खन्ना मास्टर को पीछे नहीं हटना चाहिए, अन्याय से समझौता नहीं करना चाहिए—कहते-कहते रंगनाथ को ऐसा लगा कि वह अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे देसी आदमी की तरह टूटी-फूटी ज़बान में कोई धार्मिक ग्रन्थ बाँच रहा है। वह चुपचाप हो गया।

मास्टर ने कहा, "हम लोग कुछ नहीं कर सकते।"

रंगनाथ ने कहा, "और आप गयादीनजी ?"

जवाब में गयादीन ने रुक-रुककर एक किस्सा सुनाया—"हमारे इलाक़े में बहुत दिन हुए, एक मातापरशाद हुए थे। इस इलाके के वे पहले नेता थे। लोग उनकी बातें बड़े प्रेम से सुनते थे। वे ज़रूरत पड़ने पर जेल भी जाते थे, तब लोग उनकी याद और भी बड़े प्रेम से करते थे। जब वे जेल से वापस आते तो लोग ज़्यादातर उनसे इसी तरह की बातें करते रहते कि जोश में आकर वे फिर जेल चले जाएँ। एक बार वे कई साल तक बिना जेल गए हुए रह गए। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग उनके व्याख्यानों से ऊबने लगे। ज़मींदारी-विनाश, स्त्री-शिक्षा, विदेशी चीज़ों और शराब की दुकान का बहिष्कार—इन विषयों पर उनके व्याख्यान लोगों को इस तरह याद हो गए कि वे जब बोलने खड़े होते तो स्कूली लड़के उनके कुछ कहने से पहले ही उनके व्याख्यान के टुकड़े करके उसे दोहरा देते। उनके कहने के लिए कुछ बचता नहीं था। जब चन्दा माँगने के लिए जाते तो लोग समझते कि वह भीख माँग रहा है। वे जब भारत माता की जय बोलते तो लोगों को लगता कि वह अपने खानदान का प्रचार कर रहा है और वे जब ज़मींदारी-विनाश की बात करते तो लोग जान जाते कि वह बिना लगान दिए साल पार कर जाना चाहता है। मतलब यह है कि मातापरशाद की लीडरी इस इलाके में पाँच साल तो चली, बाद में उन्हें लगा कि कुछ जम नहीं रहा है। तब मुझे ही समझाना पड़ा कि भैया मातापरशाद, लीडर में जो गुण होना चाहिए वह तुममें नहीं है। चाहिए यह कि लीडर तो जनता की नस-नस की बात जानता हो, पर जनता लीडर के बारे में कुछ भी न जानती हो। यहाँ सब बात उल्टी है। तुम खुद तो जनता का हाल जानते नहीं हो, पर जनता तुम्हारी नस-नस से वाकिफ है। इसलिए यह इलाका लीडरी में तुम्हारे मुआफ़िक नहीं आ रहा है। तुम या तो यहाँ से किसी दूसरे इलाके में चले जाओ या कुछ दिनों के लिए जेल हो आओ। मातापरशाद मेरी राय मानकर जेल चले गए। उसी के साल-भर बाद किसी दूसरे ज़िले से तुम्हारे मामा वैद्यजी यहाँ आए। उनके बारे में किसी को कुछ नहीं मालूम था, लोग सिर्फ़ इतना जानते थे कि उनकी काली-काली मूँछें हैं, मज़बूत देह है और उनकी वीर्यपुष्टि की दवाओं की धाक है। उन्होंने कोऑपरेटिव सोसायटी बनायी, यहाँ एक मिडिल स्कूल खुलवाया, अपना आयुर्वेदिक दवाखाना खोला और जब तक लोग जान पायें कि वे किसके कौन हैं, वे यहाँ के नेता बन बैठे। एक गाँव की ज़मींदारी भी उन्होंने रेहन में रख ली, कोऑपरेटिव में कर्ज़ा देर से मिलने के कारण किसी को तकलीफ न हो, इसलिए साथ-साथ अपना रुपिया भी कर्ज़ पर चलाना शुरू कर दिया। उधर मातापरशाद जेल में पड़े रहे और ये इधर लड़ाई में सिपाहियों की भरती कराने लगे। शहर की अमन-सभाओं में जाने लगे। आज़ादी मिलने के बाद उन्होंने ज़मींदारी के विरोध में रेहनवाला गाँव बिकवा दिया और रुपिया लेकर भूतपूर्व ज़मींदार कहलाने से बच गए। उधर मातापरशाद जेल से निकलकर

सरकारी पेंन्शन लेकर शहर में अपना पेट पालने में लग गए। इधर, बाबू रंगनाथ, तुम्हारे मामा अकेले डील पूरा, इलाक़ा बन गए।

"बाबू रंगनाथ, लीडरी ऐसा बीज है जो अपने घर से दूर की ज़मीन में ही पनपता है। इसलिए मैं यहाँ लीडरी नहीं कर सकता। लोग मुझे बहुत ज़्यादा जानते हैं। उनमें मेरी लीडरी न चल पाएगी। कुछ बोलूँगा तो कहेंगे, देखो गयादीन लीडरी कर रहे हैं। "और इस खन्ना मास्टर के लिए तो मैं वैसे भी लीडरी नहीं करूँगा। जिनके कुछ समझ ही नहीं है, उनके लिए कहाँ तक वकालत की जाए! "लौंडों की दोस्ती, जी का जंजाल।"

रंगनाथ ने उनका व्याख्यान शान्तिपूर्वक सुन लिया था। कहा, "पर गयादीनजी, मामा को आप ही अच्छी तरह जानते हैं। आप ही उन पर कुछ असर डाल सकते हैं। आपको खन्ना की कुछ मदद तो करनी पड़ेगी।"

गयादीन ने सोचा : ये लोग कितने बेशर्म हैं। महीनों से इन्हें समझा रहा हूँ कि मेरे सहारे न रहो। खीझकर चले जाते हैं, फिर दौड़ते हुए इधर ही आते हैं। इजलास ने सही कहा था—इन्हें शर्म आनी चाहिए।

उन्होंने कहा, "खन्ना मास्टर की मदद मैं तो नहीं कर पाऊँगा, पर तुम कर सकते हो। अपने मामा के ख़िलाफ़ तुम अब बोलने ही लगे हो। झिझक दूर हो गई है! तुम बाहर के रहनेवाले भी हो। यहाँ वाले तुम्हारी असलियत जानते नहीं हैं और जैसे ये खन्ना मास्टर हैं, वैसे ही तुम हो। अब तुम्हीं लीडरी करके दिखाओ।"

रंगनाथ ने तैश में आकर कहा, "तो यही होगा, आप कहते क्या हैं?"

"लौंडों की दोस्ती, जी का जंजाल।" उन्होंने कहा, पर अपने मन में ही कहकर रह गए। बिना दिलचस्पी के वे उन लोगों का तेज़ी से उठकर जाना देखते रहे। उन्हें याद आया कि शहर जाने के लिए बस का टाइम हो गया है, पन्द्रह हज़ार रुपिया बहुत बड़ी रक़म है, पर बेला के लिए उसकी कोई कीमत नहीं है, भैंस अभी तक वापस नहीं आयी है और अब गाँव में रहना बड़ी ज़लालत है।

○ ○ ○

हमारे न्याय-शास्त्र की किताबों में लिखा है कि. जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है। वहीं यह भी बढ़ा देना चाहिए कि जहाँ बस का अड्डा होता है, वहाँ गन्दगी होती है।

शिवपालगंज के बस अड्डे की गन्दगी बड़े नियोजित ढंग की थी।

गन्दगी-प्रसार-योजना को आगे बढ़ानेवाले कुछ प्राकृतिक साधन वहाँ पहले ही से मौजूद थे। अड्डे के पीछे एक समुद्र था, यानी कम-से-कम एक झील थी जो बरसात में समुद्र-सी दिखती थी। दरअसल यह झील भी नहीं थी, जाड़ों में वह झील थी, बाद में छोटा-सा पोखर बन जाती थी। गन्दगी की सप्लाई का वह एक नैसर्गिक साधन था। शाम-सवेरे वह जनता को खुली हवा देता था और खुली हवा के शौचालय की हैसियत से भी इस्तेमाल होता था। सुबह होते ही 'शर्मदार के लिए सींक की आड़ काफ़ी होती है' इस सिद्धान्त पर वहाँ उगनेवाली घास के हर तिनके के पीछे एक-एक शर्मदार आदमी छिपा हुआ नज़र आता था, बहुत-से ऐसे भी लोग थे जो 'भाइयों और बहनों, मेरे पास छिपाने को कुछ नहीं है' वाली सच्चाई से बिलकुल खुले में बैठकर और सींक की आड़ भी न लेकर, अपने-आपको पेश करने

लगते थे। इस मौके से फ़ायदा उठाने के लिए शिवपालगंज के सभी पालतू सूअर सवेरे-सवेरे उधर ही पहुँच जाते थे। वे आदमियों द्वारा पैदा की हुई गन्दगी को आत्मसात् करते, उसे इधर-उधर छितराते और वहाँ की हवा को बदबू से बोझिल बनाने की कोशिश करते। पोखर के ऊपर से उड़कर कस्बे की ओर आनेवाली हवा—जिसका कभी भवभूति ने 'वीचीवातैः, शीकरच्छोदशीतैः' के रूप में अनुभव किया होगा—बस के अड्डे पर बैठे हुए मुसाफिरों को नाक पर कपड़ा लगाए रहने के लिए मजबूर कर देती थी। गाँव-सुधार के धुरन्धर विद्वान् उधर शहर में बैठकर 'गाँव में शौचालयों की समस्या' पर गहन विचार कर रहे थे और वास्तव में 1937 से अब तक विचार-ही-विचार करते आ रहे थे, इधर बस के अड्डे पर बैठे हुए मुसाफिर नाक पर कपड़ा लपेटकर कभी जैन धर्म स्वीकार करने को तैयार दिखते, कभी सूअरों की गुरगुराहट सुनते हुए वाराह-अवतार की कल्पना में खो जाते। वातावरण बदबू और धार्मिक सम्भावनाओं से भरा-पूरा था।

सूअरों के झुण्ड सड़क पर निकलते समय आदमियों की नक़ल करते। वे दायें-बायें चलने का ख्याल न करके सड़क पर निकलनेवाली हर सवारी के ठीक आगे चलते हुए नज़र आते और आपसी ठेलठाल में कॉलिज के लड़कों को भी मात देते। बस के अड्डे की चहारदीवारी एक जगह पर टूट गई थी। इसका फ़ायदा उठाकर वे सड़क से सीधे बस के अड्डे में घुसते और दूसरी ओर के फाटक से निकलकर पोखर के किनारे पहुँच जाते। उनके वहाँ पहुँचते ही पिकनिक और यूथफेस्टिवल का समाँ बँध जाता।

गन्दगी-प्रसार-योजना के अन्तर्गत वहाँ पर बस का अड्डा बनाते समय इन प्राकृतिक सुविधाओं का ध्यान रखा गया होगा। वैसे, गन्दगी सप्लाई करने की दूसरी एजेन्सियाँ भी वहाँ पहले से मौजूद थीं। उनमें एक ओर एक मन्दिर था जो अपनी चीकट सीढ़ियों के कारण मक्खी-पालन का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था। उसके चारों ओर छितरे हुए बासी फूल, मिठाई के दोने और मिट्टी के टूटे-फूटे सकोरे चींटियों को भी आकर्षित करते थे। दूसरी ओर एक धर्मशाला थी जिसके पिछवाड़े हमेशा यह सन्देह होता था कि यहाँ पेशाब का महासागर सूख रहा है।

गन्दगी के इन कार्यक्रमों में ठीक से ताल-मेल बैठाकर छोटी-मोटी कमियों को दूसरी तरकीबों से पूरा किया गया था। उनमें सबसे प्रमुख स्थान थूक का था जिसे हर जगह देखते रहने के कारण राष्ट्रीय चिह्न मान लेने की तबीयत करती है। हमारी योजनाओं में जैसे काग़ज़, वैसे ही हमारी गन्दगी का महत्त्वपूर्ण तत्त्व थूक है। थूक-उत्पादन में वहाँ पान की दस-बीस दुकानें, कुछ स्थिर और कुछ गश्ती—प्राइवेट सेक्टर की सरकारी-मान्यता प्राप्त फैक्टरियों की तरह काम करती थीं। थूक का उत्पादन ज़ोर पर था। थूक फैलाने के लिए चारों तरफ़ कई पात्र ज़मीन में गाड़ दिए गए थे जिनको देखते ही आदमी किसी भी दिशा में—ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर—थूक देता था और इस खूबी से थूकता था कि सारा थूक पात्र के बाहर ही जाकर गिरे। नतीजा यह था कि चारों ओर चार फुट की ऊँचाई तक दीवारों पर, और कहीं फ़र्श पर, थूक की नदियाँ कुछ-कुछ उसी तरह बहती थीं जैसे सुनते हैं, कभी यहाँ घी-दूध की नदियाँ बहा करती थीं।

फिर लुढ़कते और रिरियाते हुए भिखमंगे, जो संख्या में बहुत कम होते हुए भी अपनी लगन के कारण चारों तरफ़ एकसाथ दिखायी देते। चाय की दुकानों पर चाय की सड़ी, चुसी

हुई पत्तियाँ और गन्दे पानी के नाबदान। आने और जानेवाली बसों की गर्द। मरियल कुत्तों को आरामगाहें। और गन्दगी-प्रसार-योजना को सबसे बड़ा प्रोत्साहन देनेवाली अखिल भारतीय संस्था—मिठाई और पूड़ी की दुकानें, हलवाइयों की तोंद, उनके छोकड़ों की पोशाक।

○ ○ ○

उम्मीद तो न थी, पर ऐसी रात के बाद भी सवेरा आ ही गया।

रंगनाथ रात में ठीक से सो न पाया था, सोच भी न पाया था। पर जागते ही उसने अपने बारे में एक बात सोच ली। कुछ महीने पहले, एक लम्बी बीमारी से उठने के बाद, वह वहाँ केवल अपनी तन्दुरुस्ती सुधारने आया था। अब अचानक उसने सोचा कि उसकी तन्दुरुस्ती सुधर गई है।

बगल में रुप्पन बाबू की चारपाई खाली थी। पता नहीं, वे रात-भर कहाँ रहे होंगे। कुछ मामलों में उसे रुप्पन बाबू पर पूरा भरोसा था। वह जानता था कि जब वे बेवकूफ बनते हैं तो अपनी इच्छा से बनते हैं। बेवकूफ बनना उनके लिए मजबूरी नहीं, शौक की, लगभग ऐय्याशी की बात थी। इसलिए उसे इत्मीनान था कि वैद्यजी का हाहाकार सुनकर वे शराब की दुकान की ओर न भागे होंगे। दुख पड़ने पर शराब की ओर भागने की बात उनके मन में न आयी होगी, क्योंकि उन्होंने 'देवदास' नहीं पढ़ा था, इतना ज़्यादा सिनेमा भी नहीं देखा था। वे मन्दिर की ओर भी न गए होंगे, क्योंकि मुसीबत में मन्दिर का सहारा पकड़नेवाले की जैसी शक्ल होनी चाहिए वैसी शक्ल रुप्पन बाबू की नहीं थी।

तब वे कहाँ हैं? क्या वे कहीं इस वक्त कॉलिज में हड़ताल करने के लिए अपने मुर्गों को जमा कर रहे हैं? इमारत में आग लगवाने, प्रिंसिपल को पिटवाने या बिना वज़ह बाज़ार लुटवाने के लिए क्या वे किसी क्रान्तिकारी दल का संगठन कर रहे हैं? या वे, शिक्षा-व्यवसाय के मशहूर फारमूले के अनुसार, पड़ोस के किसी गाँव में, खन्ना मास्टर का प्रिंसिपल के पद पर राजतिलक करके, उनके लिए छंगामल विद्यालय इंटर कॉलिज के मुकाबले का कोई दूसरा कॉलिज खड़ा करने जा रहे हैं? रंगनाथ ने सोचा—ऐसी ही कोई बात वे ज़रूर करने जा रहे हैं, क्योंकि वैद्यजी के क्रोध की नुमायश देखकर जब वे वहाँ से चले थे तो उस समय उनका व्यक्तित्व लुचलुचाया हुआ नहीं, तिलमिलाया हुआ था।

वैद्यजी सवेरे काफ़ी दूर टहलने के लिए जाते थे और अभी तक वे लौटे नहीं थे। रंगनाथ जानता था कि अब उनसे स्वाभाविक ढंग से बात करना मुश्किल होगा और वह अस्वाभाविक ढंग से बात करने के लिए तैयार न था। उसने अपने-आपसे कहा, विरोध की पहली कोशिश में ही तुम भरभराकर लुढ़क गए हो। अब तुम्हें अपनी असलियत समझ लेनी चाहिए। यह जगह छोड़ देनी चाहिए, मामा के लौटने के पहले ही।

रहना नहीं, देस बिराना है।

सनीचर की दुकान खुल गई थी और दो आदमी उसके सामने बड़े नाटकीय ढंग से लड़ाई लड़ रहे थे। लड़ाई शाब्दिक, तार्किक और अभी तक अहिंसापूर्ण थी। उनमें से एक ने दूसरे के खेत में लगा हुआ नहर का पानी काटकर अपने खेत में ले लिया था। वे लोग गाँव-सभा के प्रधान के यहाँ झगड़े का निपटारा कराने के लिए और निपटारा होने के पहले झगड़ा करने के लिए आए थे। धुआँधार गालियाँ दोनों ओर से बरस रही थीं—ऐसी गालियाँ जो साहित्य और कला में, अखबार में, रेडियो में या सिनेमा में नहीं, सिर्फ़ वास्तविक जीवन

में पायी जाती हैं।

पिछले महीनों वह जिस ज़िन्दगी के आसपास मँडराता रहा था, जिसके भीतर घुसकर भी वह बाहरी-का-बाहरी ही बना रहा था, वह एक लानत की तरह उसके सामने आकर खड़ी हो गई। उसकी आत्मा के तारों पर—बशर्ते कि आत्मा की शक्त सारंगी-जैसी होती हो—पलायन-संगीत गूँजने लगा।

वह दरवाज़े पर बैठा हुआ चुपचाप देख रहा था। छोटे पहलवान रोज़ की तरह दाद खुजलाते हुए सामने से निकल गए और उन्होंने रंगनाथ की ओर नहीं देखा। सड़क पर ज़ोर की घरघराहट हुई। यह शहर की कोऑपरेटिव डेरीवाला ट्रक होगा जो दूध इकट्ठा करने के लिए यहाँ आया होगा। एक आदमी हाथ में हाँड़ी लटकाए सनीचर की दुकान की ओर जाता दीख पड़ा। रंगनाथ समझ गया कि यह वही तेली है जो शहर में खरीदे हुए मशीन के तेल को कोल्हू में पेरा हुआ शुद्ध सरसों का तेल कहकर देहात में बेचता है। अण्डरवियर और बनियान में एक शुद्ध सिपाहीनुमा आदमी, दरों में भारी रिआयत के साथ, गोश्त खरीदकर चिकवे के घर लौटता हुआ दीख पड़ा। रोज़ की तरह उसने रंगनाथ से कहा, "जै हिन्द साब।"

वह गोश्त लटकाए हुए चला गया। रंगनाथ के मन में आया कि वह उसके गले में हाथ डालकर कहे, 'चलो, इसी बहाने यहाँ किसी ने हिन्द का नाम तो लिया।'

दूर कहीं पर किसी मदारी की डुगडुगी बजने लगी। सनीचर की दुकान पर होनेवाले गाली-गलौज ने नयी ऊँचाई छूने की कोशिश की। रंगनाथ को अहसास हुआ कि वह बहुत उकताया हुआ है। उसकी आत्मा के तारों पर पलायन-संगीत अब पूरी तौर से गूँजने लगा।

पलायन-संगीत

तुम मँझोली हैसियत के मनुष्य हो और मनुष्यता के कीचड़ में फँस गए हो। तुम्हारे चारों ओर कीचड़-ही-कीचड़ है।

कीचड़ की चापलूसी मत करो। इस मुगालते में न रहो कि कीचड़ से कमल पैदा होता है। कीचड़ में कीचड़ ही पनपता है। वही फैलता है, वही उछलता है।

कीचड़ से बचो। यह जगह छोड़ो। यहाँ से पलायन करो।

वहाँ, जहाँ की रंगीन तसवीरें तुमने 'लुक' और 'लाइफ' में खोजकर देखी हैं; जहाँ के फूलों के मुकुट, गिटार और लड़कियाँ तुम्हारी आत्मा को हमेशा नये अन्वेषणों के लिए ललकारती हैं; जहाँ की हवा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, जहाँ रविशंकर-छाप संगीत और महर्षि-योगी-छाप अध्यात्म की चिरन्तन स्वप्निलता है...।

जाकर कहीं छिप जाओ। यहाँ से पलायन करो। यह जगह छोड़ो।

नौजवान डॉक्टरों की तरह, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लिए हुड़कनेवाले मनीषियों की तरह, जिनका चौबीस घण्टे यही रोना है कि वहाँ सबने मिलकर उन्हें सुखी नहीं बनाया, पलायन करो। यहाँ के झंझटों में मत फँसो।

अगर तुम्हारी क़िस्मत ही फूटी हो, और तुम्हें यहीं रहना पड़े तो अलग से अपनी हवाई दुनिया बना लो। उस दुनिया में रहो जिसमें बहुत-से बुद्धिजीवी आँख मूँदकर पड़े हैं। होटलों और क्लबों में। शराबखानों और कहवाघरों में, चण्डीगढ़-भोपाल-बंगलौर के नवनिर्मित भवनों में, पहाड़ी आरामगाहों में, जहाँ कभी न खत्म होनेवाले सेमिनार चल रहे हैं। विदेशी मदद

से बने हुए नये-नये शोध-संस्थानों में, जिनमें भारतीय प्रतिभा का निर्माण हो रहा है। चुरुट के धुएँ, चमकीली जैकेटवाली किताब और गलत, किन्तु अनिवार्य अंग्रेज़ी की धुन्धवाले विश्वविद्यालयों में। वहीं कहीं जाकर जम जाओ, फिर वहीं जमे रहो।

यह न कर सको तो अतीत में जाकर छिप जाओ। कणाद, पतंजलि, गौतम में, अजन्ता, एलोरा, ऐलिफ़ेंटा में, कोणार्क और खजुराहो में, शाल-भजिका-सुर-सुन्दरी-अलसकन्या के स्तनों में, जप-तप-मंत्र में, सन्त-समागम-ज्योतिष-सामुद्रिक में—जहाँ भी जगह मिले, जाकर छिप रहो।

भागो, भागो, भागो। यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।

वह उठने ही वाला था कि उसे कॉलिज की ओर से प्रिंसिपल साहब आते दीख पड़े। आज उन्होंने कमीज़ और हाफ-पैण्ट के साथ मोज़े और जूते भी पहन लिये थे। हाथ में वही रोज़वाला बेंत। उन्होंने दूर से ही हँसकर नमस्कार किया। देखते-देखते वे चबूतरे पर आ गए और इस आत्मविश्वास के साथ कि वहाँ बस उन्हीं की कमी थी, पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गए। पूछा, "महराज अभी टहलकर लौटे नहीं क्या?" कहकर वे इत्मीनान से बैठने के लिए मोजे और जूते उतारने लगे।

थोड़ी देर में वे कुर्सी पर मेंढक की तरह बैठ गए। बोले, "कल महराज को बड़ा दुख हुआ, पर चलिए, वह बात भी खत्म हुई।"

वे कुछ और उत्साह में आगे आ गए, "मैंने तो आपके लिए पहले ही कह दिया था। रामभरोसे बैठ के सबका मुजरा लेयँ। आप हमारे ख़िलाफ़ थोड़े ही थे। उधर तो आप हालचाल लेने के लिए जाते थे। महराज को मैंने समझा दिया था।"

दोनों थोड़ी देर चुप बैठे रहे। मदारी की डुगडुगी की आवाज़ नज़दीक आती जा रही थी। प्रिंसिपल ने कहा, "आपका स्वास्थ्य अब बिलकुल टिचन्न जान पड़ता है।"

"टिचन्न ?"

"जी हाँ, अब तो बिलकुल फिट है न ?"

रंगनाथ ने बड़े शिष्टाचार से कहा, "आपकी कृपा से।"

"तो अब क्या इरादा है ?"

"वापस जा रहा हूँ, रिसर्च का काम इतने दिन से छूटा हुआ है। गर्मियों में पूरा करना है।"

वे कई बातें अनर्गल ढंग से बोल गए, जिनका तात्पर्य यह था कि रंगनाथ इतिहास का भारी विद्वान् है, पर ज़्यादातर लोग उल्लू के पट्ठे हो गए हैं, यूनिवर्सिटियों की हालत अस्तबल-जैसी है; बड़े-बड़े प्रोफ़ेसर महज़ भाड़े के टट्टू हैं।

उसने इन बातों में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी। उन्होंने पूछा, "आपका क्या चान्स है? क्या इस साल वहाँ लेक्चरर बनने की उम्मीद है?"

"अभी उसका सवाल ही नहीं उठता।"

प्रिंसिपल साहब ने अपनी कुर्सी को दो इंच आगे खिसका लिया। कहा, "आप जानते ही हैं, खन्ना ने इस्तीफ़ा दे दिया है। इतिहास के लेक्चरर की जगह हमारे यहाँ खाली हुई है। उसी में आप क्यों नहीं लग जाते? ठाठ से मामा के यहाँ रहिए, कॉलिज में दो घण्टा पढ़ाइए,

बाकी वक़्त रिसर्च कीजिए।"

रंगनाथ को जान पड़ा कि उसकी देह का सारा खून झपटकर साँप की तरह उसके मत्थे में पहुँच गया है। उसने तीखेपन के साथ कहा, "मैं आपके यहाँ मास्टरी करूँगा? और वह भी खन्ना की जगह!"

प्रिंसिपल साहब के चेहरे पर कोई शिकन नहीं आयी। उन्होंने कहा, "मैंने बैद महराज से बात कर ली है।"

रंगनाथ ने उसी तीखेपन के साथ कहा, "मेरी आँख के आगे की बात है। मैं जानता हूँ कि खन्ना को यहाँ से कैसे निकाला गया है...।"

वे उदास हो गए, बोले, "क्या बतायें। आप भी ऐसा कहते हैं। यह तो पार्टीबन्दी की बात हुई।"

एक आदमी फटी हुई तहमद लपेटे, ऊपर से काला चीकटदार कुरता पहने डुगडुगी बजाता हुआ सनीचर की दुकान के पास आया। उसके साथ एक बन्दर और बंदरिया स्टेज पर नाचनेवाली वेशभूषा में चल रहे थे। पीछे कई छोटे-छोटे लड़के किलकारी भरते हुए चले आ रहे थे। उनके हुजूम में कुछ कुत्ते भी थे जिन्हें धमकाने के लिए वह आदमी बीच में 'कड़ाक्' के साथ डुगडुगी को सिर पर ले आता था।

डुगडुगी की वजह से प्रिंसिपल साहब को अपनी आवाज़ ऊँची करनी पड़ी। वे कहते रहे, "जगह खन्ना के जाने से हुई या मालवीय के मरने से—आपको इससे क्या मतलब? आपके घर का बाग है, आम खाइए। पेड़ क्यों गिन रहे हैं?"

इसका कोई जवाब न पाकर वे रंगनाथ को पुचकारने लगे। 'आप' से 'तुम' पर उतरकर बोले, "मैं तो तुम्हें घर का आदमी मानकर कह रहा हूँ। आख़िर करोगे क्या?" कहीं-न-कहीं नौकरी ही तो करोगे न? यहाँ तो खन्ना ने अपने मन से इस्तीफ़ा दिया है। वहाँ क्या पता सचमुच ही कोई खन्ना कान पकड़कर निकाला गया हो।

"इससे कहाँ तक बचोगे बाबू रंगनाथ? जहाँ जाओगे, तुम्हें किसी खन्ना की ही जगह मिलेगी।"

कहकर वे चबूतरे से कुछ दूर खड़े मदारी की तरफ़ मुखातिब हुए और हाथ के पुरज़ोर इशारे से उसे जहन्नुम में जाने की सलाह देने लगे।

रंगनाथ का चेहरा तमतमा गया। अपनी आवाज़ को ऊँचा उठाकर, जैसे उसी के साथ वह सच्चाई का झण्डा भी उठा रहा हो, बोला, "प्रिंसिपल साहब, आपकी बातचीत से मुझे नफ़रत हो रही है। इसे बन्द कीजिए।"

प्रिंसिपल ने यह बात बड़े आश्चर्य से सुनी। फिर उदास होकर बोले, "बाबू रंगनाथ, तुम्हारे विचार बहुत ऊँचे हैं। पर कुल मिलाकर उससे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।"

इसके बाद वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। मदारी, जहन्नुम में जाने के बजाय, वहीं पर ज़ोर-ज़ोर से गाने लगा था और उसकी डुगडुगी अब एक नयी ताल पर बज रही थी। कुछ दूरी पर कुछ कुत्ते दुम हिलाते, कमर लपलपाते भूँक रहे थे। लड़के घेरा बाँधकर खड़े हो गए थे। दोनों बन्दर मदारी के सामने बड़ी गम्भीरता से मुँह फुलाकर बैठे हुए थे और लगता था कि ये जब उठेंगे तो भरतनाट्यम् से नीचे नहीं नाचेंगे।

आदमी का ज़हर

फुटपाथ पर आकर सिद्दीकी ने चारों ओर देखा। सूरज ने हवा की रही-सही ठंडक सोख ली है। छाया से बाहर आते ही उसे एक तिलमिलाहट का अनुभव हुआ।

मोटर-साइकिल स्टार्ट करके वह सड़क पर आ गया। लगभग तीन फर्लांग आगे उसे एक पुलिस चौकी मिली। वहाँ एक हेड-कांस्टेबुल से उसने कागज पर एक पता लिखकर कहा, "इस नंबर पर हमारे सब-इंस्पेक्टर अस्थाना होंगे। उन्हें इसी वक्त यह खबर पहुँचा दो कि वह मिसेज रूबी को अपने साथ लेकर जितनी जल्दी हो सके, कैसरबाग कोतवाली पर आ जाएँ। उन्हें बता देना, मैं मिसेज रूबी से थाने पर ही बात करना चाहूँगा।"

हेड कांस्टेबुल ने पूरी बात पचाकर पूछा, "ये मिसेज रूबी कौन हैं?"

"तुम्हारी माँ है!" सिद्दीकी ने बिगड़कर जवाब दिया, फिर सधकर बोला, "तुम पुलिस में काम करते हो या भाड़ झोंकते हो? आज के अखबार की शक्ल नहीं देखी?"

हेड कांस्टेबुल की अक्ल भाड़ झोंककर वापस आ गई। बोला, "ओह! अरे वो...!" "जी हाँ! वो..."

चौकी से बाहर आकर वह सी.आई.डी. से सुपरिटेंडेंट विद्यानाथ सिन्हा के बँगले पर पहुँचा। वहाँ लगभग घंटे भर उनसे सलाह-मशविरा करता रहा। जब वह बाहर आया तब दस बजनेवाले थे। वहाँ से वह सीधा कोतवाली पहुँचा। थोड़ी देर वहाँ दफ्तरवाले कमरे में जाकर रुका रहा और बातचीत करता रहा। कोतवाली पर निचली मंज़िल के कोने में एक कमरे के पास एक कार खड़ी हुई थी। यह वही कमरा है जहाँ 'चचा' इंस्पेक्टर ने अजीतसिंह के पोस्टमार्टम की रिपोर्ट टेलीफ़ोन पर पाई थी और जिससे उसकी हत्या के मामले की पूरी शक्ल ही बदल गई थी। इस समय उस कमरे में सब-इंस्पेक्टर अस्थाना के साथ रूबी और एक दूसरा व्यक्ति बैठा हुआ था। सिद्दीकी ने बिना पूछे ही समझ लिया कि यह व्यक्ति रूबी का वही रिश्तेदार होगा जिसके यहाँ वह पिछली दो रातों से रह रही है। वही उसे अपनी कार में वहाँ लाया था। सिद्दीकी के कमरे में आकर बैठ जाने के बाद, एक-दूसरे का परिचय हो चुकने पर उसने कहा, "मिस्टर सिद्दीकी, यह बड़े ताज्जुब की बात है कि हमसे बात करने के लिए आपने हमें यहाँ बुलाया है। शायद यह कहने की ज़रूरत नहीं कि मिसेज हरिश्चन्द्र को इस समय आप सबकी हमदर्दी की जरूरत है। मैं समझता हूँ कि यह ज़्यादा स्वाभाविक होता कि आप खुद इस समय हमारे यहाँ तशरीफ लाए होते!"

सिद्दीकी ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला, पर चुप हो गया। अचानक उसने कड़ी

आवाज़ में कहा, "आप बगल के कमरे में जाकर बैठिए। जब ज़रूरत होगी, मैं आपको यहाँ बुला लूँगा।" सिद्दीकी की बात से उस व्यक्ति को एक झटका-सा लगा। उसने कहा, "यह सब क्या है? थर्ड डिग्री?"

सिद्दीकी ने कहा, "आप चाहे जो समझें, पर हम एक खून की जाँच कर रहे हैं। उसमें एक गोली से घायल और बेहोश इंसान को जहर देकर मारा गया है। अब आप बाहर तशरीफ ले जाएँ।"

रूबी अब तक चुपचाप बैठी हुई थी। उस आदमी के चले जाने के बाद उसने सिद्दीकी से स्पष्ट स्वर में कहा, "जहाँ तक मेरा ताल्लुक है, मेरे लिए इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है कि आप मुझसे मेरे घर पर बात करें या यहाँ पर। आप बताएँ, मैं इस मामले में क्या मदद कर सकती हूँ।"

सिद्दीकी उस पर अपनी निगाह जमाए रहा। फिर धीरे-धीरे, एक-एक शब्द को स्पष्ट करते हुए उसने कहा, "मिसेज रूबी, हमें सब कुछ मालूम है। आप हमारी यही मदद कर सकती हैं कि आपने जो कुछ किया है, हमें सच-सच बता दीजिए। उसमें हम दोनों को आसानी होगी।"

अब रूबी ने सिद्दीकी को शक की निगाहों से देखा। उसका गोरा चेहरा तमतमा उठा था। उसने धीरे-से पूछा, "मैंने क्या किया है?"

सिद्दीकी बड़े नाटकीय ढंग से अपनी कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया। मेज़ के कोने पर टिकते हुए उसने इतमीनान से सिगरेट सुलगाई और धीरे-धीरे कहता गया, "लगभग दस साल पहले—1959 की बात है—आप मेरठ में एम.जी. गर्ल्स कॉलेज में लेक्चरर थीं। तब आपकी शादी नहीं हुई थी। उस वर्ष आपका एक बच्चे से परिचय हुआ था। बच्चे का नाम संदीप है। उसकी उम्र अब दस साल से ज़्यादा हो चुकी है और वह नैनीताल के एक पब्लिक स्कूल में पढ़ रहा है। यह आपकी दोस्त मिसेज़ रत्ना का दत्तक पुत्र है। क्या आप बता सकती हैं, संदीप और आपका क्या रिश्ता है?"

रूबी का चेहरा पीला पड़ गया था। वैसे भी इस वक्त उसके चेहरे पर कोई मेकअप नहीं था। सवेरे के स्नान की ताज़गी ही उसकी सहज सुन्दरता को बढ़ाने में मदद कर रही थी। पर इस सवाल ने एकदम से उसके चेहरे की कान्ति छीन ली। उसने कहा, "आप यह सब क्यों पूछ रहे हैं?"

उसके होंठों के कोने काँपने लगे थे। सिद्दीकी उसे बराबर घूरता रहा। फिर अपने बैठने का ढंग बदलकर बोला, "देखिए, मैं आपको ज़्यादा पसोपेश में नहीं डालना चाहता। आपके बारे में मुझे जितना मालूम है, वह मैं खुद बताए देता हूँ। आप सुनकर सिर्फ इतना बता दें, यह सही है या गलत।"

उसकी निगाहों से लगता था, वह एक ऐसे जाल में फँस गई है जिसे तोड़कर निकला नहीं जा सकता। थोड़ी देर सन्नाटा रहा। फिर सिद्दीकी ने, जैसे वह कोई फ़ैसला सुना रहा हो, सधी आवाज़ में रुक-रुककर कहना शुरू किया, "मुझे मालूम है कि संदीप आपका ही लड़का है और वह आपकी शादी के पहले पैदा हुआ था।"

कहकर वह चुप हो गया, जैसे वह किसी पत्थर के टुकड़े को किसी स्विमिंग-पूल में डूबता हुआ देख रहा हो और उसके तह में जाकर बैठ जाने का इन्तजार कर रहा हो। रूबी

की आँखें फटी-सी रह गईं। सिद्दीकी ने कहा, "मुझे यह सब कहते हुए अफसोस होता है। पर अब असलियत का छिपना नामुमकिन है।"

थोड़ी देर चुप रहकर उसने कहा, "संदीप और आपके रिश्ते की बात दो-तीन लोगों को छोड़कर और कोई नहीं जानता। यकीनन आपके पति मिस्टर हरिश्चन्द्र भी इसे नहीं जानते। पर यही बात अजीतसिंह के बारे में नहीं कहीं जा सकती। वह जानता था कि संदीप की माँ आप हैं..."

"अजीतसिंह के घर में एक फोटो मिला है। इसे आप देख सकती हैं।" कहकर उसने अपनी जेब से फोटो निकाला और अपनी दो उँगलियों से थामकर उसे रूबी की आँखों के सामने हिलाया। वह कहता रहा, "इसमें आप अपने बच्चे के साथ मौजूद हैं। इसमें मिसेज रत्ना भी हैं। अजीतसिंह ने यह फोटो बड़ी होशियारी से छिपाकर रखा था। अजीतसिंह से आप पिछले दिनों काफ़ी मिलती रही हैं। पर वह आपके घर पर ज़्यादा नहीं बैठता था। ज़्यादातर आप ही उसके साथ बाहर जाती थीं। परसों आपने आठ हज़ार रुपए बैंक से निकालकर अजीतसिंह को दिए। वह रुपया अजीतसिंह के घर से बरामद हुआ है। उसी शाम को किसी ने अजीतसिंह के घर का ताला तोड़कर वहाँ की बड़ी जल्दबाज़ी में तलाशी ली है। शायद तलाशी ही के दौरान उसके जूड़े में लगी हुई गुलाब की एक कली उसके रेडियोग्राम के पास गिर गई थी, जो बाद में हमें मिली है। वह किसी फूलदान की कली नहीं हो सकती, क्योंकि उस फ्लैट में और सब कुछ है, सिर्फ ताजे फूलों के लिए फूलदान ही नहीं हैं।"

"परसों की ही रात 11 बजे अजीतसिंह को अस्पताल में किसी ने ज़हर दे दिया। उसकी मृत्यु उसी ज़हर से हुई। ज़हर की शीशी अस्पताल के कम्पाउंड में एक डस्टबिन में पाई गई है। वह एक छोटी-सी कत्थई रंग की शीशी है जिसमें एक औंस से ज़्यादा पानी आ सकता है। वैसी ही कुछ शीशियाँ आपके घर पर, आपके अपने कमरे में भी हैं।

"मिसेज़ रूबी, परसों रात 11 बजे के लगभग आप अजीतसिंह को अस्पताल में देखने भी गई थीं और आप उसके पास तीन मिनट तक अकेली रही थीं। इन सब बातों को एकसाथ देखने से कुछ नतीजे निकले हैं। पूरे मामले की सच्चाई उन्हीं नतीजों में छिपी हुई है। मैं चाहता हूँ कि आप खुद वह सच्चाई हमारे सामने प्रकट कर दें। इसी में आपकी भलाई है।"

लगा कि रूबी बेहोश होने जा रही है। वह कुर्सी से पीठ टिकाकर बैठ गई। उसने आँखें बन्द कर लीं और कुछ देर तक कुछ नहीं बोली। आखिर में उसने आँखें खोलीं और अपने पर काबू पाने की पूरी कोशिश करके बोली, "इंस्पेक्टर साहब, आप क्या कहना चाहते हैं? यही न कि अजीतसिंह मेरे और संदीप के रिश्ते को जानकर मुझे ब्लैकमेल करने की कोशिश करता है और मैंने मौका मिलने पर उसे ज़हर देकर मार डाला। बोलिए, आपका यही मतलब है न?"

सिद्दीकी कुछ नहीं बोला। चुपचाप सिगरेट पीता रहा। उसकी निगाह से ऐसा लगा कि वह खुद रूबी के बोलने का इन्तज़ार कर रहा है। अन्त में रूबी ने ही कहा, "आपने जितने नतीजे निकाले हैं, सब गलत हैं।"

सिद्दीकी के कुछ कहने के पहले ही रूबी का रिश्तेदार आँधी की तरह कमरे में घुस आया। उसे देखते ही सिद्दीकी उठ खड़ा हुआ। रिश्तेदार रूबी की बैंच के पीछे खड़ा हो गया,

जैसे रूबी के लिए वह सिद्दीकी के सभी वार झेलने के लिए तैयार हो। सिद्दीकी ने कड़ी आवाज़ में कहा, "आपको बाहर रहने के लिए कहा गया है?"

"मालूम है। पर इन्हें बरगलाकर आप इनका उल्टा-सीधा बयान नहीं ले सकते।" सिद्दीकी ने उसकी ओर तीखी निगाह से देखा। बोला, "आप बाहर चले जाएँ। वरना मैं आपको कमरे के बाहर फेंक दूँगा। उससे आपको तकलीफ होगी।"

वह रूबी के पीछे पहले ही की तरह खड़ा रहा। बोला, "यह आपका घर नहीं है। सरकारी जगह है।" कहकर वह रूबी से बोला, "रूबी, तुम यहाँ कोई भी बयान मत दो। बिल्कुल खामोश रहो। यह तुम्हें कुछ भी कहने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। मैं वकील को बुलाने जा रहा हूँ।"

रूबी ने बैठे-ही-बैठे उसका हाथ थपथपाया और कहा, "नहीं, मुझे इनसे कुछ भी नहीं छिपाना है। सुनिए..." वह सिद्दीकी से कहने लगी, "यह सरासर झूठ है कि मैं अजीतसिंह के फ्लैट पर कभी तलाशी लेने के लिए गई थी। परसों शाम मैं दो-एक मिनट के लिए उसकी मौजूदगी में ज़रूर गई थी। हो सकता है तभी मेरे बालों से वह फूल वहाँ गिर गया हो। और यह भी सरासर झूठ है कि मैंने अजीतसिंह को अस्पताल में जहर दिया है।"

उसका रिश्तेदार चीखकर बोला, "तो अब आप लोग रूबी को खून में फँसाने की कोशिश में हैं। आपको कोई और नहीं मिला?"

सिद्दीकी धीरे-धीरे फिर पहले की तरह अपनी जगह बैठ गया था। संयत होकर बोला, "आप ठीक समझे हैं। अब तक हमें जितना सबूत मिला है, उससे मिसेज रूबी का ही जुर्म प्रकट होता है।"

"तो क्या आप इन्हें गिरफ्तार कर रहे हैं?"

सिद्दीकी कुछ सोचता रहा। फिर बोला, "आप यह भी ठीक ही समझे हैं।"

रूबी को जैसे विश्वास नहीं हो रहा हो। उसने कहा, "क्या सचमुच आप अब मुझे घर न जाने देंगे।"

"मुझे अफसोस है। पर मुझे अब आपको थाने पर ही रखना होगा। हो सकता है, अजीतसिंह को ज़हर आपने न दिया हो। पर पूरे वाकिआत आपके खिलाफ पड़ते हैं और मामले की जाँच पूरी होने तक आपको हमें गिरफ्तारी में रखना पड़ेगा। इसकी सूचना आपके पति को या जिसे बताएँ उसे दे दी जाए।"

उसने रूबी के रिश्तेदार से कहा, "आप जाएँ। अपने वकील को बता दें।" पर ये शब्द सहजता से कहे गए थे। इसमें मखौल नहीं था। थोड़ी देर कमरे में शान्ति रही। अब तक रूबी ने अपने को पूरी तौर से संयम कर लिया था। बोली, "कृपया इसकी इत्तिला मेरे पति को इसी वक्त भेज दें। बल्कि मैं चाहूँगी कि आप मुझे कृपया इजाजत दे दें कि मैं उन्हें फ़ोन कर दूँ।"

सिद्दीकी ने अस्थाना को उस कमरे में फ़ोन ले आने का इशारा किया। अस्थाना बाहर चला गया। रूबी थोड़ी देर सिर झुकाए बैठी रही। उसकी आँखों के आगे अगले दिन के अखबार की सुर्खियाँ नाच रही थीं, जिनमें कहा जाएगा कि पति ने पहले अजीतसिंह को गोली चलाकर मारना चाहा और बाद में पत्नी ने उसे ज़हर देकर खत्म कर दिया। उसको गले में जकड़न-सी महसूस हुई। पर उसने कमरे के चारों ओर, और दरवाज़े के बाहर देखकर अपने

को इतमीनान दिलाया कि अभी सब कुछ खत्म नहीं हुआ है। बाहर वैसे ही हवा बह रही है, सूरज वैसा ही चमक रहा है।

जब वह बोली तब उसकी आवाज़ सधी हुई थी, "अपने पति के अलावा मैं अपने परिवार के एक मित्र को भी बुलाना चाहती हूँ। शायद आपको इसमें कोई एतराज न होगा।"

"क्या नाम है उनका?"

"उमाकान्त।"

"उ मा का न्त।" सिद्दीकी ने एक-एक अक्षर अपने होंठों से धीरे-धीरे निकाला। कुछ देर वह रूबी की ओर देखता रहा।

○ ○ ○

कानपुर में टेरिलीन, नाइलान, घड़ी, सोने आदि का तस्कर-व्यापार करनेवालों का एक अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह पकड़ा गया है। बम्बई के एक मशहूर साप्ताहिक पत्र ने, जो इस तरह की खबरों को चन्द्रमा तक अन्तरिक्ष-यान ले जाने के मुकाबले ज़्यादा महत्त्व देता था, उमाकान्त को तार भेजा। प्रार्थना की थी कि वह इस मामले की 'स्टोरी' जल्दी-से-जल्दी भेजे। यह साप्ताहिक उमाकान्त को सबसे ज़्यादा पैसे देता था। फिर भी उमाकान्त उस स्टोरी के पीछे नहीं भागा। उसके पीछे उसने अपना एक सहायक पत्रकार लगा दिया। खुद एक जहरीले आदमी की तलाश में खोया रहा।

तीन-चार दिनों से यह मसला उसके दिमाग पर बुरी तरह हावी था। पिछली रात वह जब हरीसिंह के होटल से लौटकर बिस्तर पर लेटा तो उसे नींद नहीं आई। वह बराबर सोचता रहा। रात को पिछले पहर उसे झपकी आ गई। जब नींद खुली तब सूरज निकल आया था। तैयार होकर उसने अपना स्कूटर निकाला और रूबी के उस रिश्तेदार के घर पहुँचा जहाँ अजीतसिंह की हत्या की रात रूबी रात-भर रही थी। वहाँ उसे मालूम हुआ कि अजीतसिंह पर गोली चलाने के बाद जैसे ही पुलिस हरिश्चन्द्र को थाने पर और अजीतसिंह को अस्पताल ले गई, रूबी ने अपने इस रिश्तेदार को फोन किया था। वह रूबी को डायमंड होटल से ले आया था। तब से वह अपनी गिरफ्तरी के वक्त तक, उसके या उसके परिवार के साथ रही। रूबी को वह अपनी कार पर ही अस्पताल लाया था। अस्पताल में रूबी काफी देर उसके साथ रुकी रही, बाद में अजीतसिंह को देख लेने के बाद उसी के साथ उसके घर वापस गई थी। उसी रिश्तेदार के साथ वह हरिश्चन्द्र से मिलने थाने पर भी गई थी।

... वह गोरे पाँवोंवाली औरत, जिसे बुर्के में देखकर पुराने रईस हरीसिंह का मन मसोसने लगा था, रूबी क्यों नहीं हो सकती—उमाकान्त सोचता रहा।

वहाँ से वह हरिश्चन्द्र के घर पहुँचा। वह दुकान पर जाने की तैयारी में था। उसने बताया कि अब रूबी को जमानत पर छोड़ने की दरख्वास्त हाईकोर्ट में दी जा रही है। उसने यह भी बताया कि सी.आई.डी. ने अपनी जाँच लगभग खत्म कर ली है। उन्हें कई मरीजों की गवाही मिल गई है, जिन्होंने रूबी को अजीतसिंह के बिस्तर के पास अकेले जाते हुए देखा था। उस वक़्त वहाँ कोई वार्ड-ब्याय भी नहीं था।

और वार्ड-ब्याय? सी.आई.डी. वार्ड-ब्याय के ख़िलाफ़ कुछ क्यों नहीं सोचती? अचानक उमाकान्त ने हरिश्चन्द्र से कहा, "आपका फोन कहाँ है?"

"उधर—गैलरी में। क्यों?"

उसने 'क्यों' का जवाब नहीं दिया। गैलरी में जाकर बादशाह को फोन मिलाया और पूछा, "बादशाह, तुमने उस वार्ड-ब्याय का क्या नाम बताया था?"

बादशाह ने जवाब दिया, "रामप्रकाश। सर्जिकल वार्ड में उस रात वह ड्यूटी पर था।"

"उसके बारे में कुछ पता लगाया था?"

"हाँ उस्ताद! वह बिहार का रहनेवाला है। कुछ दिनों बनारस के एक अस्पताल में काम करता रहा था। अभी एक महीना हुआ, इस अस्पताल में बदलकर आया है। उसकी चाल-ढाल पर उसी दिन से हमारे दो चेलों की निगाह लगी है। पर उसके खिलाफ कोई भी बात अब तक सामने नहीं आई। वह शहर में बहुत कम लोगों को जानता है। ड्यूटी के बाद सीधा अपने घर जाता है। उसके साथ सिर्फ़ उसकी माँ रहती है। खाना खाकर वह पड़ोस में एक हनुमान जी के मन्दिर जाकर पड़ रहता है। फिर सोने के वक्त घर वापस लौट जाता है। माँ और हनुमानजी को छोड़कर उसका शायद किसी से कोई सरोकार नहीं है।

"ओह !"

बादशाह उधर से हँसा और बोला, "क्या हुआ उस्ताद? वार्ड-ब्याय के खिलाफ कुछ मसाला निकला क्या?"

"जो मसाला था उस पर तो तुमने पहले ही पानी फेंक दिया है।" कहकर उमाकान्त टेलीफ़ोन रखने जा रहा था, पर कुछ सोचकर रुक गया। उसने कहा, "बादशाह, पाँच-छह बजे अपने होटल में ही रहना।"

गैलरी में हरिश्चन्द्र की ओर आते-आते उसने कहा, "हम लोग क्या आज रूबी से नहीं मिल सकते?"

हरिश्चन्द्र सोचता रहा, फिर बोला, "एक डिप्टी जेलर मेरा मुलाकाती है। अगर वह हुआ तो शायद आज ही मुलाकात हो जाए। नहीं तो तीन दिन तक इन्तजार करना पड़ेगा।"

"पर रूबी से मैं अकेले मिलना चाहता हूँ।"

हरिश्चन्द्र ने उदास होकर कहा, "ठीक है। चलिए, हम लोग पहले डिप्टी जेलर ही के पास चलें।"

रूबी से मुलाकात करने में खास दिक्कत नहीं हुई। डिप्टी जेलर ने उसे अपने कमरे में ही बुला दिया और उमाकान्त से कहा, "मैं पाँच मिनट बाद आ रहा हूँ।"

बातचीत के लिए उसे सिर्फ़ पाँच मिनट मिले थे।

रूबी का चेहरा पहले से और भी ज़्यादा पीला था। उसकी आवाज धीमी थी। साड़ी, लगता था कल से नहीं बदली गई है और सोया भी उसी में गया है। उमाकान्त ने कहा, "अच्छा हुआ, हरिश्चन्द्र मेरे साथ नहीं आए। वे आपको इस हालत में देख लेते तो उन्हें शायद चार दिन तक नींद न आती।"

रूबी ने पहले ही की तरह धीरे-से कहा, "आई एम सॉरी। पर...।" उमाकान्त की निगाह जमीन पर, और वास्तव में रूबी के पैरों पर थी। गोरे और चिकने पैर। हरीसिंह इन पैरों को देखकर क्या सोचेगा? उमाकांत ने मन-ही-मन अपने से सवाल किया। पर उसकी बात का सम्बन्ध पैरों से न था, उसने कहा, "मैं सिर्फ एक सवाल पूछने आया था। मैं जानना चाहता हूँ कि तुम उस रात अजीतसिंह को अस्पताल में देखने क्यों गई थीं?"

वह सोचती रही। फिर धीरे से बोली, "क्या आप भी सोचने लगे हैं कि मैं उसे जहर

देने गई थी?"

"मेरे सोचने या न सोचने का कोई मतलब नहीं। असलियत यह है कि सी.आई. डी. वाले यही सोच रहे हैं। तभी यह सवाल पैदा हुआ है। अजीतसिंह तुम्हारा दुश्मन था। तुम्हें उससे कोई हमदर्दी न थी, फिर भी तुम उसे अस्पताल में देखने गईं। क्यों?"

"यह मेरी बेवकूफी थी।"

"पर, क्यों?"

रूबी ने सिसकना शुरू कर दिया। उमाकान्त उसी तरह कहता रहा, "मेरे लिए यह जानना बहुत ज़रूरी है। तुम वहाँ गई क्यों थीं?"

रूबी ने अपने को संयत किया और धीरे से बोली, "इसका मेरे पास कोई भी जवाब नहीं है, सिवाय इसके कि मैं नहीं चाहती थी कि वह मेरे पति की गोली से मरे। मैं अपने पति की बचत के लिए चाहती थी कि चाहे जैसे हो, अजीतसिंह को बच जाना चाहिए। इसीलिए मैं बराबर घर पर उसके बचने की प्रार्थना करती रही। अचानक मेरे मन में आया, मैं अगर उसके पास जाकर, उसकी हालत देखकर ईश्वर से उसके लिए माफी माँगूँ और वहाँ उसके लिए प्रार्थना करूँ तो शायद वह ज़्यादा कारगर होगी।" उसने फिर सिसकना शुरू कर दिया। बोली, "उमाकान्त जी, यकीन मानिए, मैं वहाँ उसकी जीवन-रक्षा की प्रार्थना करने गई थी, उसे जहर देने नहीं।"

उमाकान्त की निगाह उसके पैरों से हटकर सामने एक अलमारी पर टिक गई थी। रूबी के चुप हो जाने पर भी वह उसी तरह बैठा रहा। थोड़ी देर बाद वह एक साँस खींचकर उठा और धीरे-धीरे रूबी का कन्धा थपथपाकर कमरे के बाहर चला आया।

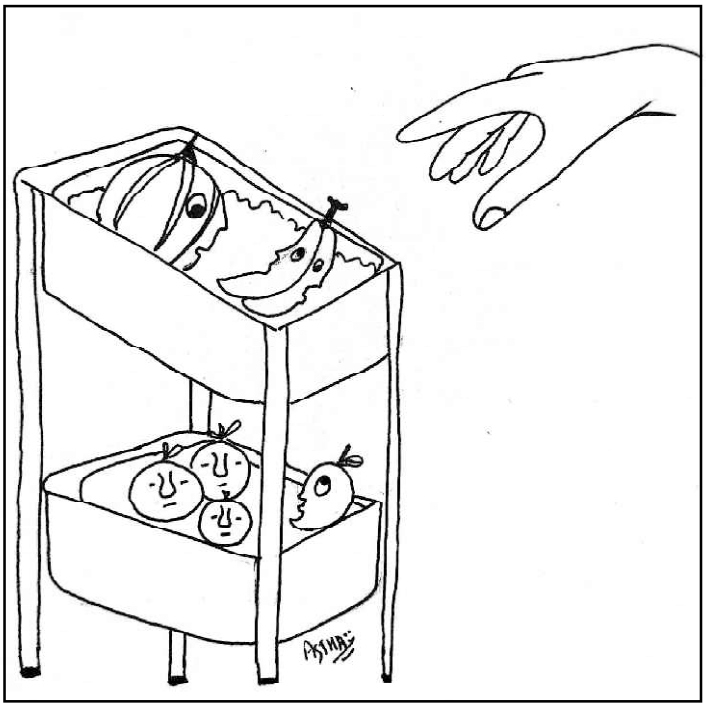

सीमाएँ टूटती हैं

शाम हो गयी थी। कॉलिज के कुछ लड़के रंगीन कमीज़ों, घिसी हुई ज़ीन और ऊँचे बूँटों में, लम्बे बाल और झुकी हुई मूँछों-दाढ़ियों से लैस, फुटपाथ पर टहल रहे थे। कुछ देर पहले वे टी-हाउस में जाकर ताबड़तोड़ अँग्रेज़ी बोल रहे थे। कुछ ने सड़क पर जाने वाली लड़कियों को हिकारत से देखा था; एक-दूसरे को विश्वास दिलाया था कि उन्होंने अपना विश्वास खो दिया है; कला, राजनीति और बौद्धिकता के क्षेत्र में पलनेवाले जालसाज़ों को उन्होंने गालियाँ दी थीं। यह और बात है कि अभी उन्हें जालसाज़ साबित करने में वे कुछ कच्चे पड़ जाते थे और यह भी और बात है कि उन्हें जालसाज़ साबित करने की क्षमता पाते-पाते उनमें से खुद बहुत-से उन्हीं जालसाज़ों के गिरोह में शामिल हो जाने वाले थे।

गिरोह राजनाथ की दूकान के सामने से गुज़रा। दूकान में नाच की एक धुन बज रही थी जिस पर उनके पैर थिरकने लगे। मुँह से वही धुन निकालते हुए वे दूकान में घुस आये। काउण्टर के पीछे एक लड़की किसी गाहक से बातें कर रही थी। एक लड़के ने, मोटे फ्रेम का चश्मा उतारकर, बड़ी-बड़ी लटकती हुई आँखों से लड़की को देखा, फिर बहुत मुलायम आवाज़ में अनिवार्य अंग्रेज़ी के सहारे एक पॉप म्यूज़िक के रिकर्ड के बारे में पूछा।

वह अपने पीछे दीवार में लगे हुए ड्राअरों को ध्यान से देखती रही, फिर एक ड्राअर खींचकर उसने एक बड़ा रिकर्ड निकाला। अँग्रेजी में कहा, "इस लांगप्ले में यह भी आ गया है। इस वक्त अलग से पैंतालीस आर. पी. एम. में यह नहीं मिलेगा।"

"चलेगा," इस बार वह हिन्दी में बोला। उसने अपनी आँख पर चश्मा लगा लिया और ऐसा करते ही वह किसी शोध-विद्यार्थी जैसा दिखने लगा। लड़की ने पूछा, "इसे पैक कर दें?"

"नहीं," उसके पीछे से किसी लड़के ने गुर्राती हुई आवाज़ में कहा, "पहले इसे हम लोगों के लिए बजाओ।"

दूकान के कोने में बिल्कुल पिछली दीवार से सटी हुई मेज़ के पास राजनाथ बैठा हुआ तारानाथ का पत्र पढ़ रहा था। पत्र लखनऊ से लिखा गया था।

"...फैजाबाद में मैं पापा से मिला। सबसे बड़ी सांत्वना इससे मिली कि वे दुखी नहीं दिखे। पता नहीं, तुमने उनसे मिलकर क्या सोचा था; मुझे लगा, उन्होंने अपने संकट को समत्व के साथ ग्रहण कर लिया है।

"मेरे साथ शंकर भी फैजाबाद गया था (साला पियक्कड़ भाई के पीछे हर जगह लगा रहता है।) हम दोनों डॉ. फड़के से भी मिले थे। तुम उनसे अगली बार ज़रूर मिलना। वे अपराध-शास्त्र के जाने-माने विद्वान् हैं, और बड़े आस्तिक हैं। (क्यों नहीं! भाई को आस्तिक

ही मिलते हैं!) पापा के मामले में उन्होंने काफ़ी दिलचस्पी दिखायी। उनका विश्वास है कि पापा निर्दोष हैं। उन्होंने हमें मामले की फिर से छानबीन करने की सलाह दी है। उन्होंने पुलिस की कुछ धारणाओं पर दुबारा जाँच कराने की ज़रूरत समझी है। शंकर डॉ. फड़के से बहुत प्रभावित है और उसने काम शुरू भी कर दिया है। उसके बिना मैं तो कुछ कर ही न पाता। (माला तो जप ही सकते हैं!)

"यह भी एक संयोग है कि पापा को फैजाबाद जेल में रखा गया है। वहीं अयोध्या है, जगन्निवास मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की लीला-भूमि। (ये लोग कितने फज़ूल विशेषण इस्तेमाल करते हैं।) मर्यादापुरुषोत्तम की कृपा पापा को मिलनी ही चाहिए। तभी उन्होंने उनको अपने निकट के जेल में बुलाकर रखा है। (फैजाबाद जेल में फाँसी भी लगती है, भाई को शायद यह मालूम नहीं।)

"शाम को मैं अयोध्या भी गया। कनक-भवन में भगवान् राम के दर्शन किये। (क्या कहा उन्होंने?) वाल्मीकि ने उनके लिए कहा है कि वे गाम्भीर्य में समुद्र के समान हैं, धैर्य में हिमवान् के समान। मैंने पापा के लिए प्रार्थना की कि वे जब तक जेल में हैं, इन्हीं गुणों का अपने में आरोपण करके दीनता से बचे रहें। (सीधे-सीधे राम ही बन जायँ।)

"कनक-भवन बड़ा सुखद और शान्त स्थान है...।"

फिर पूरे पैराग्राफ में कनक-भवन की गरिमा का वर्णन था। राजनाथ ने मन-ही-मन कहा, "रानीखेत भी बड़ा सुखद और शान्त स्थान है।"

"अब एक बहुत ज़रूरी बात। वैसे उसमें शायद कुछ है नहीं, पर इसे अभी अपने तक ही रखना...।"

लगा कि कमरे की छत टीन की तरह उड़कर सड़क पर गिर गयी है। लड़कों की पसन्द का एक दूसरा रिकार्ड एक चीख के साथ बजना शुरू हो गया था। वे गाने की धुन पर पैर पटक रहे थे, लम्बी गर्दनों को आगे उचकाकर रिकार्ड के साथ गा रहे थे।

शॉप-असिस्टेण्ट पूरे दृश्य को बेरुखी से देख रही थी, पर उसका भी एक पैर गाने की धुन पर धीरे-धीरे चल रहा था। राजनाथ का ध्यान उचट गया था। उसके ओंठों तक आया, 'नॉन्सेन्स।' पर उसे अपने पर हँसी-सी छूटी, क्योंकि उसका पैर भी गाने की धुन पर धीरे-धीरे हिलने लगा था।

तारानाथ के पत्र की कुछ लाइनें पढ़ते ही उसके सामने से दूकान, लड़के, गाने का रिकार्ड—सब एक साथ पुँछ गये। कब वह गाना खत्म हुआ और नाच की एक उससे भी ज़्यादा फ़सादी धुन कब शुरू हो गयी—इसका उसे पता भी नहीं लगा।

"...तुम्हें याद होगा, एक चौकीदार गोविन्द की दूकान पर रात के बारह बजे सोने आया करता था। वह उसी ज़ीने पर लेटता था जिससे चढ़कर ऊपर के गेस्ट-रूम तक पहुँचा जाता है। उसने पुलिस से कहा था कि उसे घटना के बारे में कुछ भी मालूम नहीं है। उसने बताया था कि वह जब सोने के लिए आया था तब सेठ लोग सो गए थे। मैंने और शंकर ने कल उससे बात की। वह पहले अपना पुराना बयान दोहराता रहा, फिर बड़ी पूछताछ के बाद उसने एक अजीब बात बतायी।

"उसका कहना है कि उस दिन वह जल्दी ही लगभग ग्यारह बजे सोने आ गया था। तभी बारिश होने लगी। कुछ देर बाद एक आदमी ज़ीने से चढ़कर ऊपर के गेस्ट-रूम में गया।

वहाँ उसने अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर लिया होगा क्योंकि बाद में दरवाज़ा अन्दर से ही बन्द पाया गया था और उसे पापा ने पुलिस के आने पर ही खोला था। चौकीदार कहता है कि वह उस समय ऊँघ गया था और किसी के आने का उसे बड़ा हल्का आभास हुआ था। इतना हल्का कि वह पुलिस से कोई निश्चित बात कहने में हिचक गया था। अब भी उसे निश्चय नहीं है, पर वह इसे एक सम्भावना मानता है। हमने उसे यक़ीन दिलाया कि वह अब कुछ भी कह सकता है, उससे उसकी कोई हानि नहीं होगी।

"चौकीदार का कहना है कि शायद वह उस आदमी को देखकर पहचान भी ले। वह कहता है, 'शायद'। फिर भी इससे आगे की छानबीन की सम्भावनाएँ खुल जाती हैं। मैं तो नहीं, पर इस सिलसिले में हो सकता है, शंकर जल्द ही दिल्ली आये...।"

उसने पत्र को समेटकर जेब में रख लिया, टेलीफ़ोन डायल करके उतावलेपन से घंटी का बजना सुना। फिर कहने लगा, "नीला, सुनो। सुनो, नीला ! ओह, दिस डैम्ड म्यूज़िक।" दूसरे कान में उँगली खोंसकर वह कहता रहा, "भाई की चिट्ठी आयी है। सुनो, पापा के मामले की फिर से जाँच हो रही है। नहीं, पुलिस की नहीं, प्राइवेट जाँच हो रही है। कुछ नई बातें सामने आयी हैं। हो सकता है, असली खूनी पकड़ा जाय।"

बात खत्म करते-करते उसकी आवाज़ की झनक खत्म हो गयी। एकाध बार उसने फ़ोन पर कहा, "हाँ, हो सकता है।" फिर कुर्सी पर बैठकर धीरे-धीरे बोलने लगा, "कुछ भी तय नहीं है, नीला। अभी से मैं कोई आशा नहीं लगा रहा हूँ। सच तो यह है कि भाई के खत में ऐसी कोई बात नहीं थी। सिर्फ़ तुमको बताना था, बता दिया। ठीक है, ठीक है... जल्दी आ जाऊँगा।"

दो लड़के उसके पास खड़े हुए कुछ कह रहे थे। जैसे गर्म भाप से भरे हुए कमरे से वह बाहर निकला हो और बाहर की परिचित दुनिया को पहचानने की कोशिश कर रहा हो, उसने पूछा, "क्या कहा आपने?"

उनमें से जो ज़्यादा खूबसूरत था—क़ायदे से मत्थे तक सँवारे बाल, गहरा हरा कुर्ता, मॉडलों की धज—आगे बढ़कर बोला, "माई नेम'स क्रिस्टी, व्हाट इज़ योर्स वाला रिकार्ड है?"

वह एक दुश्मन से बात कर रहा था। गुर्राकर बोला, "नहीं, मेरे यहाँ नहीं है। यह गन्दा रिकर्ड है। हम लोग नहीं रखते।"

फ़सादी रिकर्ड अब भी बज रहा था। उसने उसी तरह गुर्राकर लड़की से कहा, "बहुत हो लिया, अब यह शोरगुल बन्द करो।"

○ ○ ○

दोनों के बीच सम्प्रेषण के रास्ते ख़त्म हो चुके थे। अचानक उन पर कँटीले झाड़-झंखाड़ उग आये थे और वे एक-दूसरे तक पहुँच नहीं पा रहे थे।

वे एक भरे-पूरे, फ़ैशनेबुल फ़िल्मी बाज़ार से गुज़र रहे थे, जहाँ रंग-बिरंगी रोशनियाँ थीं, पुरानी पर इत्मीनान देने वाली इमारतों के बीच नयी-नयी आठ-दस मंज़िला इमारतें थीं, शोर था, संगीत था, मोटरों के तरल हॉर्न और स्कूटरों की किरकिराती हुई आवाजें थीं, 'यूथ टाइम्स' और 'जूनियर स्टेट्समैन' पढ़ने वाले लड़के-लड़कियों का निरातंक-निश्चिंत सैलाब था; फ़र्जी सम्पन्नता, फ़र्जी मूल्यहीनता, फ़र्जी स्वच्छन्दता का सुव्यवस्थित, और फेन और लहरों से भरा हुआ सुनियन्त्रित वातावरण था।

उसने हाथ फैलाकर जूली की पीठ को अपनी बाँह में घेरना चाहा, कहा, "इतना सीरियस न बनो। मेरी पूरी दिक्कत फ़र्जी है, ज़्यादा-से-ज़्यादा साइकोलॉजिकल है। वे सब मुझ पर शक कर रहे हैं, मुझे यह अच्छा नहीं लगता है। इससे ज़्यादा या इससे आगे कुछ नहीं है। फिर भी मैं तुमसे बात करना चाहता था। मुझे तुम्हारी समझ पर भरोसा है। तुम्हीं इस वक़्त मेरे पागलपन को अपने जादू की फूँक से उड़ाकर मुझे सही रास्ता बता सकती हो। बताओ, जूली, मैं क्या करूँ? वे सब मुझ पर शक कर रहे हैं। सिर्फ़ चाँद मुझ पर शक नहीं करती है। पर वह कभी भी बदल सकती है।"

उसे अपनी बाँह में किसी खिंचाव का एहसास हुआ। जूली सचमुच ही उसकी बाँह के घेरे से अपने को छुड़ा चुकी थी। वह कार का सीट पर बिल्कुल किनारे से चिपककर बैठी हुई थी। उसने पूछा, "विमल, जिस रात गोविन्द का खून हुआ था, उस रात तुम उसके फ़्लैट पर गए थे न?"

"हाँ, मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ।"

"तुम यह भी बता चुके हो कि दुर्गादास इतनी पी गया था कि दीवान पर लगभग बेहोश पड़ा था।"

"हाँ, पर...।"

"उस हालत में क्या दुर्गादास सचमुच ही गोविन्द की हत्या कर सकता था?"

"उस वक़्त नहीं, पर बाद में शायद...।"

"विमल, प्लीज़, तुम्हारी बातों से मुझे डर लग रहा है। फिर भी मैं साफ़-साफ़ बात करना चाहती हूँ। अगर दुर्गादास उस हालत में किसी का गला नहीं घोंट सकता था तो तुम्हें उसकी मदद करनी चाहिए थी। मैं तुम्हारी जगह होती तो जानते हो, क्या करती?"

"मैं उसी वक़्त पुलिस को बताती कि लगभग साढ़े-ग्यारह बजे रात को मैं गोविन्द के फ़्लैट पर गयी थी, वहाँ मैंने अपनी आँख से देखा था कि दुर्गादास शराब पीकर बेहोश-सा था, किसी का गला दबाने लायक़ ताक़त उसके हाथों में नहीं थी। यही नहीं विमल..।"

अब वह उससे सीधे, निस्संग होकर बोल रही थी..."मैं दुर्गादास की ओर से कोर्ट में जाकर गवाही भी देती, मैं बताती कि दुर्गादास उस रात इतनी पी चुका था कि वह किसी का गला नहीं घोंट सकता था..."

"पर जूली, यह सब बेकार होता। सभी जानते हैं कि मैं दुर्गादास का दोस्त हूँ। मेरी इस तरह की गवाही की कोई क़ीमत न होती। सभी जान जाते कि मैं दोस्ती में झूठ बोल रहा हूँ।"

"फिर भी, तुम्हारा काम था कि तुम सच बोलते। वे चाहे जैसा समझते, पर तुम खामोश क्यों रहे? तुमने शुरू से ही सही बात क्यों नहीं बतायी?"

"जूली, समझने की कोशिश करो। मैं डरा हुआ था...उसने हाथ फैलाकर जूली को अपनी ओर समेटना चाहा, पर वह बिल्कुल दरवाज़े से सट गयी थी।

एक झटके के साथ उसे एहसास हुआ कि वह जूली की ज़िन्दगी से निर्वासित हो रहा है।

...अब क्या हुआ, मिस्टर सलूजा? जूली भी अनमनी हो जाए तो आप रोने लगेंगे? पुअर ब्वाय, तुम्हें कोई भी ठीक से नहीं समझता... चाँद उसके मन की किसी पर्त पर टिककर

उसे ताना दे रही थी...मुझे दोबारा यही बात समझाने दीजिए। देखिए, मिस्टर सलूजा, दूसरे को उसके अपने नज़रिये से समझने की कोशिश कीजिए। मान लीजिए कि आप एक कॉल-गर्ल हैं। जूली की तरह, आप निहायत हसीन और दिलकश बिज़नेसमैन से, जिसका नाम विमल है, उसके होटल में मिलने जाया करती हैं और आपको इस दोस्ती पर नाज़ है। अचानक आपको लगता है कि यह साफ़-सुथरा, हँसमुख बिज़नेसमैन पियक्कड़ तो है ही, स्मग्लिंग भी करता है, यही नहीं, वह अपने दोस्त की लड़की को फुसलाकर उसके साथ ऐश कर रहा है और इस सबके अलावा, वह साफ़ तौर से खूनी भी है...ठीक है, मेरी बात मत काटिए, वह खूनी नहीं है पर खूनी हो सकता है। इसके बाद, ज़रा सोचिए न, कॉल-गर्ल की हैसियत से आप अपनी निगाह में गिर जायेंगी, या गिर जायेंगे (फ़ारगेट द कन्फ़्यूज़न ऑफ़ जेण्डर्स, सिर्फ़ बात समझने की कोशिश कीजिए।) आप, यानी वह कॉल-गर्ल सोचेगी : हाय, मैं अब सस्ती रण्डियों की तरह खूनियों भोर डकैतों के साथ उनके बिस्तर पर जा रही हूँ।"

...नहीं, मिस्टर सलूजा, उसे रोकने की कोशिश न कीजिए। हर कॉल-गर्ल की अपनी शान होती है।

गाड़ी से उतरकर जूली जिस तेज़ी से अपने घर की ओर चली उससे लगा कि वह अपने से भी दूर भागना चाहती है। विमल ने कहना चाहा, "गुड नाइट, डार्लिंग", पर उसकी जगह वह जेब में सिगरेट का पैकेट ढूँढ़ने लगा।

जूली की तरफ़ कार का दरवाज़ा अब भी खुला था जिससे कार के अन्दर छत की रोशनी का बल्ब जल रहा था। न जाने किस खयाल से उसने बैकव्यू-मिरर को सीधा करके उसमें अपने चेहरे का अक्स देखा।

कहीं छिपा हुआ डर होगा कि उसका चेहरा बदल चुका है। पर स्पष्ट था कि आज तक की, और आज की घटनाओं ने उस पर अभी कोई छाप नहीं छोड़ी है।

...बात बिल्कुल सीधी है, मिस्टर सलूजा। चेहरे पर सिर्फ़ खूराक की कमी, ग़लत आबोहवा, कड़ी मेहनत और बीमारी की छाप पड़ती है, जिनसे आपका कोई ताल्लुक नहीं। तुम कैसे आदमी हो और कैसे नहीं हो, इसकी कोई छाप नहीं होती। होती भी हो तो कम-से-कम वह चेहरे पर नहीं उतरती।

...आप ठीक कह रही हैं मिस चन्द्रा, हमेशा की तरह आप ठीक कह रही हैं। पर मेरे चेहरे से भले ही न लगता हो, मैं दरअसल परेशान हूँ और आपको प्यार करना चाहता हूँ... इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता।...

○ ○ ○

दोपहर बाद वह प्रोफेसर के साथ घूमने निकल गयी। उन्होंने एक रेस्त्राँ में कॉफ़ी पी, किताबों की दूकान पर वे सब नयी किताबें देखी जो दिल्ली में पुरानी हो गयी थीं, वे पत्रिकाएँ देखीं जिन्हें बिना देखे खरीदा जाता है, फिर चाँद ने एक फ़िल्म देखने की बात चलायी और महसूस किया, लड़की होकर उसने जैसे एक परम्परा तोड़ी है, जैसे उसने अपने प्रेमी से खुद शादी करने का प्रस्ताव किया है।

पर प्रोफेसर पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उसने कहा, "फ़िल्म ऐसे, मौसम में?"

मौसम अच्छा भी था और खराब भी। सवेरे से रुक-रुककर बारिश हो रही थी। वह दोपहर बाद थम गयी थी पर आसमान पर अब भी बादल जमा थे। हवा नहीं चल रही थी।

पहाड़ियों, पेड़ों और इमारतों को अपने में बराबरी से समेटकर अंधेरे और उजाले की बीच की एक सुरमई रोशनी उन दोनों को ढँके हुए थी। ऐसी रोशनी हमें सपनों में दिखायी देती है।

"हम दूर तक टहलने नहीं जा सकते। भीगने का डर है।"

"आपको भीगने से डर लगता है?"

"मुझे किसी चीज़ से डर नहीं लगता।"

"शादी से?"

चाँद ने उसे घूरकर देखा। प्रोफेसर ने कहा, "सॉरी! यह सवाल काट दीजिए। कोर्स में नहीं है।"

"सवाल में कोई खराबी नहीं है। मुझे इसका जवाब आता है।"

प्रोफेसर सड़क छोड़कर सँकरे रास्ते पर आ गया। घने पेड़ों के बीच से चढ़ता हुआ यह रास्ता पहाड़ी की चोटी की ओर जाता था। चाँद की बात अनसुनी करके पूछा, "आप ऊपर तक गयी हैं?"

"नहीं। पर आज...बारिश...।"

"आइए, ऊपर से आपको दूसरी ओर घाटी दिखायी देगी।"

वे धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगे। चीड़ के पेड़ों ने पहाड़ी के इस हिस्से को ढक लिया था। उनके बीच छिपे हुए बँगलों से कहीं-कहीं बिजली की रोशनी हिचकती-सी बाहर आती थी, धुँधलके पर उसका कोई असर नहीं होता था। प्रोफेसर ने कहा "मसूरी के ये कुछ दृश्य हैं जिन्हें टूरिस्ट लोग नहीं देख पाते। ये रास्ते सिर्फ़ मुझे मालूम हैं।"

आगे रास्ता कुछ चौड़ा था और दूर तक समतल चला गया था। वे मैदानी चाल से बढ़ने लगे। चाँद ने कहा, "आप मसूरी को अच्छी तरह जानते हैं?" "नहीं, पर मैं हर शहर को अच्छी तरह जानने का तरीक़ा जानता हूँ और आपको भी बता सकता हूँ। वह यह है कि...।"

तभी बिना किसी भूमिका के बारिश आ गयी। इस बार फुहारों में नहीं, बड़ी-बड़ी बूँदों में आयी। बूँदें इतनी बड़ी थीं कि बारिश को जल्दी थम जाना चाहिए था। पर ऐसा नहीं हुआ। उनके देखते-देखते चारों ओर पानी का कुहासा छा गया।

चाँद ने बरसाती पहन ली थी। सिर ढँकने के लिए उसने अपने रेशमी स्कार्फ को फैलाकर चौड़ा किया और उसमें बालों को छिपाकर उसे ठुड्डी के नीचे बाँध लिया। प्रोफेसर ने अपना छाता खोलकर चाँद की ओर बढ़ाया। वह प्रोफेसर के पास छाते के नीचे आ गयी।

"हमारी यात्रा खत्म हो गयी। ऐसी बारिश के ख़िलाफ़ हम कुछ नहीं कर सकते।"

"मैं पहले ही से जानती थी।"

"क्या?"

"कि बारिश आ जाएगी।"

प्रोफेसर ने उसे प्रोफेसर की तरह देखा, आरोप-सा लगाते हुए अँग्रेज़ी में कहा, "आप निराशावादी हैं।"

"मैं यथार्थवादी हूँ ।"

"गुड! इन चालू शब्दों को हम एक-दूसरे पर टेनिस बॉल की तरह फेंक सकते हैं।"

बारिश उसी तरह हो रही थी। चाँद ने कहा, "हम लोग क्या यही खड़े रहेंगे?"

"चलिए, वापस चलें।" उसने कहा, "रास्ते में आपने एक बेंच देखी होगी। हम लोग

कुछ देर उस पर बैठकर भीग सकते हैं।"

○ ○ ○

नीला और राजनाथ एक साथ जोर-जोर से बोलने लगे। अनायास ही तारानाथ सिर छाती पर लटकाकर सुस्थिर बैठ गया था, जैसे कि वह प्रार्थना के क्षणों में बैठता था। उन लोगों के चुप हो जाने पर वह बोला, "ग़लती शायद हमारी ही थी।"

राजनाथ ने कहा, "इसके पागलपन का असर आप पर भी हो गया है। पर मैं चाँद को बँगलौर नहीं जाने दूँगा।"

"जो कर नहीं सकते, उसके बारे में कुछ मत कहो।" कह चुकने के बाद तारानाथ को लगा, कुछ भी कहना बेकार है। वह खामोशी से मोमबत्ती की सचल रोशनी में उस धुँधले जगत् को देखता रहा जिसे रोज़ की प्रार्थनाओं में जल की तरंग-भंगिमा और बिजली की चपलता के साथ बाद किया जाता है।

फिर वह भी उठकर अन्दर चला गया ।

भीतर के बरामदे में एक पुराना सोफ़ा पड़ा था। मोमबत्ती के मद्धिम उजाले में उसने चाँद को वहाँ पर लेटे हुए देखा। इतनी जल्दी सो नहीं सकती—उसने सोचा, पर उसे जगाने या उससे बोलने की कोई कोशिश उसने नहीं की। कोने से एक स्टूल उठाकर वह चाँद के पास बैठ गया।

सोफ़े पर वह आँखें मूंदे हुए लेटी थी। एक कुशन के सहारे गर्दन को ऊँचा करके वह निश्चल पड़ी थी। उसके आसपास किसी समुद्री किनारे जैसी वीरानगी थी, जहाँ से पूरे दिन नहाने और धूप खाने के बाद लोगों की भीड़ वापस चली गयी है और शाम के धुँधलके में जहाँ सिर्फ़ दफ़्ती के रौंदे हुए डिब्बे, बियर की खाली बोतलें, चाकलेट और मिठाइयों के ऊपरी काग़ज, आइसक्रीम के छूँछे कप-भर बालू में छितरे पड़े हैं।...

तारानाथ को उसके लिए सहानुभूति का अनुभव हुआ, पर वह उस निश्चलता और वीरानगी के लिए नहीं थी। वह सहानुभूति एक नये प्रकार की थी जो समानान्तर चलते हुए किसी सहयात्री के लिए, जो यात्रा के एक मोड़ पर अचानक बिल्कुल करीब आ गया हो, पैदा होती है।

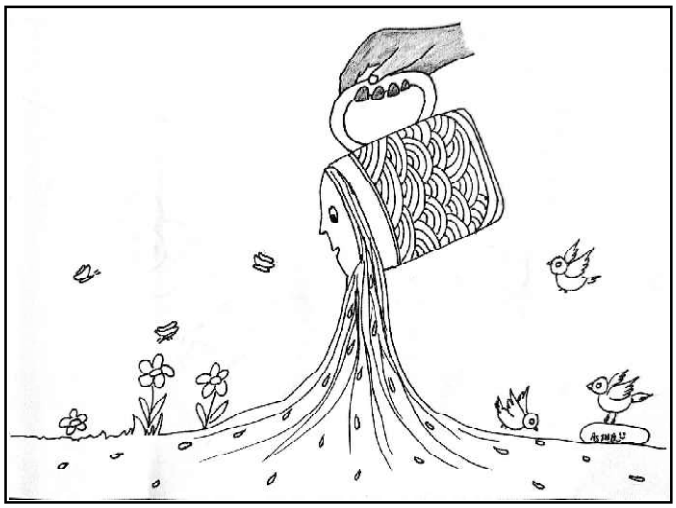

मकान

6 अक्तूबर, 1974-रविवार

नारायण

मिठाई के एक घिनौने टुकड़े पर सैकड़ों चींटे गुथे पड़े हैं। उन पर पानी की दस बूँदें छिड़क दी जाएँ, तब देखिए कि वे कितनी तेज़ी से कितनी असम्भव दिशाओं में बिखरते हैं। सिनेमा खत्म हो चुका है; दर्शकों को इसी तरह सड़क पर बिखरते देखकर मुझे चींटों की याद आती है।

बम्बई के सिनेमा वाले संगीत का सलाद तैयार करने में परम निपुण हैं। सड़े टमाटर, कड़ुवे खीरे, काठ जैसे नीरस नींबू, बरगद की जड़ जैसी कड़ी मूली, और गाजर के अखाद्य टुकड़ों को वे तश्तरी में इतनी खूबसूरती से सजाते हैं कि उसे दूर से ही देखकर भूख दुगुनी हो जाती है। संगीत के अनेक सड़े-गले तत्त्वों को इसी तरह ऑर्केस्ट्रा में सजाकर वे भुक्खड़ों के सामने प्रस्तुत करते हैं। संयोग की बात कि इस तश्तरी में उबले अंडे की जो फाँक मुझे मिली, उसमें धोखा नहीं है। सिनेमाघर के बरामदे में खड़े-खड़े सामने तम्बोली की दुकान पर बजते हुए जिस गाने को मैं सुन रहा हूँ, उसमें सितार की कुछ ऐसी ही हैसियत है। ऑर्केस्ट्रा के सभी बाजों में केवल सितार ही सम्मानित होकर निकल पाता है।

सितार के सम्मान से मेरा जी हुलस उठा। मेरे सामने बिलकुल बाज़ारू ढंग का बाज़ार फैला था और मैटिनी से जो भीड़ निकलकर आ रही थी वह पिटी-पिटाई धोखा-खाई जान पड़ती थी। उनके हताश चेहरे देखकर भी अगले शो के लिए ललकती भीड़ का मोह-भंग नहीं हो रहा था। मैंने एक में मिली हुई, पर अलग-अलग ढंग की इन दोनों भीड़ों को देखकर भी उन्हें अनदेखा किया और विविध-भारती के पिछले गाने में सितार के स्वरों की याद करने लगा। इसके बाद सितार की यादों का क्रम नहीं टूटा। ऐसी यादें आईं जो दूसरों के वादन से और स्वयं मेरे वादन से जुड़ी थीं, जिसमें मैंने सूर्य-शशांक से बातें की थीं, ग्रह-उपग्रहों के यान पर चढ़कर अन्तरिक्ष में भ्रमण किया था। उन यादों के अन्त में—पर यह भी ग़लत है, क्योंकि उन यादों का अन्त न था, न है—मैं एक ऐसी घटना से जाकर टकराया जिसकी टक्कर से मेरी कल और मेरा दर्प आज तक धूल में लोट रहा है।

मैं इन दिनों जिस होटल में रुका हूँ, वहाँ मैं बिना सोचे-विचारे आ गया था। मुझे होटलों का अनुभव नहीं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो घर की देहरी लाँघते ही विश्व-नागरिक बन जाते हैं। सर्वथा नए एअर-पोर्ट, रेलवे-स्टेशन, होटल-मोटल—सभी उनके घर के आँगन या बेडरूम जैसे जान पड़ते हैं। पर मैं अपने देश में भी अजनबी जगहों से बचता हूँ। स्थानों

की ही बात नहीं, सच तो यह है कि व्यक्तियों में भी परिचितों तक के साथ मुझे प्रायः लगता रहता है कि मैं उन पर अपने को लाद रहा हूँ, और अपरिचित के लिए मेरे मन में सिर्फ़ आतंक रहता है। इसी से मैं आसानी से किसी को मित्र नहीं बना पाता और जब कोई मित्र बन जाता है तो उसके कन्धे पर अपने पूरे बोझ के साथ झूल जाता हूँ...।

उस दिन, जब इस शहर में मेरी ट्रेन दस बजे रात को पहुँचनेवाली थी और मैं मन-ही-मन किसी होटल की खोज कर रहा था, किसी सर्वथा नई जगह जाकर अपने दुस्साहस को परीक्षा में डालने का मेरा मन नहीं हुआ। पूरे शहर में यही एक होटल था जिसे मैं परिचित कह सकता था, और अच्छाई यह थी कि यह ज़्यादा परिचित नहीं था। आज से पाँच-छह साल पहले मैं कुछ घंटों के लिए एक बार इस होटल में गया था। पर ये घंटे ऐसे-वैसे नहीं, शाम के सात से दस बजे के बीच के थे। जाड़े के दिन थे और वहाँ जाने की तैयारी में मैंने शरीर के ऊपर एक ओवर-कोट और भीतर रम का एक पौवा डाल लिया था। वास्तव में एक कलाप्रेमी मित्र ने, जो मेरे और मेरी कला के प्रति प्रेम दिखाने का एकमात्र यही तरीका जानते थे कि मुझे शराब पिलाई जाए, उस दिन मुझे इस होटल में पीने ही के लिए बुलाया था और इस आशंका से कहीं मुझे वहाँ भद्रलोक-शैली में बूँद-बूँद करके न पीना पड़े, मैंने सावधानी बरतते हुए रम का एक पौवा पहले ही पेट में डाल लिया था। होटल में पहुँचकर मैंने देखा कि पीने की शैली मेरी रुचि के अनुकूल है, अतः वहाँ भी मैंने रुचिपूर्वक पिया और मित्र जब बोले कि संकोच न करो, तो मैंने संकोच नहीं किया। वास्तव में, हमें खिलाने-पिलानेवाले सज्जन मेरे मित्र के मित्र थे और वही इस होटल के मालिक थे। होटल और उसके मालिक के प्रति सद्भाव से तथा रम और व्हिस्की के मिश्रण से भरा हुआ जब मैं वापस लौटा तो अपरिचय का आतंक खोकर मैं 'वसुधा ही कुटुम्ब है' की दिशा में गिरता-पड़ता काफ़ी आगे बढ़ चुका था।

अस्तु, कई वर्ष पुरानी इस पियक्कड़ी का ही फल था कि इस शहर में वापस आने पर बिना अधिक विचार किए मैं इस होटल में रुकने के लिए चला आया। पर इस होटल के लिए मेरे मन में जो सद्भाव था उसके मोटे नितम्ब पर अगले दिन ही एक करारी ठोकर लगी। इसी ठोकर की याद में चिहुँककर मेरे मुँह से इस समय भरे बाज़ार में गाली निकली थी— हरामज़ादे!

होटल में मेरा प्रवेश साढ़े दस बजे रात को हुआ था। उस दिन रेलयात्रा की खिचखिच और रेलवे टाइम-टेबुल की ज़्यादती के कारण, जिसके अनुसार गाड़ी यहाँ दस बजे रात को पहुँचती थी, मैं पी नहीं पाया था और भूख के भ्रम को रेलवे कैटरिंग के अखाद्य खाद्यों से पहले ही झुठला चुका था। अतः होटल में पहुँचते ही, उसके मालिक के लिए कुछ देर इधर-उधर ताक-झाँक करके, मैं सोने के लिए बिस्तर में पहुँच गया। लेटते ही जान गया कि यह पहलेवाली जगह नहीं है।

लगा कि चौराहे पर लेटा हुआ हूँ। मेरे कमरे के सामने जो बरामदा है उसमें आने-जानेवालों के पाँव की आहट रात में कभी थमी हो तो इसका मुझे पता नहीं। गन्दे-गन्दे छोकरों की चीख-पुकार (जब कोई एक कोने से पुकारता था, "वेटर!" तो कोई दूसरे कोने से चीख़ता था, "आया जी!"), दो तगड़े पंजाबियों की प्रफुल्ल स्वर-लहरी में गूँजते ग्रामगीत, लगभग हर कमरे में ट्रांजिस्टरों पर बजनेवाले फ़िल्मी गाने, और मेरे दरवाज़े के आगे बार-बार

घटती-बढ़ती पगचाप—इन सबसे सहमी हुई नींद की चिड़िया पता नहीं किस अँधेरे पेड़ पर छिपी रही, बहुत देर तक नहीं आई।

बरामदे के बाद एक छोटा-सा आँगन है, उसके पार ठीक ऐसा ही बरामदा, ऐसे ही कमरे। मैं खिड़की से देखता रहा; उधर के कमरे में कोई एक बहुत मोटा सेठ दरवाज़े को बेहिचक खुला छोड़कर शराब पी रहा है, उसके साथ कुछ और लोग भी हैं। हर मिनट बाद वह चीख़ता है, 'वेटर! पानी', 'वेटर! बरफ़!', 'वेटर! अंडे के पकौड़े!' या सिर्फ़ 'वेटर?' 'वेटर!' पीता मैं भी हूँ इस तरह वेटर की गोद में बैठकर नहीं। ऊबकर मैंने मन-ही-मन कहा कि सेठ, वेटर की जगह तुम इसी प्रकार मेरा यानी नारायण का नाम लेकर पुकारो तो पानी, बर्फ़, पकौड़े आदि तुम्हें भले ही न मिलें, मोक्ष निश्चय ही मिल जाएगा, बिना किसी प्रयास के तुम कलजुगी अजामिल हो जाओगे।

नींद आ जाने पर भी मैं सामने के कमरे से आनेवाले ठहाकों और बार-बार खिसकाए जानेवाले फ़र्नीचर की चिर्र-पिर्र से निश्चिन्त नहीं हो सका। उसके बाद सन्नाटे का एक सूक्ष्म अन्तराल, फिर कुछ महिलाओं की नकबैठी हँसी, फिर उन्हीं के द्वारा गला चाँपकर गाई गई गज़लों का पाठ, जिनके अशुद्ध उच्चारण ने मुझ बंगाली तक को रुला दिया।

सवेरे चार बजे मेरी नींद खुल गई। चार बजे उठकर सितार का अभ्यास करने की मेरी आदत है और अपनी सभी आदतों में एक यही ऐसी है जिससे मुझे संकोच या असमंजस नहीं होता। इस होटल में मेरी इसी आदत की क़ब्र खोदी गई है।

सड़क पर इक्का-दुक्का सवारियों की आवाजें थीं, पर होटल में अब भी सन्नाटा था। इतना सन्नाटा था कि सितार के तारों को छूते हुए झिझक-सी जान पड़ी, पर यह झिझक उस गोताख़ोर की थी जो केवल एक बार पानी छूकर देखता है कि यह कितना ठंडा है। उसके बाद मेरी उँगलियों की चपलता ने मुझे स्वयं विचलित कर दिया। उसी के साथ भैरवी के स्वरों से सारा कमरा, और मेरा सारा अन्तर्जगत झनझना उठा।

मेरे प्रिय बन्धु यदि कभी यह चिट्ठा पढ़ेंगे तो कदाचित् उनको मेरा यह व्यवहार अटपटा लगे। वे सोच सकते हैं कि वही नारायण बनर्जी, जो अपने विषय में बड़ी प्रगल्भता से बोलता है, जो व्यंग्य, काकु, वक्रोक्ति, अन्योक्ति आदि के प्रति इतना लगाव दिखाता है, वही भैरवी के नाम से इतना श्रद्धा-विगलित क्यों हो उठा है? ऐसा क्यों है कि भैरवी के स्वरों की अवतारणा में लीन उसका माथा जब सितार पर झुकता है तो किसी असम्भव वरदान की प्रतीक्षा में झुका ही रहता है।

कारण यह है : भैरवी मेरे लिए समर्पण की रागिनी है। अत्यन्त प्रचलित और लोकप्रिय होते हुए भी दीर्घकाल तक इसका प्रचलन और लोकप्रियता सुरक्षित है। सच्चे प्रेमी जैसे अपनी प्रेयसी के निरन्तर सम्पर्क से नहीं ऊबते, जिस प्रकार सम्पर्क का प्रत्येक क्षण उनके अनुराग की नव्यता को बढ़ाता है, वैसे ही भैरवी को मैं जितना ही सुनता और बजाता हूँ, उसके प्रति मेरी आसक्ति उतनी ही प्रगाढ़ होती जाती है। मुझे लगता है कि इस रागिनी के सम्पर्क से मैं ऊपर उठ आया हूँ। अपने असामान्य रूप और वैभव से उसने मुझे आच्छन्न कर लिया है। उसके सभी स्वर कोमल हैं, पर उसका बन्धन कठोर है। उसने मुझे अपनी करुणा का आधार बनाया है, अपने इस ऐश्वर्य पर मुझे विश्वास नहीं हो पाता। तभी मैं उसे एक-से-एक दुरूह स्वर-सन्निवेश के तन्तुओं से जकड़ता हूँ, तोड़ों की नई-नई उद्भावना से

अपने ऐश्वर्य को स्थायी बनाना चाहता हूँ।

पर जो भी चाहता हूँ, उसका पाना इतना सहज नहीं है। दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी और सितार पर मेरी उँगलियाँ रुक गईं। बाहर से किसी ने कहा, "ज़रा मौक़ा देखकर चलिए, भाई जान!"

सच तो यह है कि साफ़-साफ़ सुनकर भी मैं कुछ समझा नहीं, निश्शब्द बैठा रहा। कोई मेरे कमरे के पास से हटकर आँगन पार कर रहा था। सितार की मिटती हुई झंकार के सामने यह आवाज़ अश्लीलता-सी जान पड़ी जो कुछ पल वातावरण में पलती रही। पर इस समय मैं वातावरण का दास नहीं, उसका स्रष्टा था। मेरी उँगलियों ने सितार के तारों को दुबारा छुआ।

पर इस बार भैरवी नहीं। मैं विश्वासी प्रकृति का हूँ और कोई चाहे तो मुझे अन्धविश्वासी भी कह सकता है। वैसे स्वयं मेरा इसमें विश्वास नहीं कि किसी के अतार्किक विश्वास को अन्धविश्वास कहूँ। जो भी हो, मेरे विश्वास ने कहा, "अब भैरवी नहीं, नारायण। उस पर आज रोक लग गई है। कुछ और बजाओ, वह शायद बिना रोक-टोक के निकल जाए।" पहले झिझककर, फिर सहज होकर मैंने ललित के स्वर निकालने शुरू किए।

प्राचीन संगीतकारों ने रागों के जो चित्र दिए हैं, उन पर गद्‌गद् होकर हम भले ही बकरे की तरह सिर हिलाते रहें, पर मेरी दृष्टि में ये चित्र हमेशा उस राग की भावना के अनुकूल नहीं बैठते। दृष्टान्त के रूप में राग ललित ही को क्यों न लें! शास्त्रकार ललित को एक विलासी नायक के रूप में देखते हैं जिसके ओष्ठाधार ताम्बूल-राग से रंजित हैं, जिसके मस्तक पर पीत तिलक है, आदि-आदि। इसके विपरीत, मैं जब ललित सुनता या बजाता हूँ तो मुझ जैसे पियक्कड़ तक की आन्तरिक विलासिता की केंचुल गिर जाती है, साफ़-सुथरे मन के सभी अवरोध खुलने लगते हैं। इस समय भी ऐसा ही हुआ। ललित के स्वर में उतराते हुए मुझे आस-पास विलास की क्षीणतम छाया तक नहीं दिखी। स्वरों की गहनता में बार-बार कोई असुलभ स्वर-सन्घात खोजते हुए मैं कितनी देर एक सान्द्र अनुभूति में डूबा रहा, इसका मुझे पता नहीं। सारा विलास-जगत मेरे लिए प्रसंगहीन हो गया। मीड़ों की लहरों पर चढ़कर, तार सप्तक के स्वरों को छूते ही, मैंने निष्कृति की साँस ली। लगा, अनेक अन्तराल पार करके मैं अब अवधूतों के निस्संग लोक में प्रवेश कर रहा हूँ।

पता नहीं कौन कितनी देर से खिड़की का पर्दा उठाकर झाँक रहा था। अब उसने दरवाज़े को थपथपाना भी शुरू किया। सितार को पलंग के सहारे टेककर मैंने दरवाज़ा खोला और खोलते ही सुना, "आस-पास शरीफ़ लोग रुके हैं। इतने सवेरे आपको शोरगुल नहीं करना चाहिए। क्या समझे?"

बिना बनियाइन के कुर्ते, धारीधार पायजामे, पट्टी में बँधी दाढ़ी और खुले जटा-जूट वाले एक सिक्ख नौजवान ने कमरे में प्रवेश किया। यह कीरतसिंह था, कल रजिस्टर पर मेरा नाम लिखते हुए इसने अपने को होटल का मैनेजर घोषित किया था। मैं समझ गया कि इससे मैं अपना बचाव नहीं कर पाऊँगा। सरदार ने कहा, "सितार बुरी चीज़ नहीं है, पर सवेरे-सवेरे उसे यहाँ बजाने की इजाज़त नहीं है। क्या समझे?"

आज से पाँच-छह साल पहले जब मैं यहाँ आया था तब नरसिंह भैया ने, होटल के मालिक की हैसियत से, मुझे अपने मित्र के मित्र का सम्मान दिया था। मैंने कहा, "मैं तुमसे

नहीं, तुम्हारे मालिक से बात करना चाहता हूँ। नरसिंह भैया मेरे दोस्त हैं।"

"कौन नरसिंह भैया? एन.पी. आनन्द? अजी उन्होंने तो यह होटल न जाने कब का बेच दिया! अब यह होटल मोलाना अनवर हुसैन का है। क्या समझे?"

दो बातें समझा : एक तो यह कि होटल का व्यवसाय राष्ट्रीय एकीकरण का अच्छा साधन है और तभी मौलाना अनवर हुसैन का होटल-मैनेजर सरदार कीरतसिंह है।

दूसरी बात यह समझा कि सितार को कुछ दिन के लिए मकड़ियों और काक्रोचों के हवाले करना होगा। तभी, आज शाम में सिनेमाघर के सामने देर तक टहल सकता हूँ, आधी रात तक मनमाना पी सकता हूँ, सवेरे आठ बजे तक सो सकता हूँ। पुरानी आदत से लाचार होकर अगर चार बजे ही नींद खुल जाए और उस वक़्त नशे के उतार में हाथ-पाँव ढीले न हों, तो रजिस्टर लेकर पिछले दिन का यह चिट्ठा भी लिख सकता हूँ जो भविष्य में 'एक महान संगीतज्ञ की आत्मकथा' या 'कला और जीवन के मेरे प्रयोग' लिखने के काम आएगा। सरदार कीरतसिंह का कमाल देखिए कि एक ही घुड़की में उन्होंने प्रख्यात सितार-वादक श्री नारायण बनर्जी को लेखक बना दिया है।

○ ○ ○

26 अक्तूबर, 1947-शनिवार

नारायण

अफ़सर के कमरे से निकलकर मैं मन-ही-मन उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। नेता के चले जाने के बाद मुझे दस मिनट तक रुकना पड़ा था और ईक्वैडोर का भूगोल हमारे सम्मेलन का मुख्य विषय बन गया था। उसका अपच भुलाकर मैंने मन में अफ़सर-नेता-कांड को दोहराया। क्या चुस्ती थी मेरे शेर में! जिस दाँव से उसने नेता का टेंटुआ दबाकर उससे म्याँव निकलवाई और जिस तरह नेता की म्याँव-म्याँव उसके जाते-जाते 'नमस्कार, नारायणजी' में बदल गई, यह मँजे हुए उस्तादों का ही नाम था। अजब नहीं कि नेता के ख़िलाफ़ शिकायत भी हमारे चाणक्य महाराज ने ही भिजवाई हो और उसकी जाँच का काम अपने लिए प्राप्त कर लिया हो। सच तो यह कि मेरे मन में अफ़सर के लिए एक नए सम्मान का उदय हुआ। ऐसे-ऐसे दाँवों और पैंतरों का विशेषज्ञ होते हुए भी उसने आज तक मेरे ऊपर सचमुच का कोई दाँव नहीं लगाया और मेरे सामने अपने तीखे नाखून और दाँत छिपाकर कछुए की तरह बैठा रहा, यह उसका अनुग्रह ही तो है। वह यह भी कर सकता है कि जब मैं उससे मकान के लिए निवेदन करूँ तब वह मेरी ओर एक कागज़ बढ़ाकर कहे कि इसमें नारायण जी आपके ख़िलाफ़ सिम्मी नामक लड़की के साथ दुराचरण की शिकायत है और बताइए आपको क्या कहना है? तब मैं सिवाय इसके कि नेता की तरह म्याँव-म्याँव करने लगूँ, और क्या कर सकूँगा? मुझे विश्वास होने लगा कि हो न हो, यह अफ़सर सचमुच ही मुझे चाहता है। यदि वह मकान के मामले में मेरी सहायता नहीं कर पाता तो इसका यही कारण होगा कि उसके जन्म के समय तक दूसरों की सहायता करने की प्रथा चली न होगी।

पर वहाँ से पार्क की ओर जाते हुए अफ़सर के नाम पर दौड़ता हुआ मेरा उत्साह लँगड़ाने लगा और पार्क तक आते-आते धम से बैठ गया। महँगाई भत्ते की एक नई किस्त देने का फ़ैसला हुआ है, इसे सुनकर नेता ने कहा था कि इससे बारीन हालदार की नेतागिरी का कबाड़ा निकल गया। इससे मैं अफ़सर के कमरे में ही आशंकित हो गया था और पार्क

तक आते-आते मेरी आशंका निश्चित भय में परिवर्तित हो गई। इन शकुनि, जयद्रथ, दुश्शासनों ने मिलकर बारीन-दा के ख़िलाफ़ कोई क्रूर चाल चली है, इस दुश्चिन्ता के कीड़े जो अफ़सर के सामने उसकी सौम्यता की हरियाली में छिपे थे अब मेरे मनस्थल पर इधर-से-उधर रेंगने लगे।

पार्क वीरान था। फाटक पर कुछ लोग इधर-से-उधर टहल रहे थे, पर उनकी चाल दूर से ही लक्ष्यहीन लगती थी। चहल-पहल केवल गांधी-प्रतिमा के पास थी और वहाँ कैसे लोग होंगे, यह मुझे नए सिरे से जानने की ज़रूरत न थी। एक मौलाना, जिन्हें मैं नगर-निगम के कर्मचारियों में पहचानता था और जो हमारे बीच अपनी उर्दू और सामयिक कविताओं के लिए विख्यात थे, मेरी ओर आ रहे थे। मैंने पूछा, "मीटिंग नहीं हुई न?"

"नहीं, अब मीटिंग न होगी।"

प्रश्न और उत्तर एक में मिलाते हुए मैंने कहा, "हमारी डी.ए. वाली माँग तो मान ली गई?"

"हाँ मान ली गई; पर खुदा दरोग़गोई ने कराए, यक़ीनन वह माँग हमारी न थी।"

मौलाना ने इसी के साथ एक लम्बी बात कही। वे अपने चुचके गालों और दन्तहीन मुँह से बड़ी राजसी उर्दू निकाल रहे थे जो मैंने दिल्ली में भी नहीं सुनी थी। वे अफ़सर से नाराज़ थे और उनकी भाषा की तथा अलंकारपूर्ण शैली की बाधाएँ पार करके जब मैं उनकी बात कुछ समझ पाया तो प्रकट हुआ कि वे अपनी ही नहीं, मेरी नाराज़गी को भी व्यक्त कर रहे हैं। अफ़सर के लिए कुछ कठिन कठोर शब्दों का प्रयोग करके, जो मेरी समझ में नहीं आए, उन्होंने कहा, "कल रात वह हरामुद्दहर बारह बजे तक अपने गुर्गों के साथ बैठा रहा और दग़ाबाज़ी और फ़रेब के मंसूबे बनाता रहा और आज दोपहर बाद उसने ऐलान करा दिया कि उसने यूनियन के नुमाइन्दों के साथ कई घंटे मीटिंग की है। आपको इल्म होगा कि यह यूनियन कौन है और उसके बदगुहर नुमाइन्दे कौन हैं।"

"यानी उसकी बात बारीन-दा से हुई ही नहीं? समझौता उसके पिट्ठुओं ने किया है?"

"महज़ समझौता नहीं साहब, हरामज़ादों ने आज लिखकर दे दिया है कि महँगाई भत्ते की इस किस्त के एवज़ में निगम के मुलाज़मीन आइन्दा दो साल तक किसी क़िस्म की तहरीक न करेंगे।"

कर्मचारियों के आन्दोलनों में मेरी सीधी दिलचस्पी नहीं है। मेरी सारी दिलचस्पी बारीन-दा में है और यह उन्हीं के सत्संग का फल है कि वे सारे आन्दोलन, जो अब तक मेरी चेतना से दूर थे, अब मेरे अन्तरंग बनते जा रहे हैं और नारों की आवाज़ अब सिर्फ़ मेरे कानों से नहीं, दिमाग से भी टकराने लगी है। बारीन-दा के साथ हुए विश्वासघात पर मुझे इतना क्षोभ हुआ कि मैं मौलाना से बात न कर सका। मौलाना कुछ पल खड़े होकर मुझे देखते रहे, फिर शायद मेरा नाम भी ग़द्दारों की सूची में अंकित करके विक्षुब्ध हैदराबादी उर्दू में आसमान को सम्बोधित करते हुए चले गए और उनके दल में होते हुए भी मैं उनके साथ नहीं जा पाया।

अब शाम के पाँच बज गए थे। यही वह क्षण है जब मेरे मन में आजकल संग्राम शुरू होते हैं। केवल देवासुर-संग्राम नहीं, इन संग्रामों में देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरागण-सभी एक-दूसरे पर अपने-अपने पारस्परिक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने लगते हैं।

अन्तिम विजय प्रायः यक्षों के राजा कुबेर की होती है जिनके हाथ में सदैव मदिरा का पात्र रहता है। यक्षराज के विजय-ध्वनि करते ही या तो मैं किसी मदिरालय में पहुँच जाता हूँ जिसे वकीलों और शराबियों की भाषा में बार कहते हैं, या अपने कमरे में बेंत की टोकरी टटोलने लगता हूँ। कभी-कभी यक्षराज गन्धर्वों को अपने साथ मिला लेते हैं। तब मैं रम पीकर संगीत-साधना के लिए लालायित हो उठता हूँ। कभी अप्सराएँ असुरों की सहायता से देवों के विरुद्ध विजयश्री प्राप्त कर लेती हैं। तब मैं श्यामा और सिम्मी की ओर भागता हूँ। कभी-कभी एक सुदर्शन-चक्र प्रकट होता है जिसे देखकर सारे विपक्षी ध्वस्त हो जाते हैं और केवल स्वामी शान्तानन्द जी महाराज का आश्रम रह जाता है। जो भी हो, इस समय मैं थका हुआ था और कोई भी संग्राम झेलने से कतरा रहा था। अचानक मुझे मीनाक्षी की छाया याद आने लगी थीं और डर था कि इन यादों का अन्त कहीं नीलमणि बनर्जी की अमिट छाप से न हो, क्योंकि इतनी पुरानी यादों के घेरे को तोड़ने का काम कुबेर का सुरा-पात्र ही कर सकता है, पर उसमें यह खराबी है कि वह मुझे आधी रात तक निष्क्रिय बनाए रहेगा। फिर कल सवेरे से आत्मपीड़न, निष्क्रियता और थकान का दौर शुरू होगा जो दोपहर के बाद तक बड़े-बड़े उदात्त निर्णयों की मेहराबों से गुज़रकर शाम आते-आते मुझे उसी बिन्दु पर खड़ा कर देगा जहाँ मैं इस समय खड़ा हुआ हूँ।

मैं रेडियो स्टेशन की ओर चल पड़ा। एक पल के लिए कोशिश करनी पड़ी कि मन में यक्षराज कुबेर अपने आपानक-पात्र के साथ जो धमाचौकड़ी कर रहे हैं उससे उन्हें रोकूँ। कोशिश की और सफल भी हुआ। रेडियो स्टेशन की ओर चलने पर सब-कुछ आसान हो गया। फ़िल्मी गाने, लॉटरी-फ़रोशों के व्याख्यान, भिखारियों की रिरियाहट—इन सबको पीछे छोड़कर मैं उस सड़क पर आ गया जहाँ भीड़ और शोर घट गया था। रेडियो स्टेशन जैसे-जैसे नज़दीक आ रहा था, मुझे लग रहा था कि बहुत दिन बाद मैं अपने परिचित शहर में लौट रहा हूँ। मैंने जो हिन्दी फ़िल्में देखी हैं उनके आधार पर एक बात निश्चित है। यदि मैं किसी फ़िल्म का हीरो होता तो संगीत-निर्देशक निश्चय ही इस समय मेरे क़दमों की लय से लय मिलाकर सितार की गति ज़ोर-ज़ोर से बजवाता। मेरी मनोदशा को प्रतीक रूप से व्यक्त करने की यह निकृष्ट पद्धति होती पर तथ्य के रूप में यह बिल्कुल सही होता, क्योंकि रेडियो स्टेशन से जुड़ी विचार-संगति के कारण मैं अब सचमुच ही सितार की एक गत सुनने लगा था। मुझे उस काल्पनिक संगीत का राग भी याद है। वह मधुवन्ती था और मैं जोड़ में बराबर लय की गति बढ़ाता जा रहा था। मुझे लग रहा था कि कहीं अँधेरे जंगल से, सारे टकरावों और तनावों के शिलाखंडों के किनारे से, या उनसे नीचे से रिसकर टेढ़ी-मेढ़ी राह बनाते हुए संगीत की अजस्र धारा मुझ तक पहुँच रही है, मुझे गीला कर रही है। रेडियो स्टेशन की ओर आने के लिए मैंने अपने को धन्यवाद दिया।

इस बार शहर में आने के बाद आज मैं पहली बार इधर आया था। अब तक इधर क्यों नहीं आ सका, इसे समझना और समझाना दोनों मुश्किल हैं। तभी संगीत के प्रोड्यूसर इरशाद अहमद ने जब उपालम्भ के साथ मेरा स्वागत किया जो मज़ाक के सिवाय मेरे पास कोई अच्छा जवाब नहीं निकला। उसने कहा, "सुनते हैं एक कोई नारायण बनर्जी साहब कई महीने से इस शहर में तशरीफ़ रखते हैं।" और उसके तुरन्त बाद, "रहते कहाँ हो मियाँ?" इसका जवाब मैं कई जगह इसी तरह दे चुका था, बोला, "जहन्नुम में।"

तब वार्तालाप कुछ इस प्रकार से हुआ—

"जहन्नुम में तो भई हम लोग रहते हैं। तुम भी वहीं होते तो अब तक कहीं-न-कहीं जरूर मिलते।"

"तभी तो मिला हूँ।"

"चार महीने बाद।"

"फिर भी मिलने मैं आया, तुम नहीं।"

"हमें क्या पता कि तुम कहाँ रहते हो।"

"तब तुम जहन्नुम में नहीं रहते।"

"बड़ी अच्छी उर्दू बोल रहे हो। पहले बोलते थे तो बंगालीपन झलक आता था। अब ग़ायब हो गया है।"

"दिल्ली जाकर सब लोग बारह साल भाड़ ही नहीं झोंकते।"

"पर वापस आकर दोस्तों को भाड़ में झोंक देते हैं। खैर, तुम्हारे दफ़्तर के पते से तुम्हारे लिए प्रोग्राम का एक कांट्रैक्ट भेजा है। झोंक में वापस न कर देना।"

"कब भेजा?"

"कल।"

"यानी अखबार में मेरे प्रोग्राम की बाबत पढ़ने के बाद। कमाल है!"

"कमाल तो है ही, क्योंकि अब दोस्तों की ख़बर सिर्फ़ अखबार से मिलती है। बहरहाल, चलो तुम्हें चाय पिलाई जाए। मैं दफ़्तर से उठ रहा हूँ।"

मैंने कहा, "तुम जाओ, मुझे अपने लायब्रेरियन के पास छोड़ दो। मैं कुछ टेप सुनकर जाऊँगा।"

"और कभी सुन लेना। तुम्हें लगता नहीं कि आज देर हो गई है?"

"आज सुनूँगा।"

"अब इस वक़्त लोगों को परेशान मत करो। दस बजे रेडियो पर देवव्रत चौधरी का सितार सुन लेना।"

"ग़रीब आदमी हूँ। मेरे पास रेडियो नहीं है। एक ट्रांज़िस्टर है जो दिल्ली में बच्चों के पास है।"

लायब्रेरी तक आते-आते इरशाद अपनी पिछले महीने की उपलब्धियों को प्रोड्यूसरों की उल्लासपूर्ण भ्रान्ति के साथ नाटकीय और विस्तारपूर्ण शैली में सुनाता रहा। मैं सुनता रहा, उसके उत्साह के आगे अपनी पिछले दिनों की उत्साहहीनता से संकुचित होता रहा। उसने बताया कि विलायत ख़ाँ का एक टेप हाल ही में रिकॉर्ड हुआ है, उसमें एक नायाब मोती भी है-क़ॉफ़ी की एक ठुमरी, बहुत पुरानी बन्दिश है। किसी ज़माने में विलायत ख़ाँ का स्वतःनियुक्त निःशुल्क जन-सम्पर्क-अधिकारी बन चुकने पर भी मैंने यह टेप नामंजूर कर दिया, ऐतराज़ किया कि स्टेज पर वे बीच-बीच में गाते क्यों हैं, क्या वादन का मीडियम अपने-आप में काफ़ी नहीं है? बलराम पाठक का भी टेप है, बहुत अच्छा है। ज़रूर अच्छा होगा, कभी सुनूँगा। तुमने अब्दुल हलीम जाफ़र ख़ाँ की हंस-ध्वनि सुनी है? नहीं सुनी इरशाद भाई, और न इस वक़्त सुनूँगा। इतने सही ढर्रेवाला सितार इस वक़्त सुनने का मूड नहीं है। तब पंडित रविशंकर का एक टेप है, न सुना है तो सुन लो-राग हेमन्तवाला। ना भाई, इस वक़्त

पंडितजी के सामने जाने की मेरी हिम्मत नहीं है, शाम के वक़्त नहीं। वे इतने बड़े हैं कि उनकी एक-एक मीड़ पर पाउडर और लिपस्टिक पुती जान पड़ती है, उसके लिए कम-से-कम सौ पॉवरवाला बल्ब होना चाहिए। क्या बक रहे हो? आख़िर सुनना क्या चाहते हो?

इसके जवाब में कहता हूँ, "एक कोई नारायण बनर्जी हैं। उनका शायद कोई पुराना टेप पड़ा हो।"

लगभग पाँच साल पहले जब मैं यहाँ आया करता था, तब का लायब्रेरियन अब तक बदल गया था। उसकी जगह एक लड़की बैठी थी। उसने पूछा, "किसका?"

"नारायण बनर्जी का टेप। कई साल पहले उन्होंने यहाँ विहाग बजाया था। शायद हाल में उसे फिर से ब्राडकास्ट किया गया है।"

इरशाद ने लड़की से कहा, "चित्रा, तुम इन्हें नहीं जानतीं? ये खुद नारायण बनर्जी हैं। कभी मेरे दोस्त होते थे।"

उसने आत्मीयता से सर हिलाया। वह बोल कम रही है, पर आसानी से मुस्कुराती थी। मुझसे बोली, "अभी सुनेंगे?" अपनी क़रीने से बनाई हुई भौंहें उसने घड़ी की ओर उठाईं, साढ़े पाँच बज रहे थे। इरशाद ने चित्रा का कन्धा थपथपाया, मुझसे कहा, "मैं जा रहा हूँ। चित्रा को ज़्यादा परेशान न करना। भूलना नहीं, तुम्हारी तरह यह निठल्ली नहीं है। इसे भी घर जाना है।"

चित्रा मेरी ओर पीठ करके अलमारी में टेप देखती रही, फिर मशीन ठीक-ठीक करती रही। एक क्षण ऐसा आया जब कुर्सी पर ढीली देह के साथ बैठकर मुझे लगा, मेरे मन से भावों की एक-एक बूँद खींच ली गई है, मैं निर्विकारता के शून्य में हूँ। पर यह भ्रम था। टेपरिकॉर्डर पर लगा हुआ विहाग बहुत धीरे-धीरे एक जादू-भरे, धुँध-भरे अतीत को मिज़राब की उँगली से जगाने लगा था। आलाप में खुलते हुए स्वरों के विस्तार के साथ बार-बार अपने में कुछ अप्रत्याशित पाने की मेरी उत्कंठा का भी विस्तार होता गया। आधे घंटे तक मैं अपने ही हाथों बनाए और तिरस्कृत किए गए लोक में भूला रहा, अपने ही हाथों तोड़ी गई आत्म-सम्भावनाओं की चोट से टूटता रहा। आलाप समाप्त होने पर गत में जाते हुए, हर सम पर बार-बार अपने से कहता रहा, "यह मैं हूँ।" सब मिलाकर, क्या सोचता रहा और क्या अनुभव करता रहा—कहना मुश्किल है। इतना स्पष्ट है कि टेप समाप्त हो जाने पर मैंने अपनी आँखों का गीलापन चित्रा से छिपाना चाहा था और उसने धीरे से मेरा कन्धा छूकर इशारा किया था कि टेप समाप्त हो चुका है।

○ ○ ○

14 दिसम्बर, 1974—शनिवार

नारायण

उस दिन जब प्रिंस होटल की लॉबी में अफ़सर ने कहा था, "तुम्हें मकान मिल गया है", तब मेरी चेतना पथराई हुई थी। उस पर ये शब्द कुछ इस तरह गिरे थे जैसे लगातार वर्षा से गीली ज़मीन पर बाल्टी की कुछ बूँदें गिरी हों। पर दूसरे दिन से ही बधाइयों का ताँता लग गया और तब मुझे मालूम हुआ कि बड़े-बड़े सम्भ्रान्त जन इस नगर में बिना मकान के घूम रहे हैं। दफ़्तर का मेरा प्रत्येक साथी मुझे बधाई देता, यह सुनाना न भूलता कि मुझे अपनी हैसियत से ऊपरवाली श्रेणी का मकान दिया गया है और फिर किसी बड़े अफ़सर या

अफ़सरपरस्त का नाम बता देता जो महीनों से बिना मकान के घूम रहा था और इस नए फ़्लैट को पाने की कोशिश कर रहा था। बार-बार मुझे यह लोकप्रिय मुहावरा सुनाया जाता कि मैंने बैल को दुहकर दूध निकाला है। इस प्रसंग में अफ़सर के बारे में प्रचलित सैकड़ों कहानियाँ मेरे लिए फिर से प्रचलित की गईं और अटकल लगाए गए कि इस आदमी ने, जिसके सर में ठोंकी गई कील भी निकलते-निकलते स्क्रू बन जाती है, बिना किसी पेंच के यह मकान मुझे दे कैसे दिया! लोग मेरी सफलता पर चकित हैं! मैं इस सबसे कभी प्रसन्न होता हूँ, कभी लज्जित, क्योंकि इस सामूहिक आश्चर्य के पीछे लोगों के लिए मैं निम्नकोटि का ही बना हुआ हूँ, वे ऐसा दिखाते हैं जैसे किसी सियार ने चीते को पीट लिया हो।

आज मैं इरशाद और चित्रा को प्रिंस होटल में लेकर आया हूँ। प्रकटतः मकान मिलने की खुशी में मैं उन्हें चाय पिला रहा हूँ, पर प्रिंस होटल में ही उन्हें चाय पिलाने का मेरा एक निजी कारण भी है। दिन की अन्तिम धूप का आनन्द लेने के लिए हम होटल के पश्चिमी बरामदे में बैठे हैं। होटल की लॉबी में जाते ही हम जैसे फटीचर दा-दिर-दा-रा लोगों को वहाँ की भव्यता खोपड़ी पर हथौड़े के धमाके जैसी लगती है। इस बरामदे में ऐसा नहीं है, फिर भी यहाँ की अभिजात शालीनता मुझे आतंकित करती है, बार-बार याद दिलाती है कि मेरी जेब में सेठ के दिए हुए रुपए न होते तो मैं यहाँ आने की हिम्मत न करता। बरामदा खूब लम्बा-चौड़ा है, सफ़ेद पेंटवाली बेंत की आरामदेह कुर्सियाँ और उनके अनुकूल सज्जावाली चाय की मेज़ें हैं। दीवारों पर हलका हरा रंग है और फ़र्श पर उसी रंग का क़ालीन है जिसके साथ बाहर लॉन को देखने पर उसी क़ालीन के विस्तार का भ्रम होता है; बरामदे के ऊँचे-ऊँचे खम्भों पर लहरें छितरी हुई हैं; लॉन की ओर देखने पर जाड़े के फूलों का विविधतापूर्ण वैभव दिखाई देता है। यहाँ की शोभा मेरी खोपड़ी पर हथौड़ा नहीं चलाती, पर मुझे बार-बार लगता है कि ज़रा-सी छूट मिलते ही होटलवाले सबसे पहले मुझी को यहाँ से निकालने की सोचेंगे। मैं बार-बार गांधी जी की याद करता हूँ कि सिर्फ़ एक धोती पहनकर और चादर ओढ़कर वे बकिंघम पैलेस में सम्राट पंचम जार्ज से मिलने गए थे। अपने आत्म-विश्वास को उकसाने के लिए मैं गांधीवादी बन जाता हूँ, कभी धीरे से उस जेब को छूता हूँ जिसमें सेठ के दिए हुए रुपयों में से लगभग तीन सौ अभी पड़े हुए हैं।

चित्रा प्यालों में चाय डाल रही है, इरशाद अपने स्टेशन डाइरेक्टर की कुंठा का विस्तार से विवरण दे रहा है, पर मेरी उसमें दिलचस्पी नहीं है, उस कथा का सारांश वह चार-पाँच दिन हुए मुझे पहले ही फ़ोन पर बता चुका है। उसने भी मुझे बधाई देने के लिए फ़ोन किया था। हमारी बात कुछ इस तरह हुई थी।

"क्या हालचाल हैं भाई? चित्रा से मिलने कब आ रहे हो?"

"तुम्हारी शादी के बाद।"

"तो तुम्हें पता चल गया?"

"मुझे क्या पता चलना है! पता तो तुम्हें चलेगा, ज़रा शादी हो जाने दो।"

"लगता है मकान मिल जाते ही इंसान की हाज़िरजवाबी बढ़ जाती है।"

"तो तुम्हें भी पता चल गया?"

"तभी तो मुबारकबाद पेश कर रहा हूँ। सेलिब्रेट कब कर रहे हो?"

"सेलिब्रेट क्या करना है? कोई मेरे बाप का मकान है? किराया देना है और

रहना है।"

"बहुत खूब! पर मैं खुद सेलिब्रेट करना चाहता हूँ, जिस दिन चाहो क्वालिटी में चलकर चाय पिला सकता हूँ।"

"शादी करके इतना सस्ते में छूटना चाहते हो?"

"मकान की बात हो रही है, भाई; यह मकान तुम्हें मिलने पर मुझको तुमसे भी ज़्यादा खुशी हुई है!"

"वह तो देख ही रहा हूँ। दोस्त हो तो ऐसा हो।"

"पर इसकी वजह कुछ और है। उसे भी समझ लो। हमारा जो स्टेशन डाइरेक्टर है न, उसी ने बताया कि यह फ़्लैट तुम्हें मिल गया है। ऐस्पानगर का सी फ़ाइव नम्बरवाला ही है न? अजी कलाकार जी, आपको पता भी है कि आपको क्या मिला है! आपने पहले हाथ ही में जैकपॉट मार दिया है। तो सुनो, हमारा एस.डी. इसी फ़्लैट के लिए दो महीने से सिटी ऐडमिनिस्ट्रेटर की खुशामद कर रहा था और वह पट्टा वादा भी करता जाता था; यही कहता रहता था कि वह ब्लॉक पूरा हो जाने दीजिए, आपको तो मिलेगा ही। अब एस.डी. बाल नोच रहा है, बार-बार अपनी तनख्वाह के आँकड़े देता है और कहता है कि एक क्लास-वन-अफ़सर के मुक़ाबले एक नॉन-गज़ेटिड आदमी को यह फ़्लैट कैसे दिया जा सकता है! आज वह कह रहा था कि इसी महीने उसे कोई अच्छा फ़्लैट न दिया गया तो वह अपने तबादले की दरख़ास्त दे देगा। अब बताओ मियाँ, इस मरदूद के जाने की खुशी में अभी से सेलिब्रेट कर लिया जाए तो कैसा रहेगा?"

स्टेशन डाइरेक्टर की कुंठा की कहानी अब वह ज़्यादा विस्तार से छोटे-छोटे पैराग्राफों में सुना रहा है, चित्रा भी उसमें कुछ पैराग्राफ़ जोड़ती जा रही है; फिर रुककर मुझसे पूछती है, "आप अभी गए नहीं उस मकान में?"

"जाऊँगा ही।"

"जल्दी से क़ब्जा कर लीजिए। हमारा एस.डी. इतना आसानी से पीछा नहीं छोड़ता...।"

इरशाद कहता है, "चित्रा का मुझसे इंगेजमेंट न हो गया होता तो अब तक इसका पीछा कर रहा होता; छह महीने से इस बेचारी का बैठना मुश्किल किए था...।"

"मज़ाक नहीं," चित्रा मुझे कहती है, "क़ब्ज़ा आज या कल में ले लीजिए, वरना मिला हुआ मकान हाथ से निकल जाएगा। एस.डी. अब भी इधर-उधर टेलीफ़ोन करता रहता है...।"

उस दिन भी टेलीफ़ोन पर यही सवाल हुआ था। इरशाद ने पूछा था, "ज़्यादा अच्छा तो यही रहता कि तुम मकान में पहुँच जाओ तब जश्न मनाया जाए। जा कब रहे हो इस मकान में?"

मैंने कहा था, "क्याऽऽऽ?" और जब इरशाद ने यही सवाल दोहराया तो मुझे लगा कि किसी ने एक नई बात कही है।

हमारा मैनेजर हमेशा की तरह फ़ोन पर होनेवाली बातचीत को सुन रहा था। मेरे रिसीवर रख देने पर उसने भी पूछा था, "तो तुम्हें मकान मिल गया?" और मुझे हैरत हुई थी कि इतने दिन तक मैंने उसे इसकी सूचना क्यों नहीं दी। वह मकान के मुहल्ले, कमरों की

संख्या, किराए आदि के बारे में मुझसे पूछता रहता था और उस दिन पहली बार मुझे ध्यान आया था कि मकान मिल जाने के बाद मुझको अब उसी में जाकर रहना है, दिल्ली से परिवार को बुलाकर नए सिरे से सद्गृहस्थों की जीवन-पद्धति अपनानी है; होटल, सड़कों की आवारागर्दी, रम की नियमित बोतल, सिम्मी की गली-इन सबको, जिन्हें मैं इतने दिन से छोड़ना चाहता हूँ, सहर्ष छोड़ देना है!

मैंने सरदार को उस दिन अपने मकान की गरिमा का अनावश्यक विवरण दिया था, उसे ख़ासतौर से बताया था कि बड़े-बड़े क्लास-वन आफ़िसर इसके लिए मुँह फैलाए हुए थे।

मैं उसे दिखाना चाहता था कि इस मकान से ही तुम्हें जान लेना चाहिए कि मेरी हैसियत तुमसे ऊँची है, कि मैं तुम्हारा 'तुम' नहीं, 'आप' हूँ। और तब सचमुच ही ऐसा हुआ कि सरदार ने मुझे 'आप' कहा। मेरे चलते-चलते उसने पूछा था, "तो एडमिनिस्ट्रेटर साहब को आप अच्छी तरह से जानते हैं?" मैंने लापरवाही से सर हिला दिया था। सरदार ने कहा, "मेरा भी वहाँ एक काम अटका है।" मैंने जवाब दिया, "देखूँगा।"

तभी सरदार ने पूछा था, "तो होटल कब छोड़ रहे हैं?" और अब मैं जिस तरह चित्रा के सामने निरुत्तर हूँ, सरदार के सामने भी वैसा ही हो गया था। जिस तरह मैंने इरशाद से कहा था, वैसे ही मैंने सरदार से भी बुदबुदाकर कहा, "बताऊँगा," और कमरे में जाकर भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया।

न जाने क्यों, होटल को छोड़कर नए मकान में जाने की सहज क्रिया मेरे लिए इतनी जटिल हो गई है ! उस मकान के साथ मेरा सुव्यवस्थित, सुखी भविष्य जुड़ा हुआ है; फिर भी उसमें जाने की कल्पना मेरे मन में उस भविष्य को ललक के साथ अपनाने का उत्साह नहीं जगाती बल्कि अपनी वर्तमान व्यवस्था में वह मुझे कर्तव्य और दायित्व के नाम पर कुरेदती-भर है।

स्टेशन डाइरेक्टर और मकानों की कमी और होटल आदि की छाती पर अपनी टापें जमाता हुआ हमारी बातचीत का घोड़ा न जाने कैसे पंडित रविशंकर तक पहुँच गया है—शायद इस प्रसंग से कि दो साल पहले पंडित रविशंकर जब इस शहर में आए थे तो वे इस होटल में न टिककर एक साधारण हैसियत के संगीतप्रेमी के यहाँ टिके थे। अपनी असम्भव स्थिति पर ज़्यादा न सोचना पड़े, इसलिए मैं इस मौक़े का फ़ायदा उठाता हूँ और कूदकर घोड़े की पीठ पर बैठ जाता हूँ। घोड़े को दाएँ-बाएँ मोड़कर, उसे अपनी टाँगें ऊपर उठाने के लिए बाध्य करके, उसकी हिनहिनाहट निकलवाकर मैं अब उसे अपने मनपसन्द रास्ते पर दुल्की चाल से लिए जा रहा हूँ, अर्थात् मेरे वार्तालाप का विषय अब महान सितारवादक पंडित रविशंकर की निन्दा करना है—

पंडित रविशंकर महाराज उन कलाकारों में है जिनकी आलोचना नहीं हो सकती, सिर्फ़ पूजा हो सकती है। उनके विरुद्ध कुछ कहना देवनिन्दा के समान है। पर सच पूछो तो पंडितजी की सारी विद्या तो विदेश में उनके चेले-चपाटी लूट ले गए, उनके हाथ में कुछ नुस्ख़े बचे हैं—किसिम-किसिम का रस पैदा करने के लिए किसिम-किसिम के नुस्ख़े। ऐसा है न, कि पंडितजी नाच का काम जानते हैं। अपने भैया उदयशंकर की मंडली में भी रहे हैं। तभी उनके सितार में आप वही नाच के टेढ़े-मेढ़े तोड़े देख सकते हैं, स्टेज का वही काम आपको सबसे ज़्यादा विस्मित करता है...।

इरशाद कहता है, "अब तुम बोर कर रहे हो।"

चित्रा उसे टोकती है, "आप में यही खराबी है; जब कोई आर्टिस्ट मूड में आकर बात शुरू करता है, आप टोक देते हैं।"

"इसे मूड में न आने दो, यही अच्छा है। मूड में आने पर यह लड़कियों के लिए ख़तरनाक हो जाता है।" वह चित्रा को शरारत से देखता है और दोनों मुझे भूल जाते है। एक-दूसरे का मज़ाक उड़ाने के लिए वे छोटे-छोटे वाक्य जल्दी-जल्दी एक-दूसरे पर फेंकते हैं। मैं उनका यह खेल एकाध बार पहले भी देख चुका हूँ। इस समय वे एक-दूसरे पर पिंगपाँग का कोई अदृश्य गेंद जैसा फेंक रहे हैं जो किसी भी ओर नहीं गिर रहा है। उनसे निश्चिन्त होकर मैं अपने चारों ओर देखता हूँ और सब वेटरों में उस बैरे को ढूँढ़ता हूँ जिसने उस दिन बाथरूम में क़ै करते समय मुझे तौलिया पकड़ाया था और मेरी सौ रुपए की मूर्खतापूर्ण टिप को नामंजूर कर दिया था। अब मैं अपने आपसे स्वीकार करता हूँ कि चित्रा और इरशाद को चाय पिलाने के लिए प्रिंस होटल में आने का मेरा असली कारण क्या है।

मियाँ इरशाद कैसे जान पाएँगे जब शुरू-शुरू में मैं खुद ही नहीं जान पाया कि चाय के लिए मैं चित्रा को दूसरी जगहें छोड़कर प्रिंस में ले चलने के लिए इतना उतावला क्यों हूँ। पर होटल के राजसी द्वार को पार करने के पहले मैं जान-बूझकर ठिठका था। वहीं से मेरे मन में यहाँ आने की उतावली का राज खुलने लगा था। एक रूपवती लड़की के साथ, जेब में तीन-साढ़े तीन सौ रुपए डालकर प्रिंस जैसे होटल में आना और थोड़ी देर के लिए एक सम्पन्न 'पैट्रन' का अभिनय करना वैसे भी अच्छा लगता है। पर इसके अतिरिक्त मेरे लिए यह भी अनिवार्य हो रहा था कि उस रात की घटना, या अघटना के बाद मैं अपने इस सम्भ्रान्त साथियों के साथ—ख़ासतौर से चित्रा के साथ प्रिंस होटल में जाकर अपने को एक सम्मानित व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करूँ। जिस किसी ने भी मुझे उस दिन एक बदतमीज़ पियक्कड़ के रूप में देखा हो, उसके सामने मुझे घोषणा करनी है कि असली 'मैं' वह नहीं है, यह है। आज प्रिंस होटल की दिशा में रात के एक ऐसे उल्लू ने प्रयाण किया है जो वहाँ दिन को अपने रंग-बिरंगे पंखों के साथ राष्ट्रीय पक्षी की रूपसज्जा में प्रकट होना चाहता है। इसीलिए यह पक्षी होटल का मुख्य द्वार पार करते ही पहले लाउंज में खड़ा होकर अपने पंख फैलाता है।

होटल में घुसते समय मुझे कुछ निराशा हुई थी। यदि इस वक़्त पोर्टिको में उसी रात वाले वे शानदार दरबान होते और उन्होंने मुझे चित्रा की उच्चवर्गीय छटा के प्रकाश में देख लिया होता तो इस चाय-पार्टी पर होनेवाले व्यय का पचास प्रतिशत पहले ही सार्थक हो जाता। पर इस वक़्त पोर्टिको में जिन दरबानों की ड्यूटी थी उनकी मूँछों की शान तो वैसी ही थी, पर ये वे नहीं थे। जो भी हो, निराशा के तुरन्त बाद ही उन दरबानों को वहाँ न पाकर मुझसे छुटकारा-सा मिला क्योंकि मन में कहीं यह भी है कि उनसे आँख मिलाना मुझे शायद अच्छा न लगेगा।

लाउंज के पहले लॉबी में रिसेप्शन काउंटर पर जो एकाध लड़कियाँ और पुरुष कर्मचारी मुझे दीख पड़े उनके बारे में मैं निश्चय नहीं कर पाया कि वे उस रात यहाँ पर थे या नहीं। सिगरेट जलाने के बहाने मैं वहाँ एकाध पल ठहरा भी रहा, पर उनमें से किसी ने भी मुझे एक झंझटी गायक या पियक्कड़ के रूप में पहचानने का आभास नहीं दिया। तब मैंने इरशाद से होटल की सजावट के बारे में अपनी समझ से—अंग्रेज़ी में एक—चुस्त बात

कही, "सजावट है तो बहुत, पर असली नहीं जान पड़ती।" इस पर इरशाद ने मुझे पकड़कर अपनी ओर खींचा और कहा, "यहाँ रिसेप्शन पर ज़्यादा मत रुको। चित्रा नाराज़ हो रही है और यह रिसेप्शनिस्ट इस लायक़ है भी नहीं।" मैं यहाँ से हट आया, सोचा : रिसेप्शनिस्ट के लिए यह इस तरह बोल रहा है, सिम्मी को देखकर क्या कहेगा?

चाय की चुस्की लेते हुए, यहाँ की अनन्नासवाली विख्यात और विज्ञापित पेस्ट्री की प्लेट चित्रा की ओर बढ़ाते हुए, स्वयं एक पेस्ट्री खाते हुए, पर उसके स्वाद से वंचित रहते हुए, मैं फिर सोचता हूँ ये दोनों सिम्मी को देखकर क्या कहेंगे? इनकी संगति में सिम्मी को जो दर्जा मिलेगा उसकी कल्पना से कुंठित होकर मैं और भी ऊँची कल्पनाएँ करता हूँ। मैं सिम्मी को चित्रा की प्रतिद्वन्द्वी बनाकर इरशाद के सामने पेश करता हूँ और ऐसा दृश्य बनाता हूँ जसमें सिम्मी की ग़ज़ल सुनकर वह सर धुनने लगता है, उसकी कसक-भरी आवाज़ से अभिभूत हो जाता है, मैं देखता हूँ कि इरशाद सिम्मी के संगीत पर मुग्ध होकर उसके प्रेम में व्याकुल हो रहा है, फिर मैं इन दोनों के साथ त्रिकोणात्मक प्रेम की लम्बी दौड़ दौड़ता हूँ और उसमें हारकर बँगला फ़िल्मों के दर्जनों नायकों की सौम्य शालीनता के साथ प्रेमिकात्यागी मुद्रा में सिम्मी को इरशाद की जीवनसंगिनी बन जाने देता हूँ। इस प्रकार अपनी पराजय के क्षणों में मैं अपनी विजय पर प्रसन्न होता हूँ कि सिम्मी से इरशाद को प्रभावित करा के, उसे इरशाद के पक्ष में खोकर, मैंने प्रमाणित कर दिया है कि वह चित्रा से ज़्यादा ऊँची है। इसी कल्पना को कुछ आगे खींचकर मैं भग्न-हृदय प्रेमी की हैसियत से चित्रा की ओर देखता हूँ और उससे सान्त्वना पाने के लिए बेचैन होता हूँ। वह मेरी ओर देखती हुई मौज से पेस्ट्री खा रही है, उसके ऊपर मुलायम आइसिंग की एक सफ़ेद बूँद उसके लिपस्टिक लगे ओंठ के कोने पर अटक गई है। पेस्ट्री खाते हुए ओंठों को अजीब ढंग से खोलकर वह अजीब-सी आवाज़ में पूछती हैं, "मिसेज़ बनर्जी कब आ रही हैं?"

"मकान मैंने कल देख लिया है। वहाँ मैं पहुँचने ही वाला हूँ। किसी भी दिन पहुँच जाऊँगा। बच्चे भी जल्दी ही आ जाएँगे।"

इरशाद मुझे इस तरह देख रहा है जैसे कुर्सी पर कोई खच्चर बैठा हुआ हो। "मकान तुम कल देखने गए थे? एलॉट हुए तो दस-पन्द्रह दिन हो गए।"

"नौ दिन," मैंने उसे समझाना शुरू किया, "वैसे तो चित्रा की सलाह है कि मैं जल्दी से क़ब्ज़ा ले लूँ, और ले भी लूँगा पर अब कोई खास परेशानी नहीं है। चिन्ता तो मकान न मिलने की थी, अब तो मिल ही गया है। थोड़ी-अड़चन है, उसे दूर करना है। वही वाटर कनेक्शन, बिजली के मीटर-वीटर का चक्कर है। धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा। कल मैंने देखा था, कुछ छोटे-मोटे काम भी बाक़ी हैं। एकाध खिड़कियों के शीशे टूटे हुए हैं; कुछ सिटकनियाँ ठीक से बन्द नहीं होती हैं...।"

इरशाद जैसे मेरी बात सुन ही न रहा हो। उसने दोहराया, "पर तुम मकान देखने के लिए इतने दिन बाद गए? कल? तुम्हारा दिमाग़ तो सही है?"

वह मुझे मकान की दिक़्क़तें बताने लगता है, इस मकान पर तुरन्त क़ब्ज़ा न करने के लिए मेरी भर्त्सना करता है, मुझे समझाता है कि मुझे कितनी बड़ी नियामत मिली है जिसके बारे में मैं उदासीन बैठा हुआ हूँ...।

मैं कल के बारे में सोचता हूँ। न जाने कितनी मुश्किल से मेरा सिम्मी के साथ इस

मकान को देखने का संयोग पैदा हुआ था। बिना मकान के इतने दिन यहाँ बिताकर मैं एक दायरे में घूम रहा हूँ और एक तो मुझे उस दायरे को तोड़ने की जल्दी नहीं जान पड़ती; दूसरे सिम्मी ने कह रखा था कि वह भी मेरे साथ मकान देखने चलेगी और लगभग रोज़ उसके चलने में कोई-न-कोई अड़चन आ जाती थी। अन्त में हम लोग कल जाकर मकान देख सके थे।

ऐस्पानगर शहर के उत्तरी छोर पर है। सड़क लगभग सूनी थी। हमारे बाईं ओर शहर की इमारतों के पीछे सूरज डूब रहा था और उसकी किरणों और लाल-पीले बादलों ने इमारतों के बीच छूटे हुए आसमान को घेर लिया था। हमारे आगे सड़क बराबर ऊँची होती जा रही थी और दोनों ओर की ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर पेड़ों के झुरमुट और नए बने या अधबने मकानों की क़तारें थीं। आज मैं पहली बार दिन की रोशनी में सिम्मी के साथ खुली हवा में निकला था।

हम लोग चुप थे क्योंकि उसके पहले बहुत बोल चुके थे। सिम्मी ने मुझसे पूछा था कि श्यामा की माँ से मैं मिला या नहीं। मैंने कहा, "नहीं।" "आप उनके घर तो गए थे न?" "वह भी नहीं।" तब सिनेमा की सभी ट्रैजेडी क्वीनों की ट्रेजेडी की बारूद अपनी आवाज़ में भरकर उसने मुझ पर बन्दूक चलाई, बोली, "हाय, आप इतने संगदिल कैसे हो गए?" और इस वार्तालाप ने मुझे सचमुच ही संगदिल बना दिया। मैंने कहा, "मैं इतनी उर्दू नहीं जानता। ज़रा मुझे संगदिल का मतलब बता दीजिए।" उसने शोकपूर्ण कथोपकथन के कुछ और वाक्य कहे जिनमें उस समय मुझे कोई मौलिकता नहीं दिखी और मैं तुरन्त पंडित नीलमणि बनर्जी का पुत्र बन गया। मैंने उसे मूर्ख और गधी तो नहीं कहा पर मेरी विस्तृत बक-झक का अर्थ सुसंगत भाषा में इस प्रकार था—"मेरे पास इधर-उधर जाने के लिए समय नहीं है। नगर-निगम मुझे शोक सन्तप्त परिवारों में जा-जाकर संवेदना-प्रकाश करने की तनख्वाह नहीं देता, तनख़्वाह सात घंटे तक जोड़-बाक़ी लगाने की मिलती है। बारीन हालदार नामक मेरा मित्र मृत्यु-शैया पर पड़ा है और रोज़-रोज़ मैं उसके पास तक नहीं जा पाता। और तुम सच बात ही जानना चाहती हो तो वह भी जान लो; मत भूलो कि श्यामा से मेरे सम्बन्ध पारिवारिक नहीं थे, पूरे तौर से व्यक्तिगत थे। श्यामा के साथ ही मेरे सम्बन्धों की भी मृत्यु हो गई जिसका मुझे दुख है, पर इसे मैं अख़बारों में नहीं छपा सकता। वह वैसा ही है जैसा कि मेरे और तुम्हारे बीच में है, जैसे कि मेरी मृत्यु हो जाने पर मेरे और तुम्हारे सम्बन्धों की भी मृत्यु हो जाएगी। जो सम्बन्ध तुमने मुझसे जोड़ रखे हैं उन्हें तुम मेरे बाद उत्तराधिकार में मेरी बीवी या लड़के को नहीं दे सकोगी। या दे सकोगी?"

अपने प्रलाप का अन्तिम वाक्य उसे रुलाने के लिए था और वह रोई। तब मैंने क्षमा माँगी, उसे शान्त किया, उसे हँसाने की कोशिश की, इधर-उधर की बातों में अमर शहीद पंडित जटाशंकर अवस्थी का जीवन-चरित तक बता डाला और इस तथाकथित ऐस्पानगर का इतिहास सुनाया। पर वह गम्भीर बनी रही और अन्त में मुझे भी खामोश हो जाना पड़ा।

सूरज की डूबती किरणें हमारे दाईं ओर के मैदान को पार करती हुई एक टीले पर बनी हुई इमारत से टकराईं। सड़क अचानक दाएँ मुड़ गई थी, कुछ आगे बढ़ते ही हमें इस इमारत का सामना दिखाई दिया। सफ़ेद पुते हुए मकान के दुमंज़िले की खिड़कियों पर लाल किरणें आतिशबाजी की तरह फूट रही थीं। हर शीशे पर एक सूरज उतर आया था। सिम्मी

ने ठिठककर मेरी बाँह छुई, उधर इशारा करके कहा, "शायद वही है।"

बादलों की एक लकीर पश्चिम में फैल गई थी और टीले पर बनी इमारत के पीछे के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की फुगनियाँ काली होने लगी थीं। पर खिड़कियों के शीशों पर अब भी अंगार दहकते रहे। सम्मोहन और आतंक की मिली-जुली स्थिति में मैं उन खिड़कियों को देखता रहा। मैंने सिम्मी से कहा, "हाँ, हमारा मकान वही होगा।"

"हमारा मत कहिए; यह सिर्फ़ आपका है, मेरा नहीं।"

मैंने हलकेपन से कहा, "मुँह मत लटकाओ। यह हममें से किसी का नहीं, सिर्फ़ किराए का है।"

मोड़ के बाद सड़क फिर ऊँची होने लगी थी और उसके किनारे-किनारे नए-नए शोभापूर्ण पेड़ों की क़तारें तैयार की जा रही थीं। सड़क के एक ओर ऊबड़-खाबड़ खाली ज़मीन, उस पर उगे हुए बबूलों और चरती हुई बकरियों का दृश्य था, दूसरी ओर ढाल पर कुछ नए मकान बने थे और वह ढाल नीचे जाकर पेड़ों के झुरमुट में खो गया था।

अचानक हमारे सामने सड़क के एक किनारे से रंग-विरंगी फ्राकों, कार्डिगन और सूटरों, नन्हें-नन्हें जूतों-मोज़ों का एक गिरोह निकल आया और बच्चों की खुली हँसी और तीख़ी आवाजें चारों ओर फैल गईं। सिम्मी ने पूछा, "बच्चों, तुम कहाँ रहते हो?" जवाब में उन्होंने आसपास छितरी हुई इमारतों की ओर संकेत किया। एक लड़की ने टीले की ओर उँगली उठाकर कहा, "सी-फ़ोर में।" मैंने कहा, "हम लोग सी-फ़ाइव में आ रहे हैं।" "चलिए, एकदम जंगल नहीं है," कहकर सिम्मी ने साँस खींची।

अचानक बकरी का एक बच्चा किसी ओर से उछलता हुआ आया और बच्चों के गिरोह में फँस गया। वे सब किलकारी मारकर उसका पीछा करने लगे, उल्लास और हँसी की आवाज़ें हमारे पीछे-पीछे हो गईं। हम लोग जब फ़्लैट नम्बर सी-फ़ाइव के बरामदे में पहुँचे तो बच्चों की दूरागत हँसी चिड़ियों की सायंकालीन चहक में घुलमिल गई थी।

हम लोग सर पर गहराती साँझ और दूर-दूर से आती आवाज़ों के बीच निर्जनता और एकान्त के छलावे में, एक बन्द दरवाज़े के समान खड़े हैं। मैं जेब से चाबी निकालकर सिम्मी को देता हूँ और ताला खुलने की प्रतीक्षा करता हूँ। मेरा मन 'खुल जा सीसम' की आतंक-भरी उत्सुकता से भारी हो रहा है। पर मैं यूँ ही उद्विग्न हो रहा हूँ। दरवाज़ा एक लम्बे और कम चौड़े कमरे में खुलता है। नए दरवाज़ों पर लगे हुए पेंट की गन्ध हमारी नाक को उकसाती है।

सिम्मी ठिठककर धुँधले कमरे में प्रवेश करती है, मैं उसके पीछे हूँ। हमारे सामने की दीवार में एक बन्द दरवाज़ा है। सिम्मी अपने दाईं ओर एक खुले दरवाज़े की ओर देखती है जिसके उस पार एक बड़ा कमरा है। हम अलग-अलग दरवाज़ों की ओर बढ़ते हैं और हमारे कन्धे टकराते हैं। सिम्मी मेरे स्पर्श में ठहरी रहती है।

मैंने उसका कन्धा पकड़कर एक पल के लिए रोका, फिर उसे छोड़ दिया। अपने घर में यह सब मुझे छिछोरापन जैसा लगा। सामने का दरवाज़ा खोलकर मैं अन्दर बरामदे में पहुँचा। उसके बाद लम्बा-चौड़ा आँगन था। मैं बरामदे की सीढ़ी पर पैर फैलाकर बैठ गया। इतने दिन तक इधर आने में मुझे जिस हिचक और उदासीनता का अनुभव होता था, वह बड़ी निरर्थक और हास्यास्पद जान पड़ी।

आम के दो नए पेड़ चहारदीवारी के अन्दर आँगन में आ गए हैं। दूसरी ओर अमराई है। बरामदे में आते ही चिड़ियों के बहुरंगी स्वर नए सिरे से कान में पड़ते हैं। ऊपर के फ़्लैट में कोई रोशनी का स्विच दबाता है और उसका बहुत क्षीण आभास आँगन में उतरता है। मैं आँगन की ओर देखता रहता हूँ। अन्दर के कमरों और आँगन के बीच एक परिचित जीवनक्रम सहसा मेरे लिए जीवन्त हो उठता है। एक ओर के दरवाज़े से, जो शायद बाथरूम में खुलता है, पिंटू तौलिए से सर के बालों को रगड़ता हुआ निकलता है। मेरी निगाह उसके उठे हुए हाथ के नीचे बग़ल के घने बालों पर पड़ती है और इस वयस्क के पिता की हैसियत से मैं गर्व-भरे कौतुक की मुद्रा में मुँह बिचकाता हूँ। छूटी मेरे पीछे एक मेज़ पर बैठी हुई टाँगें हिला रही है, छाया सामने आम के तने पर चढ़ने की कोशिश कर रही है; मीनाक्षी रसोईघर में नहीं, अन्दर के कमरे में है—शायद बालों पर कन्घी कर रही है...।

सिम्मी दाईं ओर के कमरे में गई थी पर दूसरी ओर के दरवाज़े से निकलकर मेरे पास आई, बोली, "उधर एक बहुत अच्छा कमरा है। छोटा है, पर उसका फ़र्श देखिएगा-मोज़ेक है। आइए, देख लीजिए। मैंने उधर की खिड़की खोल दी है।"

मैं उठना नहीं चाहता, नहीं उठता। सिम्मी मेरे पास बैठ जाती है, कहती है, "उधरवाला गुसलखाना ज़्यादा अच्छा है। दोनों तरफ़ से अलग-अलग कमरों में खुलता है। ..." कहते-कहते वह चुप हो जाती है, अपना ढीला सर मेरे कन्धे पर छोड़ देती है, अपने हाथ की उँगलियाँ मेरी उँगलियों से उलझा रही है। चाहते हुए भी मेरी उँगलियों में कोई दबाव नहीं आ पाता; डाल में अटकी हुई पुरानी पत्तियों की तरह सिम्मी की उँगलियाँ एक-एक करके बिखर जाती हैं। ऊपर से आनेवाली रोशनी अब आँगन में कुछ ज़्यादा स्पष्ट हो गई है।

"इतना चुप क्यों हो?" सिम्मी से कहते ही मुझे अनुभव होता है कि इतनी देर से वह नहीं, मैं स्वयं चुप बैठा हुआ हूँ। उसका गाल मेरे कन्धे पर टिका रहता है। वह बहुत धीरे से कुछ कहती है, मैं सुन नहीं पाता। मैं सदा की भाँति किसी नाटकीय कथोपकथन की प्रतीक्षा करता हूँ। पर वह कुछ भी नहीं बोलती, मेरे कन्धे में मुँह छिपाकर खामोशी से रोने लगती है...।

मुझे जो भी वेदना हुई हो, पर इस मकान के लिए मेरा उत्साह वहाँ घटा नहीं। लौटते समय जान-बूझकर मैंने सिम्मी से अपनी भावी योजनाओं के बारे में बात नहीं की और इस आशा को चोर की तरह छिपाए रहा कि इस मकान में पहुँचते ही मेरे जीवन के उस चरण का आरम्भ होगा जिसमें कोई भी मलिनता नहीं है। पर होटल में वापस आकर रम के गिलास के साथ जब मैं अपने कमरे में बैठा तब मैं अपने विषय में उतना आश्वस्त नहीं रहा। मैंने अपने कमरे को ध्यान से देखा। चिटके हुए गिलास में बासी फूल एकदम मरे नहीं थे। कुर्सी, मोढ़ा, मेज़, चारपाई-सब सही कोणों पर रखे हुए थे। कोने में सितार टिका हुआ था। दीवारों पर हलका नीला रंग था। खिड़की और दरवाज़ों का पेंट उतना पुराना नहीं था। मुझे आश्चर्य हुआ कि मैं इस जगह को अब तक इतनी बुरी क्यों समझता आया हूँ।

यह कल की बात है और इस समय मैं इरशाद के आगे मशीन की तरह बोल रहा हूँ, "नए मकान का काम भी कुछ कम झंझट का नहीं है। अब इसी मकान को लो। अकेले बिजली के कनेक्शन के लिए न जाने कितने दिन दौड़ना पड़ा। फिर फ़र्नीचर में कुछ-न-कुछ तो लगे ही। उसके बाद, बच्चों को नए सिरे से स्कूल-कॉलेजों में भरती कराओ, उनके

आने-जाने का इन्तज़ाम करो, किसी के लिए रिक्शा, किसी के लिए साइकिल, कोई पैदल। बस अभी कॉलोनी के किनारे से निकल जाती है। बाज़ार इतना दूर है। माना कि नया शॉपिंग सेन्टर बन रहा है, पर वह भी जमते जमते जमेगा...।"

मैं रुक जाता हूँ क्योंकि इरशाद मुझे स्थिर दृष्टि से देख रहा है; मेरे रुकते ही कहता है, "ताज्जुब है।"

अब मैं कुछ भी नहीं कह पाता और अपने चारों और थककर देखता हूँ। खम्भे के पास एक बैरा ससम्भ्रम खड़ा हुआ है। मैं हड़बड़ाकर सोचता हूँ कि शायद वही है जिसने उस रात मुझे बाथरूम में तौलिया पकड़ाया था, या शायद यह कोई दूसरा है। पर मैं साफ़-साफ़ कुछ सोच नहीं पाता क्योंकि कल इस समय सिम्मी के आँसुओं से मेरा कन्धा भीग रहा था और आज इस समय इरशाद मुझे अजनबी निगाहों से देख रहा है। सहसा, इस होटल के कर्मचारियों की निगाह में सम्भ्रान्त दीखने का विचार मुझे हास्यास्पद मालूम देता है। बरामदे में घुटन-सी जान पड़ती है। मैं चित्रा से कहता हूँ, "जो भी हो, कल या परसों तक तो इस मकान में आ ही जाऊँगा।" मुझे अपना मुँह सूखता हुआ जान पड़ता है। इस समय मुझे कोई ऐसी चीज़ चाहिए जो चाय से ज़्यादा तेज़, ज़्यादा तीखी हो।

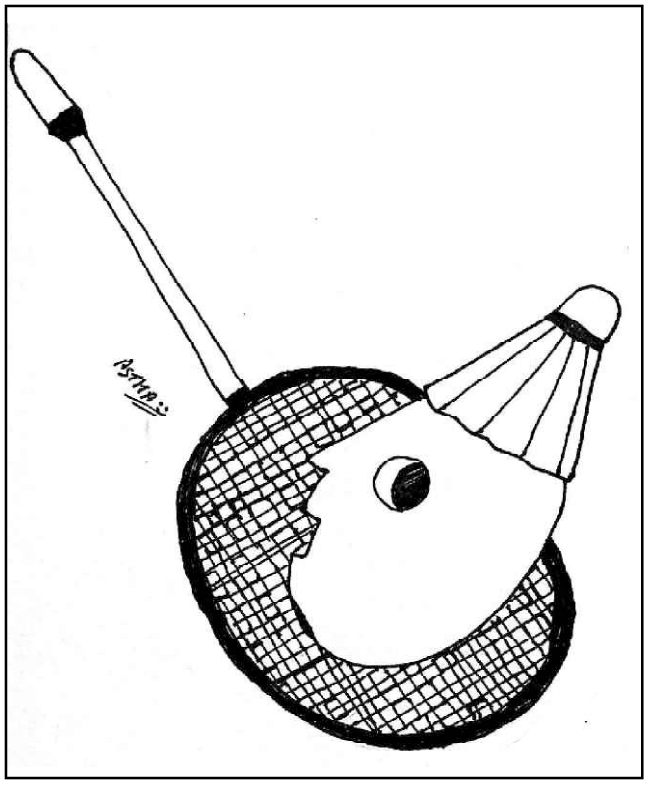

पहला पड़ाव

गाँव के स्टेशन पर उतरते ही पुरवाई के जिस ठंडे झोंके ने मेरे चेहरे को छुआ, वह मेरे बचपन के दिनों का बासीपन लिए हुए भी एकदम ताजा था। उसे छूकर जसोदा की जगह पिछले दिनों की चमकदार आँखोंवाली मेमसाहब एक पल के लिए लौट आईं। मैंने कहा, "चलो मेमसाहब, यहाँ से मील भर पैदल चलना होगा।" रेक्सीन से ढकी एक कार्डबोर्ड की अटैची थी। कभी मुझे उस पर बड़ा घमंड था। शहर में फाइबर के सूटकेसों के लकदक विज्ञापन देखते-देखते अब मैं इसकी हैसियत समझ गया था। हिक़ारत से उसे मैंने सुरेस के सिर पर—या यों कहिए कि सिर पर लदे जसोदा के टीन के बक्से पर फेंका! कहा, "चल बेटा गिरधारीलाल!" रेलवे लाइन के किनारे जाती हुई पगडंडी पर हम तीनों उतर आए। टिकट मेरी जेब में थे। किसी ने उनकी फ़रमायश न की। पुरानी आदत के जोर से एक बार दिल में कचोट उठी, बेकार ही किराए में पाँच का नोट फूँक दिया।

पगडंडी पर उतरते ही, असाढ़ की गर्मी के बावजूद, शाम की सुहानी धूप में जब पुरवा ने ज़मीन पर गर्द के बवंडरों की पटखनी दी और नीम के पेड़ों की टहनियाँ सरसराईं तो मन में एक नई उमंग और हिम्मत पैदा हुई। अभी सात-आठ दिन में ही आसमान बादलों से ढक जाएगा, वे पेड़ असाढ़ के पहले दौंगरे में भीग रहे होंगे, तब मेरी भी जिन्दगी का मौसम बदलेगा, तपन के छोटे-छोटे धब्बे भले ही रह जाएँ, चारों ओर से बँधा हुआ दमघोटू उमस का यह घेरा टूटेगा—ज़रूर टूटेगा।

अपनी भावुक आशावादिता पर हँसी आई। काश, सचमुच ही यह इतना आसान होता! आज तक तुम्हारे साथ जो हो रहा था, उसका धुएँ के किसी जादुई बवंडर में एकदम गुम हो जाना, उसकी जगह अपने मनपसन्द भविष्य के महल का फ़िल्मी अन्दाज में अचानक उभर आना, उस तक पहुँचने के लिए हरी-भरी क्यारियों, फूलों और आरामगाहों के बीच किसी लम्बे-चौड़े रास्ते का अचानक खुल जाना! काश... पर पुरवा मेरे चेहरे पर ठंडक उँड़ेल रही थी, मेरे खुले हाथों पर रोवों को सिहरा रही थी, मेमसाहब की आँखों में नेता की मौत के बाद शायद पहली बार चमक दिखी थी और सुरेस—दो बक्सों के बोझ के बावजूद—मुस्तैदी से यूँ चल रहा था जैसे इस पगडंडी से वह रोज़ ही गुज़रता रहा हो।

यही वह बाग थी जिसमें जाड़े की अँधेरी रातों में मैंने प्रेमबल्लभ के साथ लकड़ी के कोयले का रहस्य-रोमांच भोगा था। चोरी की थी। वह मूल्यपरक फ़ैसला आज भले ही दिया जा सके पर तब कोयला उठाने में चोरी का अपराध-बोध कहाँ था? जंगल में किसी धारा का

पानी पीते हुए जब कोई हिरन शेर की आमद के बारे में चौकन्ना रहता है तो उसे अपने बचाव का एहसास भले ही रहे, पानी की चोरी की बात उसके भेजे में कभी आ सकती है? हम दोनों ऐसे ही थे। रखवालों से बचे रहना एक बात थी, पर चोरी के अपराध से कुंठित होने की बात हमारे मन में कभी आई ही नहीं। जैसे बिना टिकट रेल का सफ़र, जो ज़्यादा- से-ज़्यादा टिकट चेकरों के साथ आँख-मिचौनी के खेल जैसा था।

और यह पुरवाई? जिस भरोसे से वह यहाँ घूम रही है, उससे साबित हो चुका है कि यह अपने आपको यहीं का समझती है। यहीं की है भी। जिसे मैं पीछे छोड़ आया हूँ वह उस शहर की होगी। वहाँ जो कल रात से अचानक बहने लगी है वह कोई दूसरी पुरवा होगी जिसे खुले में चारपाई पर लेटे हुए महसूस किया था। सीमेन्ट और कांक्रीट की गुफाओं में कहीं-कहीं इस हवा की फुफकार जैसी गूँजी थी, बस इतना! और दिन में, यहाँ आने की तैयारी में जब मैं सड़कें नाप रहा था, यह होते हुए भी गायब थी। पेड़ों की टहनियों को यह जरूर झकझोर रही होगी, पर मैंने देखा नहीं। देखने को रिक्शे, स्कूटर, मोटरें, बसें थीं, ट्रक थे, जिनकी चपेट में आए बिना मुझे सड़क पार कर लेनी थी। सुअर, गाय और गन्ध से भरी-पूरी, कूड़े के ढेर से गँधाती गलियाँ थीं। उन्हें पार करके एक दूसरी चौड़ी सड़क, उसमें एंप्लायमेंट एक्सचेंज के बड़े हाकिम का बड़ा कमरा था जिसमें एक बड़ा कूलर घर्र-घर्र करता हुआ चिपचिपी हवा फेंक रहा था। उस हाकिम के हाथ में मुझे देने को कुछ भी न था। उससे कुछ दूर रेंट कंट्रोल ऑफिस का उमस भरा, पसीने से तर-बतर कमरा था जहाँ का इंस्पेक्टर सिफ़ारिश के आधार पर मुझे कुन्दनपुर कोठी का एक कमरा एलाट करने को तैयार न था। "इस एक कमरे के लिए इसे एक हजार की घूस चाहिए। मैं तुम्हारी ओर से दो सौ तक देने को तैयार हो गया हूँ। मान नहीं रहा है। पर घबराओ नहीं, टंडन साहब को छुट्टी से वापस आने दो। तब इस इंस्पेक्टर की खटिया खड़ी कर दूँगा।" वहाँ के एक क्लर्क ने, जो कभी मेरे साथ डेली पैसेंजरी करता था, मुझे समझाया था। उसी दिन तीसरे पहर परमात्मा जी के नए मकान पर लौटकर जसोदा और सुरेस के साथ मैं अपने गाँव के लिए चल दिया था।

परमात्मा जी ने कहा था—"देखो भाई, तुम युवाशक्ति हो। तुम्हारी तुनकमिज़ाजी मैं समझता हूँ। पर अपने इंजीनियर साहब अफ़सर आदमी हैं। उन्हें ऐसी साफ़गोई पसन्द नहीं है। तुम्हारी उनकी टुन्न-फुन्न होने लगती है तो मुझे बड़ी उलझन होती है। किसकी तरफ़ से बोलूँ और बोलूँ तो क्या बोलूँ? तुम हो भाई युवाशक्ति, तुम्हें तो उस वक़्त टोका नहीं जा सकता। और वह ठहरे अफ़सर, हमेशा यस सर सुनने के आदी। यस्सर, यस्सर, यस्सर-उनके कान इसी के आदी हैं। बीच में वे कोई दूसरी आवाज़ क्यों सुनेंगे? अब भैया, युवाशक्ति और अफ़सर के बीच मारा गया वकील। वकील की क़िस्मत ही ऐसी है, सभी की अकड़ उसे झेलनी है। जब भी अकड़कर बोलता है, उसके मन की बात न करो तो मुअक्किल भी अकड़कर बोलता है। पेशकार तो हमेशा ही अकड़ा रहता है और जो दूसरे फरीक का वकील है, वह तो अकड़कर बोलने की फ़ीस ही पाता है। तो भाई युवाशक्ति, तुम भी जितना चाहो उतना अकड़ लो।

"ठीक ही है। यहाँ तो वैसे भी काम खत्म होनेवाला है। जो कल होना है, आज ही हो जाए। तुम छोड़ना चाहते हो तो छोड़ दो। तुम्हें इसी में ठीक लगता है, तो वही सही।"

"वाइफ़ का एक प्लॉट तालकटोरा रोड पर पड़ा है। उस पर भी दो फ़्लैट बनवाने

हैं। अगर तुम्हारा मन हो तो वह काम हाथ में ले लेना। वैसे, हमारा क्या? किसी-न-किसी तरह काम चल ही जाएगा।

"इंजीनियर साहब से तुम्हारी निभ नहीं पाई, इसका अफ़सोस जरूर होता है। वे करोड़पति आदमी हैं। तुम्हारी पटरी बैठ जाती तो तुम्हारे लायक सैकड़ों काम निकलते। उनके यहाँ नौकरी भी चल सकती थी, साझेदारी भी, ठेकेदारी भी और वकालत भी।" तब जैसे कोई बन्दर सूखी डाल को झिंझोड़कर हिला रहा हो, युवाशक्ति मेरी खोपड़ी पर चढ़कर मेरी नस-नस को झकझोरती हुई बोली, "इंजीनियर साहब की नौकरी या साझेदारी करनी हो तो उसके मुकाबले डकैतों के किसी गिरोह में घुस जाने में क्या चुराई है? चम्बल घाटी के मरियल-से-मरियल डाकू की भी इनसे ज़्यादा इज्ज़त होगी।"

परमात्मा जी ने युवाशक्ति द्वारा किए गए इस विकल्प पर थोड़ी देर ग़ौर किया, कहा, "उसमें बड़ी मेहनत है। तुमसे नहीं सपरेगा।" पहली बार मैंने उनके मुँह से एक बेझिझक अश्लील शब्द सुना, "वहाँ के भरकों में तुम्हें एक बार भी चढ़ना-उतरना पड़ा तो तुम्हारी वह जो... है, सड़ी मारकीन जैसी भर्र से फट जाएगी।"

मैंने बुरा नहीं माना, बुरा मानने की बात भी न थी। अपनी आदत के ख़िलाफ़ वे पहली बार मेरे आगे एक ऐसा असंसदीय शब्द बोल रहे थे जो अच्छे बच्चे कभी मुँह से नहीं निकालते। इससे सिर्फ़ यह साबित होता था कि इंजीनियर साहब के लिए उनके मन में श्रद्धा-विश्वास है, वह उनके मन, वचन और कर्म पर पूरी तौर से छा गया है। मैंने कहा, "आप ठीक कहते हैं जीजा जी, वहाँ भी मेरा आपसे कोई मुकाबला नहीं। कहाँ आपकी गैबर्डीन, कहाँ मेरी सड़ी मारकीन!"

अश्लीलता का गोंद लगा देने से जीजा-साले का पारम्परिक रिश्ता फटते-फटते एक बार फिर जुड़ गया। वे हँसे, बोले, "भाई, नो हार्ड फीलिंग्स। आते-जाते रहना।"

कार्ड बोर्ड की अटैची के अलावा, जिसमें एक पतली दरी और दो-चार पुराने-धुराने कपड़े थे, मेरे पास कन्धे से लटकाने के लिए एक नीला-सफ़ेद झोला भी था। उसके एक ओर एअर इंडिया लिखा था, दूसरी ओर वी.आई.पी., दरअसल उसका इन दो से कोई भी रिश्ता न था। ऐसे सस्ते झोले यहीं अमीनाबाद में बनते हैं। वह, और उसमें एक किताब, कुछ कापियाँ, एक टूथ ब्रश और पेस्ट, साबुन की एक घिसी टिकिया—यही मेरी, सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा के एक एम.ए. डिग्री-शुदा नौजवान की, सारी चलाचल सम्पत्ति थी। हाँ, इसके अलावा 'भाँग की पकौड़ी' नामक एक फटी हुई किताब भी थी जिसमें एक नाज़नीं हसीना को भाँग की पकौड़ी खिलाकर उसके साथ की गईं भाँति-भाँति की लीलाओं का सचित्र वर्णन था। यह उन किताबों में से थी जो चुराकर छपती और बिकती हैं और चुराकर अकेले में या ऐसे दोस्तों में पढ़ी जाती हैं जो बिल्कुल शाब्दिक अर्थ में लँगोटियाँ हों। यह किताब कई महीने से मेरे झोले के पेंदे में पड़ी हुई थी। जिसके हाथों सौंपकर इस गलीज़ से मैं फ़ुरसत पा सकता, ऐसे सुपात्र मित्र का इन्तज़ार कर रही थी।

जेब में दो-तीन हरे पत्ते भी थे—सौ-सौ के नोट। अभी दो पत्ते प्रेमबल्लभ से भी मिलने थे। इनके सहारे दो महीने तक परमात्मा जी की युवाशक्ति यानी माबदौलत को असली परमात्मा जी की भी परवाह नहीं थी।

चलने के पहले जसोदा रोई थी—खामोशी से और दूसरी ओर मुँह फेरकर। सुरेस ने

उसका हाथ पकड़कर खींचा था। घुड़ककर रोने से मना किया था।

झोले की इबारत देखी जाए तो लम्बे सफ़र पर जानेवाला मैं वी.आई.पी. था। एअर इंडिया से विलायत जाने को तैयार खड़ा था। पर जसोदा का विलाप देखकर मैं उसी क्षण उस दुनिया के कीड़ों-मकोड़ों और भुनगों में शामिल हो गया था जिसमें ज़मीन से उखड़कर कोई एक सैकड़ों मील दूर मज़दूरी करने आता है, कहीं पर सांघातिक चोट खाकर अस्पताल में पहुँचता है और वहाँ से लावारिस लाश बनकर निकलता है, पुलिस के कागज़ों में एक दुर्घटना बनकर गुम हो जाता है, एक घबराई हुई, गर्भवती बेवा को रात की खामोशी में थम-थमकर रोने के लिए छोड़ जाता है।

अब तक वह मेरे आगे कभी नहीं रोई थी। दूर से ही उसका रोना सुना था। उससे भी ज़्यादा जिन्होंने उसका रोना सुना था उनकी बातें सुनी थीं। जब और लोग सो जाते थे तब कहीं से रोने की आवाज़ आती थी। उस आवाज़ में किसी बिन्धे हुए घायल जानवर की यन्त्रणा थी। वह स्वर सीधा आसमान की ओर बढ़ता जान पड़ता था। फिर मिट जाता था, उसके बाद रह-रहकर उसकी आवृत्तियाँ होती थीं। कभी-कभी देर से लौटनेवाला कोई मजदूर सड़क पर, किसी को सम्बोधित किए बिना पूछता, 'कौन रो रहा है?' तब किसी अधबने मकान के अहाते में पड़ा कोई दूसरा मज़दूर निन्दारी आवाज़ में कहा, 'जसोदा है। उसका आदमी नहीं रहा।'

मैंने उसकी व्याकुलता का भी सीधा सामना नहीं किया था, करना भी नहीं चाहता था। पर आज कर रहा था। मेरी सारी चालाकी, सारी दुनियादारी इस खुले हुए विषाद के सामने जड़ बन चुकी थी।

"मुझे शंकरगढ़ पहुँचा दो मुंसी।" उसने अचानक कहा था।

मैंने जवाब दिया, "अब शंकरगढ़ नहीं। जो पहले तय किया है, वही करो।"

"समझ में नहीं आता कि क्या करूँ।"

यह दूसरी जसोदा थी, वह नहीं जो कुछ दिन पहले कह चुकी थी कि उसे किसी की देखरेख की ज़रूरत नहीं है।

मैंने कहा, "तब वही करो जो मैं कह रहा हूँ। अब चलो।"

हमारा ख़ानदान एकदम दरिद्र नहीं है, ग़रीब है। बाप बेवकूफ हैं, पर बाबा सुनते हैं ऐसे न थे। गाँव में झूठ-मूठ की यानी कुछ पाई की जमींदारी थी। यूँ कहिए कि पूरे गाँव की मिल्कियत एक रुपए की हो तो सिक्कों में दशमलव प्रणाली लागू होने के पहले की कुछ पाइयों के बराबर ज़मीन हमारी थी। पर उसे भी बाबा ज़मींदारों की तरह नहीं सँभाल पाए और मुक़दमेबाजी, पारिवारिक कलह, कपटी नौकर और रुपए की कीमत की परख न होने से अपने समय में ही अदना किसान बन गए। इसमें दो और कारण भी जुड़े थे। एक तो हमारे बाबा के चार कन्याएँ हुईं जिनके दहेज का जुगाड़ करते-करते बाबा के पाँव के नीचे कुआँ निकल आया, दूसरे यह कि उन्हें सांस्कृतिक कार्यों से बेहद प्रेम रहा, यानी कोई भी जवान बेड़िन उन्हें नाच दिखाकर और 'लम्बरदार' का खिताब देकर अच्छा इनाम खींचने में कामयाब होती रही।

मेरे लिए ये सुनी-सुनाई बातें हैं। जैसे कि खुदकाश्त और सीर जैसे शब्द भी मेरे लिए सुने-सुनाए हैं। खुदकाश्त जमींदारी की वह ज़मीन है जिसे कानून में बताए गए एक

किसी खास फ़स्ली साल के बाद ज़मींदार साहब ने किसान से छुड़ाकर खुद जोतना शुरू कर दिया हो। यह दूसरे दर्जे की सम्पत्ति है। सीर वह चीज़ हुई जो आपकी जमींदारी में हो और पुरखों के ज़माने से आपके कब्जे में रही हो। वह पुख्ता तौर पर आपकी अपनी चीज़ है। पर अपने खानदान की सीर और खुदकाश्त बाप के मालिक होते-होते जिनके कब्जे में चली गई थी उनके हाथ से नहीं लौटी और जो लौटी भी उसके आज भी मुक़दमे चल रहे हैं। मुक़दमे भी किसके साथ? अपने ही ख़ानदानवालों के साथ।

बहरहाल, हमारे बाप ने जब आँख खोलकर चारों ओर परिदृश्य का सिंहावलोकन किया—माफ कीजिएगा, कैसा सिंह और कैसा अवलोकन—तो पता चला कि नए भूमि व्यवस्था कानून में हमारे सारे बटाईदार हमारी ज़मीन के भूमिधर बन गए हैं, अधिकांश जानवर बहुत पहले मर चुके हैं, उनकी सारी हैसियत पन्द्रह बीघा घटिया ज़मीन और आधे बीघे में बसे हुए कच्चे घर में सिमटकर रह गई है। कुछ और भी बचा था- सामने के सहन में नीम के दो सन्तरीनुमा पेड़, एक घटिया गाय, बैलों की एक मरियल गोई और कुछ पुराने जेवर जो कई साल हमें ज़िन्दा रखने के काम आए।

अतः मैंने जब शहर में जाकर कॉलिज में दाखिला लिया तो फीस से छूट पाने के लिए कक्षा में मैं बहुत वाजिब उम्मीदवार साबित हुआ।

अब आइए इस छप्पर-छाए महल में।

घर में घुसते ही मैंने देखा, बहन बर्तन माँज रही है। उसने पुकारकर कहा, "अम्मा सत्ते आ गए।"

मैंने कहा, "क्या हुआ तेरे उसका? अब भी लटका है कि नौकरी मिली।"

उसका चेहरा खिल गया, बोली, "बड़े दद्दा ने तीन हज़ार लगाया, उसी से उन्हें नौकरी फिर से मिल गई। तुम कैसे हो?"

मैंने कहा, "अम्मा की कुंडली में इस साल के अन्त तक मृत्यु-योग लिखा है। बची हैं, कि गईं?"

तभी अम्मा कोठरी से निकलकर छप्पर के नीचे विराट बरामदे में आईं, बोलीं, "यह कौन है?"

'यह' यानी जसोदा तब तक नाबदान के पास जा चुकी थी। जो जूठे बर्तन मलने को बचे थे उनमें से एक को उठाने लगी थी। बहन ने कहा, 'नहीं-नहीं मैं कर लूँगी', तब तक वह गीली ईंटों पर बैठकर बर्तन रगड़ने लगी थी। सुरेस मुँह टेढ़ा-मेढ़ा करता हुआ सिर पर बोझ लिए खड़ा था।

अपने कन्धे से झोला उतारकर उसे आँगन में नीम से नीचे खटिया पर पटकते हुए, उसके बाद सुरेस के सिर से जसोदा का ट्रंक उतारते हुए मैंने कहा, "यह तुम्हारी बहू है।"

बात मज़ाक में कही थी और अम्मा शायद समझ भी गईं। दो-तीन दिन पहले मैं खबर भेज चुका था कि दो बिलासपुरी मज़दूरों को लेकर गाँव आनेवाला हूँ। पर अम्मा ने तीखेपन से कहा, "लूमड़ कहीं का, क्या बक-बक कर रहा है? यह कौन है? और यह कौन है?"

"अपना ही साला है अम्मा। चिल्लाओ नहीं। ज़रा चाय बनाओ। उसके बिना काम नहीं चलेगा।"

"कौन है ये?" कहती हुई भाभी ने तब तक घर में प्रवेश किया। हाथ में पीतल का लोटा, मत्थे पर खिंचा हुआ आधा घूँघट। मोटी देह पर, जिसका सलोनापन अभी मिटा नहीं था, लिपटी हुई उठंग साड़ी।

मैंने उनके चरण छुए, झमेले में अम्मा के चरण अनछुए ही रह गए थे। लोटा एक किनारे रखकर पीठ पर गीला हाथ रखते हुए उन्होंने आशीर्वाद दिया।

कुछ-कुछ हाँफ रही थीं। गाँव के किनारे की बागें और पास के जंगल जब से कटकर वीरान बन गए तब से उन्हें और दूसरी औरतों को सवेरे-शाम वाली क्रियाओं के लिए दूर जाना पड़ता है। जहाँ भी कहीं किसी मेड़ की आड़ मिल जाती है या किसी इकलौते अरंडे की छाँह, उसी से गुज़ारा करना पड़ता है। पुराने ज़माने के ऋषिमुनि आज इस इलाके में होते तो नदी के एकान्त किनारे और किसी घने वन की तलाश में पेट दाबे-दाबे पन्द्रह साल से भटक रहे होते।

"ये तुम्हारी देवरानी है भौजी।" मैंने कहा, और उन्होंने अपने खूब गोल, खूब चौड़े चेहरे की मुस्कान का गुब्बारा बनाते हुए गन्दा लोटा उठाकर मेरी पीठ पर पटकना चाहा। इत्मीनान हुआ कि उन्होंने मज़ाक समझा, पर अम्मा बोलीं, "इसे लेकर इस्सी दम इस्सी दम वापस जाओ, नहीं तो टाँग तोड़ दूँगी।"

मैं भाभी को दूसरी ओर ले गया और जसोदा के बारे में बताने लगा।

"कौन आया है।" बरोठे में खटिया तोड़ते हुए बाप ने इसी बीच में पुकारा। उनके पास पहुँचा, पैर छुए, आसीस पाई। उन्होंने अपना सवाल दोहराया। मैंने कहा, "कमर के क्या हाल हैं?"

"अब लाठी के सहारे पुरानी बाग तक टट्टी चला जाता हूँ। पहले तो उधर के खंडहर में ही ईंटे रखनी पड़ी थीं," उन्होंने बताया। कमर का हाल मुझे मालूम हो गया। उसी के साथ, शहर में रहते हुए जिसे भूल गया था, उसकी याद भी ताजा हो गई, कि चाहे भौजी हों, चाहे बाप, सबके दिमाग पर जो समस्या सबसे ज़्यादा हावी है, वह टट्टी है। उसके अनेक नाम हैं दिशा मैदान, जंगल-झाड़ी, टट्टी। यानी जहाँ भी ओट मिल जाए उसी के पीछे मल-विसर्जन कर दो, उसे ज़्यादा गरिमामय बनाना हो तो हमारे इंटरमीडिएट के संस्कृत के पंडित का पुरीषोत्सर्ग कह लो। तेन कानेन तस्य शिरस्युपरि पुरीषोत्सर्गः कृतः।

"दवा कौन-सी कर रहे हैं?"

"अब तो ठीक हो गया हूँ। पंचगुण तेल की मालिश कराता हूँ।"

"कहाँ मिला?"

"बड़े भैया से"—यानी चाचा से, जिन्होंने मेरे बाग उजाड़े हैं और हम पर दीवानी के तीन दावे ठोक रखे हैं।

"कौन है?" कमर को सीधा करते हुए, और यह दिखाते हुए कि वे कितना ठीक हो गए हैं उन्होंने पूछा। मैंने जसोदा का पूरा इतिहास बता दिया।

कहा, "मेहनती औरत है। यह गूँगा लड़का भी यहाँ के गरियार मज़दूरों से दुगुना काम करता है। असाढ़ के दिन आ गए हैं। छानी-छप्पर का काम है। खेतों पर भी काम रहेगा। यहीं पर ये लोग महीना-दो महीना पड़े रहेंगे, आप लोगों को भी सुभीता रहेगा।"

"पर मैंने दूर से देख लिया है, उसका तो पाँव भारी है। काम क्या करेगी?"

"बर्तन तो माँज ही लेगी। आते ही बर्तन माँजने लगी है।"

"मर्द नहीं रहा तो पाँव कैसे भारी हो गया?"

"भगवान की माया है। सुनते हैं मरने के पहले वही उसके पाँव में पत्थर बाँध गया था।" बाप सोचते रहे। दीन भाव से बोले, "सत्ते बेटा, बुढ़ापे में मेरी नाक न कटाना।" "तुममें यही खराबी है बापू, कमर सीधी हुई नहीं कि आँय-बाँय-शाँय बोलना शुरू कर दिया।"

बहन ने पुकारा, "चाय तैयार है।"

अन्दर आँगन में चारपाई पर काँसे की थाली रखी थी। उसमें चार-छह आटे के लड्डू थे—गुड़ के नहीं, बाकायदा घी और शक्कर के, उनकी मटमैली गोलाकार सतह पर चिपकी हुई चिरौंजी और किशमिश दूर से चमक रही थी। पीतल का एक लोटा नीचे ज़मीन पर रखा था जिससे भाप उठ रही थी। उसी के पास स्टेनलेस स्टील का ग्लास रखा था। बनानेवाली कम्पनी का कागज़ी बिल्ला अभी तक उस पर चिपका था। मेरे सम्मान में, ज़ाहिर था, यह नया ग्लास निकाला गया है। इसे, और इसके जैसे तीन और ग्लास कुछ दिन पहले मैं ही शहर से खरीदकर लाया था।

तब तक शायद जसोदा और सुरेश की गाथा पूरे परिवार में फैल चुकी थी और दोनों को अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक आसन दिए जा चुके थे। जसोदा नाबदान से कुछ हटकर छप्पर के नीचे लिपे-पुते, पर धूल भरे चबूतरे पर मज़दूरों की लोकप्रिय मुद्रा में बैठ गई थी—पाँवों के दोनों पंजे जोड़कर आगे ज़मीन पर रोपे हुए, देह का सारा भार धरती पर जमे हुए नितम्बों को छोड़े हुए, दोनों हाथ घुटनों के बाहरी हिस्सों को समेटकर पाँवों को सहारा देने की गरज़ से आगे आकर फँसाए हुए, बायाँ पंजा दाएँ हाथ की कलाई को जकड़कर पकड़े हुए। चारपाई पर पड़े हुए अँगोछे की मदद से लोटे को पकड़कर ग्लास में चाय उँड़ेलते हुए मैंने सोचा, सात महीने की गर्भवती को इस आसन में क्या आराम मिल रहा होगा? जसोदा बहन से धीरे-धीरे जो बता रही थी उसका सम्बन्ध परमात्मा जी के ढुलमुलपन से था। ज़ाहिर था, नेता की कथा सुनाई जा चुकी है और बात का रुख अब हलके उपाख्यानों की ओर मुड़ चुका है। सुरेस आँगन के दूसरे कोने में नीम के पेड़ के नीचे अपने अल्यूमुनियम के लोटे में सत्तू घोल रहा था। मैंने थाली से एक लड्डू उठाकर उसे लेने का इशारा किया। बहन का ध्यान जसोदा पर था। मेरे लड्डू उठाते ही न जाने कैसे उसकी तीखी निगाह मेरी ओर मुड़ी। बोली, "अब घी का लड्डू खिलाकर उसका दिमाग न बिगाड़ो। अम्मा ने उसे पहले ही गुड़ दे दिया है।"

"दिमाग़ तो बेचारे का क्या बिगड़ेगा, हाज़्मा भले ही बिगड़ जाए।" मैंने कहा, पर उसे लड्डू देने पर आगे ज़ोर नहीं दिया।

रात में पुरवा का ज़ोर कम हो गया और आसमान पर असाढ़ के पहले बादलों की पर्त दिखाई देने लगीं। गर्मी की चिपचिपाहट से बचने के लिए मैंने बान की चारपाई पर दरी भी नहीं बिछाई थी, खटेटे में लेट गया था। मेरी आँख के आगे नीम के दो ऊँचे पेड़ थे। एक पेड़ जामुन का। चारपाई दरवाज़े के बाहर सहन में पड़ी थी। उसकी दाईं ओर कुछ हटकर बूढ़े बैलों की एक गोई बँधी थी, एक ऊँचे कद की गाय थी, काफ़ी दूध देनेवाली नस्ल की, पर उसकी पसलियाँ निकली थीं और दूध अब वह एक ही जून देने लगी थी। वह कितनी कुलच्छनी है, इसका ब्यौरा बाप पहले ही दे चुके थे, एक तो गाभिन होने के पहले ही वह

यकजुनी हो गई थी, दूसरे यह कि उसकी पिछली सन्तान बछड़ा न होकर बछिया थी। बछड़ा होता तो आगे चलकर वह इस गोई का जाँनशीन होता, वैसा ही एक दूसरा खरीदकर इन बूढ़े बैलों की जगह एक लस्टम-पस्टम नई गोई बन सकती थी। बछिया बेकार थी।

इस वक़्त यह बछिया ही मेरी नींद हराम किए हुए थी। बार-बार रम्भाती थी और, हालाँकि पिछले दिनों की लू में मच्छर-वंश का काफ़ी विनाश हो गया था, वह बराबर सिर झटक रही थी और पूँछ पटक रही थी। पूँछ बैल भी पटक रहे थे और रह-रहकर जुगाली रोककर मुँह से फुफकार जैसी निकाल रहे थे। बाहर के सहन में मैं अकेला था और मुझे नींद नहीं आ रही थी।

बड़े भाई की ड्यूटी दो मील दूर एक डाकबँगले पर थी। वे चकबन्दी में लेखपाल थे जो अफ़सरी ज़ीने की सबसे निचली सीढ़ी है। डाकबँगले में उनका कोई हाकिम रुका था जिसे गाय का शुद्ध दूध पीने की आदत थी। भाई की ड्यूटी लगी थी कि वे हाकिम के सोने के पहले दूध का ग्लास उसके कमरे में पहुँचाएँ और सवेरे जब वह सोकर उठे तो शुद्ध दूध में चाय की कुछ पत्तियाँ मिलाकर उसे बेड-टी के रूप में अर्पित करें। चूँकि वह ब्रह्म मुहूर्त में उठने का आदी था इसलिए भाई को वहीं डाकबँगले पर सोना पड़ गया था। मज़ाक में मैंने भाभी को सुझाव दिया था कि भाई की जगह रात मैं ही छत पर सो जाऊँ, पर उन्होंने जसोदा का नाम लेकर मेरे ऊपर मजाक पलट दिया था। कहा था कि तुम मेरे साथ ऊपर सोए तो यह बिलासपुरिया कुएँ में कूदकर मर जाएगी। इस वक़्त, रात के अँधेरे, अकेलेपन और पेड़ों में हवा की सरसराहट के बीच इस मज़ाक पर पुनर्विचार करते हुए मैंने जसोदा के बारे में सोचना चाहा पर अब बात बदल चुकी थी। मैं उसमें नेता की गर्भवती विधवा के सिवाय कुछ और नहीं देख पाया। बछिया बराबर रम्भाती रही।

एक इत्मीनान था। सुरेस और जसोदा यहाँ महीना-दो महीना चैन से रह लेंगे। उनकी सेवाएँ घर में सभी ने बिना ज्यादा रगड़-झगड़ के कुबूल कर ली थीं।

गाँव के दूसरे सिरे से कुत्तों के अचानक भूँकने की आवाज़ आई। कौन होगा या होंगे, जिसे या जिन्हें देखकर कुत्ते भूँक-भूँककर आसमान की छाती फाड़ रहे हैं? डाकू? मैंने बेचैनी से करवट बदली।

यह अख़बारों और अफ़वाहों की मेहरबानी है। आज से सात-आठ साल पहले तक मुझे इंसान का कोई डर नहीं था। अँधेरी रात में घनी बाग़ों और सुनसान वीराने से मैं अकेला निकल जाता था। चोर-उचक्के-डाकू-हत्यारे भी कहीं होंगे, इस कल्पना के ख़िलाफ़ मेरा दिमाग चारों ओर से मोहरबन्द था। डर तब भी लगता था, पर वह टेढ़ी बाग के पास पीपल पर रहनेवाले ब्रह्मराक्षस का या इमली के पेड़ के नीचे जिनका मज़ार बना है उन इमाम अली बाबा का था। धीरे-धीरे भूत-प्रेत-जिन्नात का अवमूल्यन हो गया, उनका खौफ़ झीना हो चला और, आज से चार-पाँच साल पहले वह दिमागी राम-राज्य क़ायम हुआ जिसमें मेरे लिए डर-जैसी चीज का कोई खास वजूद नहीं रहा।

इधर एक अजीब-सा ख़ौफ़ मुझे घेरने लगा था—मुझे, जिसके दर्जनों हथछुट साथी-सन्धाती थे, जो खुद डेली पैसेंजर्स एसोसिएशन का उपाध्यक्ष रह चुका था। हुआ यह था कि इतनी कम उम्र में ही मेरे देखते-देखते पूरा इलाका चोरों-उठाईगीरों, डाकुओं और बदमाशों, पियक्कड़ों और गुंडों से उफना चला था। चारों ओर चोरी-डकैती, बदमाशी-छुरेबाजी, तमंचाबाजी

और हत्याओं का बोलबाला था। अख़बार हाथ में लेते ही चाहे उसका पहला पन्ना हो, या ज़िलों की ख़बरोंवाला सातवाँ पन्ना—यही ख़बरें आपको घूरती हुई मिलती थीं। और जहाँ कहीं भी दो आदमी मिलते, सम्भाषण का शिष्टाचार कुछ ऐसे ही वाक्य से शुरू होता, 'उस्माननगर का हाल सुना? कल रात ब्रजलाल के यहाँ डाका पड़ गया। उसे तो वहीं गोलियों से भून दिया, और उसकी बहू के साथ—वह भी बचेगी नहीं।'

तो, बकौल किसी फ़िल्मी डायलॉग के, बात यहाँ तक पहुँच गई है! सिर्फ़, बकौल दूसरे फ़िल्मी डायलॉग के, आप डाकुओं ओर हत्यारों से यह नहीं कह सकते, 'अब आप जा सकते हैं।' अब न वे जा सकते हैं और न आप ही इन सबसे कहीं दूर जा सकते हैं। ये घटनाएँ अख़बारों और अफ़वाहों में ज़हरीली मधुमक्खियों की तरह चिपटी हुई हैं। आप पढ़ें या न पढ़ें, सुनें या न सुनें, वहाँ से उड़कर वे आपके चेहरे पर मँडराने लगती हैं और आपकी चेतना पर बार-बार बेरहमी से भनभनाती हैं।

नतीजा? रेल से सफ़र कर रहा हूँ। जाड़े की शाम, आठ बजे हैं। एक छोटे स्टेशन पर रेल रुकती है। डिब्बे का दरवाजा खोलकर दो नौजवान—मेरे जैसे ही—अन्दर आते हैं, फ़र्क इतना कि दोनों के बड़ी-बड़ी मूँछें हैं जो रोबीला दिखने के लिए बढ़ाई गई हैं और वे रोबीले दिखते भी हैं। मेरा तनाव बढ़ जाता है। मुझे लगता है कि एक की जेब से देसी तमंचा अब निकला, अब निकला। अपनी कल्पना में दूसरे नौजवान को मैं दरवाजे पर पैना छुरा लिए खड़ा देखता हूँ। चलती गाड़ी से बाहर कूदने की राह तक नहीं बची है। सब मुसाफिर पत्थर-जैसे बैठे हैं। सिर्फ़ चेहरों पर घबराहट है। तमंचेवाला नौजवान एक-एक मुसाफिर की घड़ी, अँगूठी, पर्स निकलवाता चलता है—औरतों ने गले की चेन, हाथों के कंगन पहले ही उतारने शुरू कर दिए हैं... पर यह फ़िल्म, जिसमें मैं अकेला इन दो लुटेरों पर काबू पाता हूँ, नेता पर हुई ट्रेन डकैती के बाद कई बार देख चुका हूँ। उसे दोहराना बेकार है।

तब एक नई फ़िल्म, जो अभी-अभी रिलीज़ हुई है। मैं परमात्मा जी की कोठी पर एक कमरे में लेटा हूँ। परमात्मा जी सपरिवार पहाड़ पर गए हैं। यह मेहमानों का कमरा है। बाहर गर्मी है। भीतर कूलर चल रहा है। मेरे नीचे रबर का मुलायम गद्दा है। जिस पर मैं ऐसे ऐश से पड़ा हूँ जो महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, शहंशाह अकबर, महाबली नैपोलियन तक की क़िस्मत में नहीं लिखा था। मैंने कमरे का दरवाजा अन्दर से बन्द कर लिया है। उधर से किसी के आने का डर नहीं। खिड़कियाँ, जो बाहर पिछवाड़े खुलती हैं, सब तरह से सुरक्षित हैं। बाहर की ओर जाली के पल्ले हैं, वे मजबूती से बन्द हैं। उसके बाद लोहे का ग्रिल है, अन्दर की ओर शीशे के पल्ले हैं। उनकी सिटकनी लगी है। इस तेहरी क़िलेबन्दी को तोड़कर किसी का अन्दर जाना आसान नहीं। कूलर की भन्नाहट की लोरी सुनते हुए मैं सो जाता हूँ। पर कुछ घंटे बाद जैसे ही मेरी नींद खुलती है मैं अपने पलंग के पास कुछ लोगों को खड़ा देखता हूँ। एक आदमी मेरी खोपड़ी पर लोहे की मोटी छड़ ताने खड़ा है, दूसरा मेरी कमर के पास हाथ में छुरा लिए, उसकी नोक मेरी छाती से छुवाता हुआ, बैठा है, तीसरा हाथ बढ़ाकर मुझसे कह रहा है, 'चाभियाँ निकालो।' खिड़की की तेहरी क़िलेबन्दी टूट चुकी है। कमरे में बाहर के गलियारे की रोशनी फैल रही है।

ऐसे दर्जनों दृश्य हैं जिनका भूत मेरी खोपड़ी पर हमेशा चढ़ा रहता है। पर मेरे दिवास्वप्नों ने, मेरी खोपड़ी में बराबर चलनेवाले फ़िल्मों ने इनका इलाज भी खोज लिया है।

इलाज यह है—मुझमें अपार पौरुष है, अदम्य साहस है। तभी परमात्मा जी के गेस्टरूम में इस वक़्त मेरा जिस्म अचानक तन गया है—पर डाकू इसे भाँप नहीं पाते। तलवार चलने की-सी फुर्ती से मेरे दोनों पैर ऊपर उठते हैं। मेरी कमर के पास बैठा हुआ खंजरबाज़ लुढ़ककर ज़मीन पर गिर जाता है, चाभी माँगनेवाले हाथ को घसीटकर मैं पलंग पर फेंक देता हूँ और पल के एक बटा चालीस अंश में मेरे सिरहाने खड़े डाकू की छड़ का वार मेरी जगह डाकू नम्बर दो की खोपड़ी पर पड़ता है, फिर डाकू नम्बर एक के सम्भलने के पहले ही वह छड़ मेरे हाथ में आ जाती है। उसके बाद शोरगुल, अखबारों की सुर्खियाँ, मेरा फोटू, हज़ारों बधाई-सन्देश। बस इतना हुआ कि तीनों में मरा कोई नहीं, तीनों डाकू ज़िन्दा पकड़े गए हैं, बक़ौल स्थानीय हिन्दी अख़बारों के—'घायलावस्था' में। मैं खुद अपने साहस, अपनी चुस्ती, अपनी फुर्ती से हैरान, बक़ौल उन्हीं अखबारों के, 'अचम्भित!'

क़दम-क़दम पर डकैतों और हत्यारों का खतरा है, क़दम-क़दम पर बदतमीज़ बाबू और अफ़सर मिलते हैं, कदम-कदम पर धाँधलेबाजी है। इस डर और ज़लालत के माहौल में मैं बराबर अपने को कभी सूरमा, कभी जन-मन-गण-अधिनायक, कभी चतुर वक़्ता, कभी ओलम्पिक-विजेता के रूप में देखा करता हूँ। अकेले चलते-चलते कभी-कभी मेरे दाहिने हाथ की मुट्ठी किसी काल्पनिक रिवाल्वर के बेंट पर कस जाती है, तर्जनी बार-बार ट्रिगर दबाने को मुड़ती है, कभी भारत के राष्ट्रपति से इनाम पाते वक़्त बोला जानेवाला कोई शिष्ट वचन मेरे मुँह से निकल पड़ता है, कभी किसी अफ़सर को फटकार लगानेवाला ज़हरीला जुमला—पर जैसे ही मेरी नाटकीय आवाज़ मेरे कान में पड़ती है, सिनेमा की रील टूट जाती है।

इस वक़्त, जब तक कुत्ते बोलते रहे, परमात्मा जी के बँगले पर प्रदर्शित पुरुषार्थ के सहारे मैंने अपने को सँभाले रखा। पर जब कुत्तों का शोर बढ़ा और उसमें किसी मोटर की आवाज़ जुड़ गई और खौफ के तन्तुजाल मुझे चारों ओर से बाँधने लगे। यह जीप की आवाज़ ही है न? पुलिस की वर्दी पहने हुए डाकुओं का कोई गिरोह सचमुच गाँव में तो नहीं घुस रहा है? मेरी सारी देह पाँच फुट सात इंच लम्बे एक कान में परिवर्तित हो गई। साँस रोककर मैं मकान से लगभग पचास गज़ दूरी पर निकलनेवाले गलियारे में मोटर की रोशनी फैलने का इन्तजार करता रहा—इस यकीन को भी सहलाता रहा कि कहीं कुछ नहीं है, मैं यूँ ही घबरा रहा हूँ।

पर गलियारे के मोड़ पर सचमुच ही किसी गाड़ी की रोशनी दिखाई दी। उसका चक्करदार घेरा गलियारे पर छा गया और देखते-देखते एक मोटरसाइकिल मेरे घर की ओर मुड़ी। मैं चारपाई से उछलकर खड़ा हो गया, निगाह का एक कोना मोटरसाइकिल की हेडलाइट से चकाचौंध था, दूसरा चारपाई के नीचे पड़ी हुई लाठी को देख रहा था। तभी मोटरसाइकिल की भर्राहट बन्द हो गई, उसका सवार उसी तरह गद्दी पर बैठा रहा और पीछे से मेरे बड़े भाई एक प्लास्टिक का थैला सम्भालते हुए उतर पड़े।

"अभी कैसे आए?" मेरे सवाल में थोड़ी भर्राहट थी क्योंकि मन की बेचैनी अभी एकदम दूर नहीं हुई थी, फ़ेड-आउट होते हुए खयालों में मेरा एक दूसरा रूप पप्पी की कार्बाइन से दनादन गोलियाँ बरसाता हुआ डकैतों के एक बड़े गिरोह का मुकाबला कर रहा था।

भैया ने सवाल के जवाब में सवाल किया, "तुम कब आए?"

वे इसका जवाब सुनें या मेरे पहले सवाल का जवाब दें, इसके पहले ही मोटर

साइकिल-सवार ने कहा, "चलें भाई, नहीं तो वह रात-भर सियारिन की तरह हुआती रहेगी।" कहकर और इस तरह अपनी धर्मपत्नी के बारे में अपना सम्मान जताकर उसने गाड़ी स्टार्ट कर दी। कुछ ही पलों में उसकी मोटरसाइकिल गलियारे के नुक्कड़ पर तेज़, तिरछी रोशनी फेंकती हुई ग़ायब हो गई। कुछ देर कुत्तों का कोहराम और गाड़ी की फट्-फट् हवा में गूँजी, फिर धीरे-धीरे यह बस रात की बेआवाज़ आवाज़ों में थिर हो गया।

भैया ने मेरा ही हालचाल लेना शुरू किया। मैं परमात्मा जी का काम छोड़ आया हूँ, यह मेरा हाल था। मैं जसोदा और सुरेस नाम के दो मज़दूरों को कुछ महीने के लिए, जब तक घर में छप्पर-छानी और धान की रोपाई का काम है, ले आया हूँ—यह चाल थी। अँधेरा था इसलिए भैया के चेहरे से पता नहीं चल पाया कि वे उसे चाल मान रहे हैं या कुचाल। उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा, "ज़माना, ख़राब है, गाँव में गुंडागर्दी और दारूबाजी का जोर है। बापू खटिया पर पड़े हैं। मुझे सरकारी काम से दो-दो, तीन-तीन दिन बाहर रहना होता है। ऐसी हालत में बाहरी औरत का झमेला बड़ा गड़बड़ है। बाहर से आई है, कोई छेड़-छाड़ दे..."

"करेगा सो मरेगा। भली औरत है पर मिट्टी का ढेला नहीं है। कोई बात हुई तो खुद निबट लेगी। और तुम? तुम्हें तो कल शाम तक लौटना था?"

भैया ने समझाया : "साहब को इसी वक़्त शहर जाना पड़ गया है। शहरी गुंडों के चोंचले हैं। वहाँ चौक में चौराहे के बीचोंबीच हनुमान जी का मन्दिर बना है। जानते ही हो, आजकल शंकर जी के मुकाबले हनुमान जी पर ज़्यादा ज़ोर है। कहीं भी उनकी मठिया बना लो और एक करें क़िस्म के हिस्ट्रीशीटर को पुजारी का बाना पहनाकर खड़ा कर दो। हर मंगल और सनीचर को सैकड़ों रुपया चढ़ावे में गिरने लगेगा; एकाधं क्विंटल लड्डू ऊपर से। और आठ-दस घंटे तक एक से एक फ़ैशनेबुल लेडियों के दर्शन। जो भी हो, वे यह चौराहेवाला मन्दिर रातों-रात बनाकर तैयार कर रहे थे कि नगर महापालिकावालों को खबर लग गई। आजकल वहाँ कोई जानदार अफ़सर आया है। वह उसी वक़्त फौज-फाटे के साथ मौके पर पहुँचा और अधबना मन्दिर तोड़ दिया गया। इसी बात पर झमेला खड़ा हो गया है। दंगा हुआ नहीं है पर किसी भी वक़्त हो सकता है। रात से ही भक्तों के जुलूस पर जुलूस निकल रहे हैं। उस बेचारे प्रशासक का पुतला जलाया जा चुका है, तबादले की माँग हो रही है, उसे महमूद गज़नवी बताकर गालियाँ दी जा रही हैं। ताज्जुब है कि शहर में रहते हुए दोपहर तक तुम्हारे कान में इसकी भनक नहीं पड़ी।"

"पर इससे तुम्हारा क्या लेना-देना?"

"है! बताता हूँ! शहर में शाम से दफा 144 लगा दी गई है। इन्तजाम के लिए हमारे सेटिलमेंट अफ़सर को भी इसी वक़्त शहर बुला लिया गया है। चकबन्दी के वे सेटिलमेंट आफ़िसर तो हैं ही, मजिस्ट्रेट भी हैं। अब रात-भर उन्हें चौक की कोतवाली में पुलिस के साथ ड्यूटी देनी होगी। ज़िला मजिस्ट्रेट का सन्देसा रात को दस बजे आ गया था। उसी वक़्त वे झोला-झंगड़ उठाकर शहर के लिए रवाना हो गए। उधर वे शहर गए, इधर हमारे साथ के भाई लोगों ने उनके स्वागत-सत्कार के लिए मँगाई गई मिठाई ओर नमकीन साफ़ की। सिर्फ़ कंसालिडेशन अफ़सर ने कुछ नहीं खाया। उपवास किए हुए थे। एक दारू की बोतल बची हुई थी। कत्थई रंग की। क्या कहलाती है, साली, रम ही न? बस, वही लेकर चले गए। यह जगन्नाथ है, हमारे साथ का लेखपाल। मुझे मोबाइक पर यहाँ छोड़ने आया था।"

"अब लेखपाल भी मोबाइक पर चढ़ते हैं?"

भैया को अपने प्रिय साथी जगन्नाथ की सत्यनिष्ठा पर यह आक्षेप नागवार लगा होगा। बोले, "क्यों, क्यों? मोबाइक पर चढ़ने के लिए किसी ख़ास बनावट के चूतड़ होने चाहिए क्या?"

रात के बारह बजे चकबन्दी विभाग के कारकुनों के शरीर और शरीर-रचना पर विमर्श करने की इच्छा नहीं हुई। बात मैंने वहीं छोड़ दी। दरवाज़ा खुलवाने के लिए कुंडी खटखटाते हुए मैंने पूछा, "शहर में तुम्हारे अफ़सर को सवेरे शुद्ध गाय का दूध कैसे मिलेगा?"

"जैसे यहाँ मिला था। भैंस के दूध में पानी कुछ ज़्यादा मिला दो, गाय का दूध बन जाएगा।"

सवेरे देर से नींद खुली। उठते ही मैं नहर की ओर चला गया। वही, जिसे पंडित लोग दिव्य निपटान कहते हैं, वह हुई और, जैसा कि गाँव के पानी के असर से हमेशा होता है, खुलकर हुई। दातून की। उसके बाद पास ही आम के अपने एक पुराने बाग में गया। इतना पुराना था कि इमारत होती तो पुरातत्त्व विभाग इसे अब तक अपनी रखवाली में ले चुका होता और खर्जूर वाटिका से निकले खजुराहो महोत्सव की तरह अब तक यहाँ दस-पाँच आम्र-कानन-महोत्सव मनाए जा चुके होते। यह सिर्फ़ अब से नौ-पीढ़ी ऊपर के पुरखों का बाग़ था। बाद की आठ पीढ़ी के सन्तोष के पैमाने की शक्ल में वह अब तक मौजूद था। मतलब यह कि हमारे खानदान की पिछली आठ पीढ़ियों ने इस बाग़ के होते हुए अब तक कोई दूसरा बाग नहीं लगाया—कलमी आमों के उस छोटे-से बाग़ को छोड़कर जिसे हमारे एक पुरखे यानी पिताश्री ने लगाया और दूसरे पुरखे यानी चाचा ने उजाड़ा। पेड़ लगाने में जिस तरह हमारे पिछले पुरखों का उद्यम लगभग नदारद था, वैसे ही यह बाग़ भी अब तक नदारद हो चुका था। रेह-भरी उसरीली ज़मीन में सिर्फ़ तीन-चार आम के ऊँचे पेड़ खड़े थे जिनको सम्पूर्ण ठूँठ की हैसियत पाने में दो-तीन मौसमों की ही कमी रह गई थी। पर वसुन्धरा देवी की महिमा देखिए, उनमें अब भी एकाध हरी डालें थीं और उनमें अब भी कुछ पके-अधपके आम लटके हुए थे। जामुन के भी एकाध पेड़ थे जिनकी निचली शाखाएँ कट चुकी थीं और फुगनी पर हरियाली की एक कटी-फटी छतरी बची थी। वसुन्धरा देवी का यह दूसरा करिश्मा था। उन छतरियों में पके हुए जामुन लगे थे और उनमें से कुछ चूकर धरती पर गिरे थे।

बाग़-बग़ीचा, आम-जामुन, उमड़ती हुई घटा आदि-आदि के बावजूद वह मसाला नहीं बन पा रहा था जो ग्राम-गीतों और रस-भरी ग्राम-कथाओं की इमारत में लगाया जाता है। क्योंकि धरती में ऊसर फूट रहा था, वनस्पतियों की पीढ़ियों का निकम्मापन चर चुका था और भारत माता सचमुच ही मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी बन गई थी।

इस रेह-भरी धरती पर खड़े होते ही दिमाग़ में कुछ कौंधा और उसी के साथ कुछ टूटता-सा जान पड़ा। लगा कि बाप-भाई-माँ-बहन-भाभी—इन सबसे अब ऊपरी रिश्ता-भर रह गया है। मामलों-मुकदमों में अपने फँसाव के बावजूद अब मेरा जी उसमें रम नहीं पा रहा है। मैं उनसे उखड़ चुका हूँ।

स्टेशन पर पुरवा का पहला झोंका लगते ही तबीयत में जो उछाल कल जागा था वह वक़्त नदारद था। लगा, इस ऊसर धरती को, इन ठूँठों से भरे भाग के खंडहर को भी मैं पीछे छोड़ रहा हूँ। बेचैनी यही है कि इसके बाद का पड़ाव कहाँ होगा, यह साफ़ नहीं है।

बहरहाल, रस्म अदायगी के लिए ढेले फेंककर दो-चार पके आम गिराए, कुछ जामुन बीने, उन्हें ले जाकर नहर के मटियाले पानी में धोया, खाया, उसके बाद अचानक मूड बदलने लगा। पेट लगभग भर चुका था। एक दिवास्वप्न जागा—मैं गाँव में रह रहा हूँ, इधर नहर के पासवाली सारी उपजाऊ ज़मीन मेरे बाप की है, मैं सवेरे इधर सैर करने के लिए आया हूँ और अकेला नहीं हूँ। गाँव के दस-पन्द्रह नौजवान 'भैया जी, भैया जी' कहते हुए मेरे पीछे चल रहे हैं। इस उसरीले बाग़ की जगह लहलहाता हुआ एक बड़ा फ़ार्म है, उस तरफ़ जहाँ वास्तव में सिर्फ़ मिट्टी का ढेर है, तीन कमरे का एक फ़ार्म हाउस खड़ा है। उसमें वह सबकुछ है जो परमात्मा जी के घर में है—फ्रिज़, टी.वी., सोफ़े।

अचानक एक कौवा सिर के ऊपर कहीं शीशम की डाल से बोला और दिवास्वप्न टूटा। ऊसर कुछ पहले से ज़्यादा फैला हुआ नज़र आया। तब यह भी देखा, आसपास कोई चिड़िया उड़ती नज़र नहीं आती। वे भी इस दृश्य से गायब हो चुकी थीं।

नहर से लौटने के बाद मूडू, परीदीन, बन्दीहीन और सुखदीन नामक चार मज़दूर घर पर छप्पर तैयार करते हुए मिले। उनके काम का ढंग उनका अपना था। यानी उसमें काम का कम, तैयारी का जोश ज़्यादा था। वे चारों बीड़ी पी रहे थे और आँख फाड़कर जसोदा और सुरेस को देख रहे थे। एक पीढ़ी पहले वे अब तक पाव-भर गुड़ खाकर, दो लोटा पानी पीकर चिलम फूँक रहे होते। बहरहाल, इस वक़्त वे काम की तैयारी में थे। काम करनेवाले सिर्फ़ जसोदा और सुरेस थे।

लगभग बीस फुट लम्बे और दस फुट चौड़े छप्पर को बाँधने का काम यही दोनों कर रहे थे। इन्हें मैंने ईंट-गारा ढोते, सीमेन्ट कांक्रीट का मसाला तैयार करते देखा था; उन्हें यह करते देखकर हैरत हुई। छप्पर का नीचे का ढाँचा बाँस और झाँखरों को लेकर बनना था और ये सवेरे से अब तक उसे लगभग पूरा कर चुके थे। अब वे कुश-कास के सहारे छप्पर छा रहे थे। उनकी उँगलियाँ मशीन की-सी नियमितता से चल रही थीं। उसी के साथ उँगली की सुघड़ हरकत पूरी क्रिया को सिर्फ़ मशीनी होने से बचाती थी। उसके पीछे पन्द्रह-बीस शताब्दियों की कला थी।

बापू खटिया पर यथावत् पड़े थे। उनसे कहा, "धान की रोपाई में इन्हें देखिएगा। अपनी मेहनत से गाँववालों का मुँह धुँवा कर देंगे।"

वे बोले, "औरत बड़ी फुर्तीली है।"

मूडू बोले, "जनाना खूबसूरत है।"

मैंने कहा, "इससे कभी बदमाशी की बात करोगे तो तुम्हारे सत्तर जूते मारेगी।" मूडू—खानदानी चोर—विनम्र बन गए, बोले, "भैया जी, मैं इससे क्या बोलूँगा। ये राँड हमें खुद छोड़े रहे, इसे यही समझा दो।"

शाम को शहर लौटते वक़्त, जैसे हमारे बीच हमेशा ऐसा ही रिश्ता रहा हो, मैंने जसोदा के कन्धों पर दोनों हाथ रखकर कहा, "खुश रहो जसोदा, यहाँ आराम से दो-एक महीना रहो। फिर तुम्हें शहर वापस ले चलेंगे। हमारा नन्हा राजकुमार किसी झोंपड़ी में नहीं, अंग्रेजी अस्पताल में पैदा होगा। फ़िक्र मत करो।"

कवियों और कथाकारों में चलन है कि वे अपनी नायिका की आँखों में अलग-अलग मौक़ों पर अलग-अलग ढंग की रोशनी या रोशनी की नामौजूदगी देखते हैं। कभी उनकी आँखों

में चमक बढ़ जाती है, कभी बुझ जाती है, कभी उनसे रस टपकता है, कभी घृणा चूने लगती है। एक तरह से उनकी आँखें उनके रूहानी मौसम के बैरोमीटर का काम करती हैं। जो भी हो, मेरी इस पीठ-थपथपाऊँ और तबीयत-सहलाऊ वार्ता का कोई असर जसोदा की आँखों पर नहीं पड़ा। नेता के न रहने के बाद से उनमें जो एक सूनापन आ गया था, यह उसी तरह कायम रहा। पर मेरे हाथों के दबाव से उसके कन्धे ढीले हो गए।

उसी वक़्त मेरी पीठ पर एक धमाका हुआ। सुरेस ने मुक्का मारा था। मेरे लिए ज्यादा स्वाभाविक होता कि पलटकर मैं सुरेस के जबड़े पर अपना मुक्का जमाता और हमेशा के लिए उसे आत्म-संयम का एक धमाकेदार पाठ पढ़ा देता। पर एक अस्वाभाविक माहौल में मेरी प्रतिक्रिया भी अस्वाभाविक हुई। एक झटके के साथ मैं जसोदा से अलग हो गया। सुरेस ओंठ दबाए हुए, मुझे अब भी ध्यान से देख रहा था। मैंने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। कहता रहा, "जसोदा, तुम यहाँ आराम से रहना। अम्माँ की बकवास पर ध्यान न देना। फटे बाँस की तरह दिन-भर भाँय-भाँय करते रहने की उनकी आदत है। आवाज़ बहन की भी तीखी है पर उसका मन मुलायम है। कोई बात हो तो उसी से कहना, या बड़े भैया से। मुझे खबर मिल जाएगी।"

जसोदा मेरे और पास आ गई। मैं उसे अपनी बाँहों में ले सकता था पर सुरेस की मुट्ठी अब भी बँधी हुई थी, और यह भी लग रहा था कि जसोदा कोई खास बात कहने के लिए मेरे इतना पास आई है। जब वह बोली तो लगा कि खड़े तो हम एक ही धरातल पर हैं पर हमारे बीच एक नहीं, दो दुनियाओं को दूरी है—एक दुनिया अतीत की है, एक भविष्य की। वह बोली, "पर मुंसी, तुम्हारे नेता को क्या हो गया था? तुमने कभी बताया नहीं? वह ऐसा-वैसा नहीं था। बड़ा बहादुर था। दो-दो मन का बोझ पीठ पर लादकर कोसों चल सकता था। उसे क्या हो गया? किसने मार दिया? उसे किसी ने क्यों मारा?"

वह रोने लगी थी। एक पल मैं वैसे ही खड़ा रहा। फिर सुरेस की बँधी मुट्ठी को तिरस्कार से देखते हुए मैंने जसोदा के कन्धों पर दुबारा हाथ रखते हुए कहा, "परेशान न होओ जसोदा, मैं सारी बात का पता लगा लूँगा, और एक-एक से बदला लूँगा।"

गूँग-बहरे सुरेस ने इस बार मुक्के का प्रयोग नहीं किया। किस बात का बदला? किससे? सोचे बिना ही मैं इतनी बड़ी बात कह गया। क्यों? जो भी हो, यह कह चुकने पर मैंने अपने को अपने से बेहतर हालत में पाया।

○ ○ ○

एक जूनियर इंजीनियर ठेकेदार साहबवाले मकानों पर बिजली के काम की देखरेख करने आया करते थे। जिस अधूरे मकान में मैंने अपना डेरा डाला था, उसके पिछवाड़े कुछ दूरी पर उनका क्वार्टर था। सरसों का शुद्ध तेल, शहद, पापड़, मुँगोड़ी जैसी चीजें हमारी नई बस्ती में अभी सुभीते से नहीं मिल पाती थीं और उम्दा चीजों के शौकीन अब भी कई किलोमीटर चलकर शहर के पुराने बाज़ार से उन्हें ख़रीदते थे। जूनियर इंजीनिजर साहब के घर का यह सामान मैं कभी-कभी ख़रीदकर अपने साथ ले आता था। इस प्रेम-व्यवहार के बदले उन्होंने अपने स्कूटर पर मुझे ड्राइविंग सीखने का मौक़ा दे दिया था। दिन को काम के वक़्त मैं कभी-कभी उनका स्कूटर लेकर चलाने की मश्क करता था। चलाना आ गया था, पर मश्क अभी पूरी नहीं हुई थी।

उसी शाम, जिस दिन मैंने बहुत दिन बाद कानून की कक्षा देखी थी, मैं स्कूटर लेकर सड़क पर आया। मुझे पन्द्रह-बीस मिनट में वापस आ जाना चाहिए था। पर उस दिन पिछले दिनों की बूँदाबाँदी के बाद जनवरी का आसमान कुछ खुला था और शाम होने के पहले ही हलका कोहरा चारों ओर फैलने लगा था। शहर के बाहर की यह सड़क लगभग सुनसान थी। स्कूटर पर बैठकर मैंने ठंडक और मुँह पर हवा के हलके झोंके महसूस किए। मैं काफ़ी देर सड़कों का चक्कर लगाता रहा; जल्दी लौटने की मज़बूरी से बेख़बर हो गया।

अँधेरा होने पर स्कूटर की रोशनी में चलने का पहला मौक़ा था। मैंने उसकी रफ़्तार बढ़ा दी और बिल्कुल नए क़िस्म की उमंग का अनुभव करता हुआ बस्ती के दूसरे छोर पर एक नए बाज़ार में पहुँच गया। वहाँ ठसक के साथ स्कूटर रोककर मैंने पान खाए। उसके बाद आगे बढ़ता हुआ राष्ट्रीय राजमार्ग पर आ गया और उस पर चलती हुई बसों और ट्रकों के साथ होशियारी से स्कूटर चलाता हुआ एक तिराहे पर पहुँच गया।

तिराहे से निकलनेवाली सड़क सँकरी और टेढ़ी-मेढ़ी थी। वह हमारी नई बस्ती के एक छोर पर सीमा रेखा का काम करती थी। इसके किनारे-किनारे सटाकर उगाए गए घने यूकेलिप्टसों की दो दीवारें जैसी बन गई थीं। हलके कोहरे में सड़क के किनारे जलती हुई ट्यूबलाइटों का प्रकाश धीमा था, पर उस सड़क पर मुड़ते ही मुझे सारा परिमंडल बड़ा लुभावना, मुझे अपने में समेटता-सा जान पड़ा। मैं जानता था कि यह सड़क आगे जाकर सरकारी जंगलों में खो जाएगी पर उसके बहुत पहले बाईं ओर जानेवाली एक दूसरी सड़क मुझे सीधे अपने अड्डे पर पहुँचा देगी।

पेड़ों की दीवार से दोनों ओर घिरी सुरंग जैसी इस पतली, टेढ़ी-मेढ़ी सड़क पर मैं उमंग के साथ बढ़ता जा रहा था, तभी आगे की सभी रोशनियाँ बुझ गईं। मुझे झटका-सा लगा—दैत्याकार घने पेड़, वीरानगी, अँधेरा और स्कूटर जिसे चलाने के अलावा उसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता था, इन सबने मिलकर मुझे एक क्षण के लिए कुछ व्यग्र किया, पर इस विश्वास से कि कुछ दूर आगे इसी रास्ते पर मुझे अपने डेरे पर ले जानेवाली सड़क मिलेगी और शायद वहाँ की रोशनियाँ बुझी न होंगी, मुझे दिलासा मिला; मैं आगे बढ़ता रहा।

मुझे पता नहीं कि सड़क से दाईं ओर निकलनेवाले एक और भी पतले रास्ते पर मेरा स्कूटर कब उत्तर आया, इसका एहसास मुझे तब हुआ जब वह रास्ता स्कूटर के लिए सँकरा पड़ गया और एक पगडंडी में तबदील होने लगा। मैं अँधेरे और कोहरे में देख नहीं सकता था, पर दाएँ-बाएँ स्कूटर की हेडलाइट से जो रोशनी फैल रही थी वह कुश-काँस के झंखाड़ और दूसरी बेतरतीब झाड़ियों पर पड़ रही थी। स्कूटर घुमाने की वहाँ जगह न थी। उतरकर मैंने उसे मोड़ा और उसी रास्ते सड़क तक वापस लौटने की कोशिश की। स्कूटर चलाना चाहा, पर वह स्टार्ट नहीं हुआ।

मैं दोनों हाथों स्कूटर को घसीटता हुआ पगडंडी से वापस लौटा। कोई वजह नहीं थी, पर एक अजीब-से आतंक ने मेरे फेफड़ों को जकड़ लिया था; साँस लेने में दिक्कत होने लगी थी। सड़क पर पहुँचकर मन में कुछ सहजता आई। यहाँ मैंने रुककर एक बार फिर स्कूटर स्टार्ट करना चाहा, कोई नतीजा नहीं निकला।

अँधेरे में सुनसान सड़क पर मैं स्कूटर घसीटता हुआ उस तिराहे की ओर बढ़ा जहाँ से एक चौड़ी-सीधी सड़क मुझे मेरे डेरे तक पहुँचानेवाली थी। चारों ओर सन्नाटा था। जानवरों

और चिड़ियों की आवाज़ें थमी हुई थीं। मेरे आसपास कोई आबादी न थी। सिर्फ़ मेरे पीछे बाईं ओर दूर-दूर कोहरे में सड़क की मद्धिम रोशनियाँ चमक रही थीं।

अचानक मैंने पाया कि मेरे दोनों ओर यूकेलिप्टसवाली दीवारें टूट चुकी हैं। मैं फिर एक पगडंडी पर हूँ जो पहलेवाली से कुछ ज़्यादा चौड़ी है पर जिसके किनारे उन्हीं ठिगनी झाड़ियों का जंगल है। मैं दोबारा वापस लौटा और सड़क पर आया। यहाँ आकर मैंने एक पेड़ के पास स्कूटर खड़ा कर दिया।

ज़ोर-ज़ोर से साँस ली। चारों ओर अँधेरा और कोहरा, ऊपर घने पेड़ों की सरसराती हुई पत्तियाँ। दाईं ओर और आगे झाड़ियों का अछेद्य विस्तार, बाईं ओर दूर पर रोशनी की मद्धिम लहरें, मोटरों के हार्न की आवाज़ें, पीछे—बहुत पीछे रोशनी की उजास।

अजीब-सा भय, पर यह भय नहीं कि दाईं ओर के जंगल से तीन आदमी अचानक सामने आकर मेरा स्कूटर छीन सकते हैं, मेरी गर्दन रेत सकते हैं। सिर्फ़ एक अपरिभाषित भय।

मैंने कभी शराब नहीं पी, पर मुझे जिस दिमाग़ी अव्यवस्था ने जकड़ लिया था वह शायद शराब के नशे में ही आ सकती हो। फिर भी जितने ठंडे ढंग से सोच सकता था, सोचा। सोचा कि इस भटकाव से बचने का सिर्फ़ एक रास्ता है, वह यह कि इस यूकेलिप्टसवाली सड़क को तब तक हाथ से न जाने दूँ जब तक रोशनी के दायरे में न आ जाऊँ।

आगे बढ़ने का सवाल ही न था। स्कूटर घुमाकर उसे सड़क पर घसीटना शुरू किया, लौटते में रोशनी की कतारें अब बाएँ के बजाय बहुत दूर दाईं ओर थीं। अपनी समझ का रेशा-रेशा चौकन्ना करके देखता रहा कि दुबारा बाईं ओरवाली जंगली पगडंडी में न धँस जाऊँ, जल्दी-से-जल्दी वहाँ पहुँचूँ जहाँ पूरी-पूरी रोशनी भले ही न हो, उसकी उजास तो हो।

पता नहीं कि स्कूटर घसीटते-घसीटते कब मेरी चाल तेज से बढ़कर दौड़ में बदल गई थी। पता तब चला जब लगा कि फेफड़े चौगुना काम कर रहे हैं। रुका, सुस्ताया, और यहाँ से दाईं ओर रोशनियाँ कुछ नज़दीक आती जान पड़ीं। तब लम्बी साँस खींचकर अपने को सहज बनाने की कोशिश करते हुए, मैंने स्कूटर को फिर से स्टार्ट करने की कोशिश की। दो-तीन ठोकरों के बाद वह स्टार्ट हो गया।

○ ○ ○

किसान के घर का संस्कार—नींद टूटते ही बिस्तर से उठ जाना। यही पुरानी आदत है। पर आज आँख खुलने पर उठा नहीं, बिस्तर पर पड़ा रहा।

पिछली रात के अनुभव से अभी छुटकारा नहीं मिला था। अँधेरी राहों की भूलभुलइयाँ का दबदबा अभी मन पर हावी था। पर मुझे यह भी एहसास था कि यह एक गुज़रे हुए, उलझाव भरे कल का खुमार भर है। असलियत यह थी कि उस अँधेरे के घेरे में भी मैंने होश नहीं खोया था, आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, किसी-न-किसी राह से मैं अपनी सड़क पर आ गया था।

"आँखें मूँदकर मैंने दोबारा सोने की कोशिश की। पर जानता था, सो नहीं सकूँगा।"

यूनियन की शुरुआत ही गलत थी। उस वक़्त जो हुआ था, खेल-खेल में किया गया था। तब पता नहीं था कि जो करने जा रहे हैं, वह खेल नहीं है।

भूतपूर्व राज्यपाल पाल बाबू, भूतपूर्व श्रममन्त्री लाल बाबू, उनकी अभूतपूर्व बीवी, लफंगा प्रेमबल्लभ, दैनिक यात्री-संघ के कुछ पशु-पक्षी, इनको इकट्ठा करके चिड़ियाघर तो

चलाया जा सकता था, देश के अलग-अलग जिलों से आए हुए अपढ़ मज़दूरों का संगठन नहीं बन सकता था। मुझे यह तभी सोचना चाहिए था और हैरत है कि तब इसके बारे में मैंने कुछ भी नहीं सोचा। शायद पाल बाबू, लाल बाबू जैसी हस्तियों का तब ज़्यादा भरोसा रहा हो।

मुझे जानना चाहिए था, यहाँ भी अँधेरी राहों की एक भूलभुलइयाँ है। जो सैकड़ों मील पीछे अपना घर छोड़कर दो जून की रोटी की तलाश में यहाँ आए हैं, उनका पहला और आख़िरी लक्ष्य यही है कि उनकी रोटी सुरक्षित रहे। वे यहाँ अपने हक़ की लड़ाई लड़ने नहीं आए हैं, न कोई क्रान्ति करने आए हैं। यह करने की उनमें चेतना होती तो वे शायद अपनी ही ज़मीन पर अपनी लड़ाई लड़ते, यहाँ आने की उन्हें ज़रूरत न पड़ती।

यह यूनियन भी क्या थी? पर, पहले यह क्या नहीं थी? सेवा संगठन तो नहीं ही थी, और न इन मौजूदा हस्तियों के होते हुए कभी वैसी बन सकती थी जिसके पाँव के धमाके से सत्ता के खेमे में भूचाल आ जाए। प्रेमबल्लभ और लाल बाबू के साथ यह कभी भी वैसी ताकत नहीं बन सकती थी जो मज़दूरों की ज़िन्दगी पर थोपी हुई उन शर्तों को चकनाचूर कर देती जो शताब्दियों से उन पर लगी हुई हैं। ज़्यादा-से-ज्यादा यह हरी-भरी अमरबेलि जैसी बन सकती थी जो मज़दूरों की ज़िन्दगी के कँटीले झाड़ पर लहलहाती। अपनी मौजूदा हैसियत में वह व्यवस्था की शर्तों पर ही व्यवस्था से संघर्ष का ढोंग करती। किसी को धक्का दिए बिना छोटी-मोटी सुविधाएँ खींचकर अपनी विजय का ऐलान करती। नासूर होता तो उसके इलाज के लिए ऐस्पिरिन की टिकिया बाँटती।

अच्छा हुआ, एक फरेब टूटा, ज्यादा-से-ज्यादा यही हुआ कि अमरबेलि के तन्तु उजड़ गए। उसके नीचे छिपे हुए बबूल के सूखे काँटे फिर धूप में चमकने लगे।

इसी तरह कभी आश्रमों का दौर-दौरा था-वेद—पुराण के युग में नहीं, आज से पचास-साठ साल पहले। वे आश्रम चलाते थे—महिलाओं के लिए, हरिज़नों के लिए, आदिवासी बच्चों के लिए, पर इस शर्त पर कि व्यवस्था की सलामती की खरोंच न लगे। जो भी समाज-सुधारकों की सूची में शामिल होना चाहता, इस भोले यक़ीन के साथ आता था कि आश्रम खोल देने से ही सारी समस्याओं की जड़ कट जाएगी। तभी आश्रम पनपे, उनको पनपानेवाले भी पनपे और वे समस्याएँ भी पनपीं जिनको काटने के लिए आश्रम बनाए गए थे। और फिर आए संघ, और हमारी जैसी यूनियनें। वैसे ही भोले यक़ीन की उपज ।

तब?

जब सौम्य संघर्ष के रास्ते बन्द हो चुके हों, तब?

क्या बन्दूक की नली से ताकत निकलने का पैग़ाम सुना जाए?

एक ऐसा कमरा जिसका फ़र्श कच्चा है, छत में पलस्तर नहीं हुआ है, खिड़कियों में लोहे की ग्रिल है, किवाड़ नहीं हैं, दरवाजे पर किवाड़ लगे हैं पर उन पर रंग नहीं हुआ है। ऐसे कमरे में अपनी ढीली चारपाई पर मैं कम्बल में लिपटा पड़ा था। लाल भाई के विश्वासघात के सदमे का आज मुझे एहसास पूरी तौर से हो रहा था, फिर भी मैं समझ रहा था कि कुछ भी बिगड़ा नहीं है, अभी बहुत कुछ किया जा सकता है।

सशस्त्र क्रान्ति तक आते-आते मैंने सोने का बहाना छोड़ दिया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी

पिटनेवाले किसान परिवार का पारम्परिक दब्बूपन हो, या मेरी समझ—इस सम्भावना पर सोचने के पहले ही मैंने उसे ख़ारिज कर दिया।

राइफ़ल के क्रान्ति-पंथ में कविता है, उसका एक छन्द है, उसकी लय है। उसे लुभावना बनाने के लिए उसे अटूट आशावाद से जोड़ा गया है, लड़ाइयों पर लड़ाइयाँ हारकर भी आख़िर में अवश्यंभावी विजय का सन्देश दिया गया है। बदलाव का वही असली धारदार साधन है, बहुत हद तक अपने आप में वह एक सिद्धि है, यही बताया गया है।

फिर भी यह पंथ बार-बार पिटा है, पिटता रहा है। इसकी ख़ास वजह यह समझाई गई है कि जिनके हित में लड़ाई लड़ी जा रही है, उनमें सही चेतना की कमी है, इस पंथ के पंथी उन्हें पूरी-पूरी तालीम नहीं दे पाए हैं। तभी जिनकी मुक्ति के लिए राइफ़ल लिए तुम जंगलों में भटक रहे हो, वही तुम्हारे ख़िलाफ़ मुखबिरी कर रहे हैं।

यही तो दुखती रग है। जिनके लिए तुम यह कर रहे हो, उनमें अगर तुम्हारी परिभाषा की 'सही' चेतना जाग जाए तो शायद राइफल-पंथ के सहारे के बिना ही वे सत्ता का किला तोड़ देंगे। पर वह चेतना कैसे आएगी?

भटकाव के इस घटाटोप में पहली बार अपनी कुशिक्षा पर तरस आया। एक बार जसोदा ने कहा था, "तुम अब कहीं मत जाना। यूनियन के दफ़्तर की सफ़ाई कर दिया करो—एक तरह से चपरासी का काम, और बेफ़िक्री से रहो। तुम्हारा बच्चा बड़ा होगा तो उसे ऊँचे दर्जे तक पढ़ाएँगे।"

उसने जवाब दिया था, 'क्या करेगा मुंसी मेरा बच्चा पढ़कर? कुदाल भी नहीं चला पाएगा। तुम्हीं इतना पढ़-लिख गए तो उससे क्या हुआ? मजूरी लायक भी नहीं रहे।'

जसोदा की बात याद आई। नकल के सहारे ही सही, राजनीतिशास्त्र में एम.ए. करके जो टेढ़ी-मेढ़ी राहें दिमाग में खुल रही हैं और फिर आपस में एक-दूसरे को काट रही हैं, इन पर पहले ही न जाने कितना सोचा जा चुका है, कितना लिखा गया है। मुझे कुछ पता नहीं। किताबों और लेखकों के जो नाम सुन रखे थे, वे भी भूले जा रहे हैं। एक बार उन्हें भी समझ सकूँ तो शायद इस भूलभुलइयाँ से बाहर निकलने का कोई दरवाज़ा खुले।

मैं दूसरों को क्या समझाऊँगा? पहले अपना 'फंडा' तो 'क्लियर' कर लूँ।

कुछ-कुछ ऐसा ही परसों रात को भी सोचा था। तभी अपने से खीझ हुई थी। खोपड़ी में सिनेमा चलाकर मैं जो बड़े-बड़े तात्त्विक व्याख्यान देता हूँ, कुछ बेमानी आवाज़ों के सहारे निरर्थकता का जाल फैलाकर स्पैनिश बोलने का वहम पालता हूँ—इस बचकानेपन से ऊपर उभरने की व्यग्रता ने मुझे ठीक से सोने न दिया था।

सवेरे उठते ही कानून की कक्षा में जाने का फ़ैसला किया था, वहाँ से लायब्रेरी गया था।

आज एक और फ़ैसला किया।

लाल बाबू ने मुझे बेचैन किया था पर एक तरह से आजाद भी कर दिया था। यूनियन को मारकर उन्होंने मेरे भीतर जो कुछ मरा पड़ा था, उसे फिर से जिलाने में मदद की थी।

उस दिन काम पर नहीं गया। लायब्रेरी में पूरे दिन बैठा रहा। शाम को, सवेरे के फैसले को याद करके, परमात्मा जी के यहाँ पहुँचा। सावित्री से भेंट की और बताया कि मैं

अपनी ज़मीन बेचना चाहता हूँ।

"क्यों? काटती है?"

"हाँ।"

"तो उसे आनन्द साहब को दे दो। वे कई दिन से वहाँ एक प्लॉट के लिए हुड़क रहे हैं।"

"तुम क्यों नहीं ले लेतीं? तुम्हें चार हज़ार में वापस कर दूँगा।"

"यह कैसे हो सकता है? सोसायटी का मामला है। उसमें दस आदमी होने ही चाहिए।"

"तब आनन्द जी से तुम्हीं बात कर लो।"

"बात भी कर लूँगी और उनसे तुम्हें सोलह हजार रुपए भी दिला दूँगी। बोलो, इसमें मुझे क्या दोगे?"

"पूरा मुनाफ़ा तुम्हारा।"

सावित्री हँसते-हँसते सोफ़े पर पसर गई। बोली, "सत्ते, तुम्हारा पढ़ना-लिखना सब बेकार है। अपना मुनाफ़ा कोई इस तरह छोड़ता है।" फिर, "रसगुल्ला खाओगे?"

फ्रिज से रसगुल्ले निकालकर मेरे सामने रखते हुए उसने कहा, "देखो, चार हजार रुपए तो दो साल पहले का रेट है। पेशगी देकर तभी हम लोगों ने इक़रारनामा लिखा लिया था। आज का रेट वही होगा जो तुम माँग लो। आनन्द साहब की गरज बड़ी तगड़ी है। उनसे सोलह हज़ार लिए बिना मत छोड़ना। बीस भी माँग सकते हो?"

"घबराओ नहीं, मैं सब ठीक करा दूँगी।"

ज़मीन से आज़ाद हो गया, पर रास्ते-भर दिमाग़ चौंधियाया रहा। कितना आसान है रुपिया कमाना, बशर्ते कि आप रुपिया कमानेवाले के साथ हों।

जसोदा का हिसाब कर चुकने पर पूछा, "धन्ना कहाँ है?"

"क्या पता? पड़ा होगा वहीं साइट पर।"

"पिए हुए?"

"उसने कसम खाई है कि अब ज़्यादा नहीं पिएगा।"

"यानी पीना नहीं छोड़ेगा।"

वह बच्चे के साथ मेरे सामने खड़ी थी। धन्ना के निकम्मेपन को नज़र-अन्दाज़ किया जा रहा था। कुछ देर पहले प्रेमबल्लभ की बात उठाकर उसकी पिटाई का मैंने कुछ ब्यौरा सुनना चाहा था, पर नक़ली झुँझलाहट के साथ उसने सिर्फ़ कहा था, "उचक्का है। तुम उसका साथ न करो मुंसी।" बहुत दिन बाद मुझे लगा था कि उसकी पुरानी सहजता लौट रही है।

ख़ामोशी! "कब तक लौटोगी?"

"जेठ में। पर पता नहीं यहाँ आऊँ कि कहीं और जाऊँ।"

वह जा रही थी। मैंने पुकारा, "जसोदा।"

मैं उसे रघुनाथ के बारे में बताना चाहता था। कभी गाँव में उसने रोते हुए नेता के बारे में जानना चाहा था, कभी मैंने उससे कहा था कि जिन्होंने भी नेता को चोट पहुँचाई है, उनसे बदला लिया जाएगा। उसके बाद से आज तक उसने दुबारा वह सवाल नहीं उठाया। शायद उसने भी अपने को समझा लिया हो कि यह एक दुर्घटना-भर थी। नेता की मौत को

लेकर मेरे मन में जो सन्देह और अनुमान थे, उन्हें मैंने मिस्त्री से भले ही कहा हो, जसोदा से कभी नहीं बताया था।

वह मेरी ओर मुड़कर खड़ी हो गई। जिस साफ़-सुथरी निगाह से उसने मुझे देखा, उससे अपनी निगाह मिलते ही मैंने अपना इरादा बदल दिया। अब रघुनाथ और अस्पताल के बिस्तर पर उसके आसपास मँडराती मौत के बारे में कुछ कहना बेकार था। इन घटनाओं या दुर्घटनाओं के जिक्र का कोई अर्थ नहीं रह गया था।

बच्चा उसके कन्धे से लगकर सोने लगा था। पास जाकर मैंने बच्चे के गाल थपथपाए, सिर पर हाथ फेरा, जैसे इसी ज़रूरी काम के लिए उसे पुकारकर रोका हो।

कमरे में अँधेरा था, बिजली गायब थी। कभी बाहर सड़क पर मोटरों और स्कूटरों की जो रोशनी दीखती थी, उसमें चमकनेवाली चीज़ें, लगता था, धरती की होकर भी धरती की नहीं हैं। पर आज खुद अपने को लेकर मेरे मन में वैसे कोई वहम न था। दिवास्वप्न पीछे छूट रहे थे। ठोस ज़मीन पर पाँव टिकाकर जो भी चाहूँ वह करने के लिए मैं अब मजबूर नहीं, आज़ाद हूँ।

कानून की पढ़ाई मेरे लिए अब पेट पालने की मजबूरी नहीं, एक लौहजाल तोड़ने की तैयारी होगी।

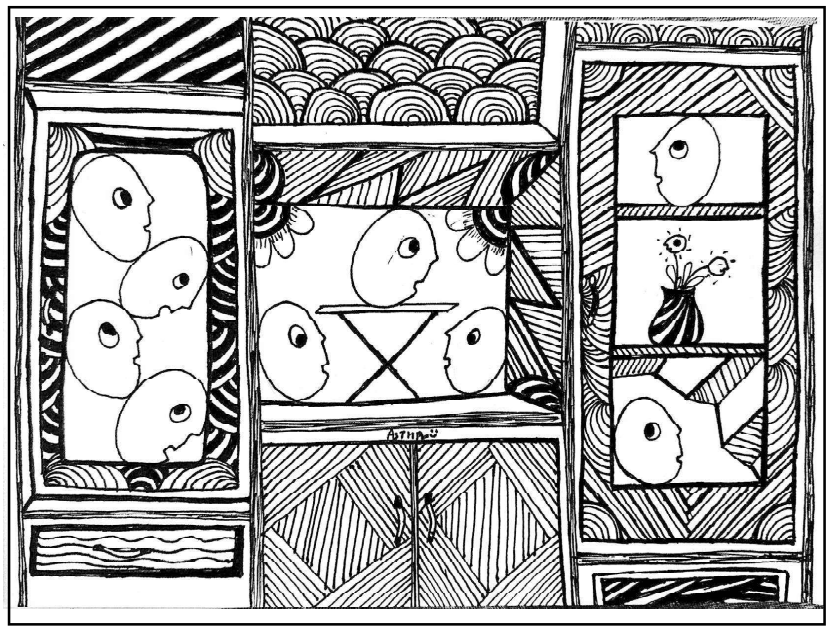

बिस्रामपुर का संत

इधर, यानी उधर, बायीं ओर, एक घना जंगल था जिसे देखते ही अमरीकी कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट की कविता उनके दिमाग़ में कौंधी—"द वुड्स आर लवली, डार्क एंड डीप!" भारत में यह और इसके साथ की पंक्तियाँ पहले प्रधानमंत्री ने अपनी मेज़ पर रखकर, और "एंड माइल्स टु गो बिफोर आई स्लीप" की आवृत्तियों के साथ, अमर कर दी थीं। घनी वनराजियों की जो कल्पना इस कविता के साथ कौंधती थी, उनकी आँखों के आगे हवा में धीरे-धीरे उठती-गिरती शाखाओं के साथ एक स्थिर, सघन चित्र की तरह खुली हुई थी।

ड्राइवर से बोले, "धीमे! धीमे चलो!"

सड़क के एक ओर सहकारी फार्म, यानी बंजर था—मामूली-सा बीहड़ भी। दूसरी ओर ये—द वुड्स आर लवली डार्क एंड डीप।

इस जले कटे प्रदेश में अचानक उनकी आँखों के सामने एक अछेद्य विस्तार खुला पड़ा था—घनी हरियाली का! ड्राइवर से बोले, "रोको।"

वे भूले नहीं थे कि यह मातमपुर्सी का सफ़र है। जानते थे कि बीच में बार-बार रुकना एक अटपटी बात होगी। फिर भी वे रुक गए। आँख से न देखा होता तो कभी यकीन न करते कि इस क्षेत्र में इतना गझिन, इतना हराभरा, इतने ऊँचे पेड़ोंवाला जंगल भी हो सकता है जिसमें चलते हुए झुलसानेवाली धूप का ज़्यादा से ज़्यादा एक धब्बा भर पाँव पर पड़ेगा।

गाड़ी से उतरने के लिए वे भीतर से दरवाज़ा खोल रहे थे। पर यह काम अगली सीट पर बैठे हुए बॉडी गार्ड का था—ड्राइवर की सीट दायीं ओर थी और वे आदतन् पिछली सीट पर बाईं ओर बैठते थे।

चमकदार धूप में हरियाली का इतना ऊँचा और आयताकार करिश्मा, लगता था, धरती को अचानक फोड़कर निकला है और ऊपर ठोस दीवार जैसा खड़ा हो गया है।

गाड़ी का दरवाज़ा खोल दिया गया था। वे धीरे से उतरे, उस मानवीय कृति—अरण्यानी की ओर देखते रहे। नेता ने कहा, "यह विनय वाटिका है सर।" उन्होंने देखा; चारों ओर दरिद्र वनस्पतियों के बीच उभरा हुआ यह आम और महुए का अत्यंत सघन बाग था। आम? उस किंवदंती का क्या हुआ जो बताती है कि इस क्षेत्र में आम नहीं पनपते?

"पर पानी—वह कहाँ से आया?"

"बेतवा से।"

"कैसे? नदी तो यहाँ से बहुत नीचे है!"

"लंबा किस्सा है। पंपिंग सेट तो बाद में आये। तब वे—गाँव के सारे लोग घड़ों से

पानी लाते थे, गाते हुए—मज़ाक करते हुए! सिर पर, या बहँगी में। सर, यह सुंदरी बेन का ही जीवट था! जैसे-जैसे पेड़-यह सारा जंगल बढ़ा, दूर-दूर से लोग इसे देखने को आने लगे। आज भी आते हैं!"

विनय वाटिका का नाम सुनकर लगता था कि वह किसी मंदिर से लगी हुई फुलवारी भर होगी, पर यहाँ घने, ऊँचे पेड़ों के नीचे झाड़-झंखाड़ और एक दूसरे से गुँथी हुई लताओं का जादू था। वे वाटिका की सीमा पर आ गए थे।

"इसकी काट-छाँट नहीं होती?"

"नहीं सर।"

"फिर वाटिका कैसी?"

"तभी कुछ लोग इसे वन वाटिका कहते हैं।"

वाटिका की बाहरी पगडंडी के पास कई काले तीतर तेज़ चाल से झाड़ियों की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें याद आया कि कभी यह इलाका साहब लोगों में काले तीतर के शिकार के लिए मशहूर था। अचानक किसी डाल में छिपे हुए पपीहे ने आवाज़ लगायी। वे खामोश खड़े रहे, हैरत हुई : पपीहे अब भी बोलते हैं!

एक चौड़ी पगडंडी वाटिका के अंदर जाती थी। अपनी सर्पिल चाल से लगभग सौ क़दम आगे जाकर वह झाड़-झंखाड़ में खो-सी गयी थी।

नेता ने मुस्कराकर इस अनगढ़ रास्ते की ओर इशारा किया, कहा, "चलेंगे?" इस अपरिचित जंगल में घुसते हुए उन्हें हिचक हुई, जैसे वे किसी अपरिभाषित स्थिति की मुठभेड़ से बचना चाहते हों। पर नेता की मुस्कान में उन्हें एक चुनौती का-सा इशारा मिला था। वे पगडंडी पर आ गये—आने पर पता चला, उस पर टायर के निशान बने हैं—शायद कोई जीप कभी-कभी उस पर निकलती है।

जहाँ दुर्गम वनस्पतियों का शुबहा था, वहाँ पगडंडी एक तेज़ मोड़ लेकर दूसरी ओर मुड़ गयी थी और वहाँ वह काफ़ी साफ़-सुथरी और चौड़ी थी। उन्हें अब लगा कि सब कुछ सुव्यवस्थित है, यह टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता भी और उसके किनारे पनपती हुई वनस्पतियों की अराजकता भी।

रास्ते के किनारे-किनारे, जहाँ बंजर धरती के कुछ छोटे धब्बे बच गए थे, पेड़ों के कटे हुए तनों और कुंदों की सतह को चिकना करके ज़मीन में गड़ा रहने दिया गया था। वे एक ऐसे ही आदिम मोढ़े पर बैठ गए; गली के दूसरी ओरवाले मोढ़े पर उन्होंने नेता को बैठने का इशारा किया, घड़ी देखी, कहा, "पाँच मिनट!"

पपीहा अब भी बोल रहा था; उनके पीछेवाले पेड़ की कड़ी डाल पर कठफोड़वे की 'ठक् ठक्' हो रही थी। हवा की आवाज़ और छुवन—दोनों में रेशमी सरसराहट थी। बाहर से जिस जंगल को देखकर उनकी त्वचा में झुरझुरी जैसी पैदा हुई थी, उसने अब उनको अपनी आत्मीयता में समेट लिया था। यह दशाब्दियों से भूला हुआ एक उत्कंठापूर्ण अनुभव था, उन दिनों का, जब सब कुछ इतना जटिल नहीं था।

○ ○ ○

शुरू में वे उसे भाभीजी कहते थे। वह उनसे उम्र में कुछ बड़ी ही होगी। कुछ ही दिनों में उन्हें लगा कि वे उसे 'भाभीजी' या किसी भी स्पष्ट संबोधन से नहीं बुला पा रहे हैं। एक अजीब-सा सम्मोहन उनके मन में फैला जिससे कुछ ही दिनों में उनके लिए कुछ भी

कहकर उसे बुलाना असंभव-सा लगने लगा। दोनों में कभी भी खुलकर बात नहीं हुई थी, जो भी बातें होती थीं उनके पीछे एक सौम्य औपचारिकता रहती थी। बाद में जब वह संबोधन 'सुनिए' पर आकर ठिठक गया तो वह और भी असंभव बन गया। 'सुनिए' कहकर उसे रोकने और कुछ कहने का बहाना खोजने की कोशिश उन्हें लगता कि उनका गला रुँध रहा है; तीन-चार शब्दों के कामकाजी वाक्यों पर ही उनकी बात खत्म हो जाती। जयश्री बहुत हलकी मुस्कराहट से—या शायद उसके ओठों का कटाव ही ऐसा था कि न होते हुए भी वहाँ मुस्कराहट का भ्रम पैदा होता—उन्हें देखती, सुनती और धीरे-धीरे नीचे से ऊपर की मंजिल पर, या ऊपर से नीचे रसोईघर की ओर निकल जाती।

उनकी आँखें अब बराबर जयश्री को ही खोजतीं। बी.ए. के अंतिम वर्ष की परीक्षा निकट आ गयी पर उन्हें लगता था कि बी.ए. पास करने के मुक़ाबले जयश्री के साथ खुली हवा, आकाश, वनस्पति या समुद्र की बातें करते हुए कुछ क्षण बिता लेना ज़िंदगी की कितनी बड़ी उपलब्धि होगी।

तभी, एक अजीब-सा मानसिक उफान झेलते हुए, उन्हें एहसास हुआ कि पहले की अपेक्षा नीचे की मंज़िल में जयश्री का आना कुछ बढ़ गया है; यही नहीं, किसी नकली विषय पर उनकी ओर से बातचीत शुरू करने के अटपटे प्रयासों पर वह जवाब में कुछ ऐसे वाक्य भी बोलने लगी है जो ज़रूरी नहीं हैं, जो अपने गैरज़रूरीपन में एक आत्मीय रिश्ते की शुरुआत दिखा रहे हैं। उन्हें डर लगा कि ऐसी स्थिति में वे कहीं बेकाबू होकर अपने मन की बात न कह बैठें। पर दिक्क़त यह जानने की थी : उनका मन क्या चाहता है, कितना चाहता है?

जयश्री की सुंदरता क्लासिकी पैमाने की न थी पर उसके छरहरे शरीर और आवाज़ की रहस्यशील आत्मीयता के अतल सम्मोहन में वे बराबर खोये रहने लगे। संपन्न परिवारों की दर्जनों युवतियों के संपर्क में आते रहने के बावजूद उन्होंने इतनी उद्दाम लालसा का अनुभव कभी नहीं किया था। उन्हें किसी असाधारण घटना का पूर्वाभास होने लगा था पर वे उसे न कोई शब्द दे पा रहे थे और न अपने सीमित अनुभवों के सहारे उसका अर्थ ही समझ रहे थे। उन दिनों के उपन्यासों से, खासतौर से अनेक बँगला उपन्यासों के हिंदी अनुवादों से उन्होंने एक शब्द सीखा था—प्रेमनिवेदन। उन्होंने बेकसी से महसूस किया कि वे सिर्फ़ 'प्रेम-निवेदन' नहीं करना चाहते क्योंकि उन्हीं उपन्यासों में जिस अशरीरी प्रेम की आदर्शवादी कल्पना कहीं-कहीं पढ़ने को मिलती है वह उनके काम की चीज़ नहीं है, वे जयश्री को अपनी बाँहों के घेरे में चाहते हैं, उसके ओंठों पर...।

अंत में किशोरावस्था के कुछ आधे-अधूरे अनुभवों, कुछ अंग्रेज़ी और बँगला कथा-साहित्य के टुकड़ों और इष्ट-मित्रों के कुछ झूठे-सच्चे आत्मकथ्यों के सहारे उन्होंने इस ठहराव को तोड़ना चाहा। उस समय की परिपाटी, यानी उस समय के कथा-साहित्य में प्रचलित परिपाटी के अनुसार उन्होंने जयश्री को एक प्रेम-पत्र लिखा। पत्र में कोई संबोधन नहीं था, भेजनेवाले का नाम नहीं था, सिर्फ़ चार पंक्तियाँ थीं। पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

तुम्हारी यह मादक चितवन,
तुम्हारी यह सलज्ज मुस्कान।
छिपाये मूक प्रश्न 'क्या? क्यों?'
विकल मैं एकाकी अनजान।

उन दिनों हिंदी-साहित्य में छायावाद नामक एक अजूबे काव्य जंतु ने आँखें खोलना शुरू किया था। उसी की प्रचलित शब्दावली को जोड़-गाँठकर इस कविता की सृष्टि हुई थी। एक कागज़ के टुकड़े पर उसे कुछ इस तरह लिखकर जयश्री के रास्ते में जीने पर छोड़ा गया था कि गलत हाथों में पड़ जाने पर उसे किसी नवोदित कवि की रचना बताकर वाजिब सफ़ाई दी जा सके। कागज़ को ज़ीने पर यूँ गिराकर कि निगाह से वह चूके नहीं, उन्होंने अगले दो दिन उपहास के डर और बदनामी की भयंकर आशंका में बिताए।

○ ○ ○

अब एक सप्ताह बाद उनकी गवर्नरी का यह दूसरा दौर भी खत्म होनेवाला था। वे अस्सी पार कर चुके थे पर भविष्य की योजनाओं और ख्वाबों के लिए इस उम्र को नज़रअंदाज़ किये हुए थे; अगर कभी वह उनकी चेतना में उभरी भी तो वे उसे मन की पूरी ताकत से निरर्थक घोषित कर देते थे।

'महामहिम' और 'योर एक्सिलेंसी' का संबोधन सुनते-सुनते उन्हें अपनी सूझ-समझ पर इतना ज़्यादा भरोसा हो गया था कि उन्हें हर तीसरा आदमी बेवकूफ और अपनी बेवकूफी में हास्यास्पद या दयनीय दीखता था। उन्हें इत्मीनान था कि उनकी जैसी दुर्लभ योग्यतावाले आदमी के लिए एक न एक ऊँची कुर्सी हर वक्त खाली रहेगी। देश की बगटुट राजनीति में प्रधानमंत्री के इर्द-गिर्द डोलने-फिरनेवाले दो-ढाई दर्जन लोगों में उनकी गिनती नहीं थी, पर भीतर ही भीतर वे अपने को प्रधानमंत्री का विघ्नविनाशक (ट्रबुल शूटर) मानने के आदी हो गए थे। अपनी समझ में उन्होंने कई मौक़ों पर इस राज्य की ख़तरनाक राजनीति में प्रधानमंत्री को बहुत बड़े असमंजस से उबारा था। उन्हें विश्वास था कि प्रधानमंत्री उन्हें कभी नहीं भूलेंगे।

○ ○ ○

वक्त बदल चुका है—उन्होंने सोचा। फिर अपना मखौल उड़ाते हुए सोचा—वक्त कब नहीं बदला?

नया सत्तातंत्र नये खून की माँग कर रहा है। कई ताक़तवर बूढ़े हैं जो बरसों से देश के थैलीशाहों की निगाहों में सत्ता के प्रतीक बने रहे थे। वे अचानक थैलियाँ वसूलने की राजनीति के बावजूद, थैलीशाही का विस्तार होने पर भी, निरर्थक होते जा रहे हैं। उनकी जगह चुस्त पोशाक पहननेवाले नये प्रबंध विशेषज्ञ आ गए हैं। वे बम्बई-कलकत्ता के सेठों तक ही चुनाव-चंदे को सीमित नहीं रखते, वे विदेशी वाणिज्य-व्यापार में लूट की संभावनाओं का अनुसंधान कर रहे हैं। वे स्मार्ट हैं। वे पार्टी को और खुद अपने को सरसब्ज़ कर रहे हैं। ध्रुव प्रदेशों और रेगिस्तानों तक से पैसा निचोड़ने की नयी प्राविधिकी का वे आविष्कार कर रहे हैं। एक-एक दाँव में करोड़ों डॉलर बटोरकर वे राजनीति को एक अत्याधुनिक और खतरनाक हथियार बना चुके हैं। कुछ बचे-खुचे संपाती-नुमाँ बूढ़े हैं जिन्हें भुलाया जा चुका है; या सिर्फ़ बर्दाश्त किया जा रहा है। कुछ बूढ़े अब भी असरदार हैं; उन्हें भारी-भरकम नामवाले निरर्थक राजनीतिक ओहदे देकर ऐसी जगह बैठा दिया गया है जो एक चमकदार कूड़ेदान के सिवाय और कुछ नहीं है।

फिर भी मन में एक ज़िद्दी उम्मीद ज़िंदा थी। कि कुछ भी हो, वे खुद फालतू नहीं हैं। अपने हम उम्र दोस्तों को हम रोज़-ब-रोज़ दिल के दौरे या दिमाग की नस फटने से मरता

देखते हैं। पर यही सोचते हैं कि हमारे साथ ऐसा नहीं होगा। उसी तरह राजनीति में दूसरे बूढ़ों का हश्र देखते हुए भी उन्हें अपनी उपयोगिता का भरोसा बना हुआ था। तभी उन्हें प्रधानमंत्री की 'कृतघ्नता' पर गुस्सा आ रहा था। "कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह को गुस्सा क्यों आता है?" इस सवाल का जवाब बहुत मुश्किल नहीं था।

उनके हितैषी प्रधानमंत्री के दरबार में बेल-बूटेदार भाषा में उनका ज़िक्र करते रहे थे; उनके पक्ष में बराबर गर्भवान संकेत देते रहे थे। पर उसका नतीजा वही था जिसे अलंकार की भाषा में मृग मरीचिका कहा जाता है।

और उसके बाद बीमारी, आयुर्विज्ञान संस्थान में दाखिला। वह खबर भी फीकी साबित हुई। कुछ स्वामिभक्त, पर अवकाशप्राप्ति के कगार पर बैठे हुए अफ़सरों, कनिष्ठ मिनिस्टरों, निठल्ले भूतपूर्वों और हर गवर्नर के साथ घुल-मिल जानेवाले पेशेवर मुसाहबों के अलावा किसी को भी उनकी बीमारी कोई घटना जैसी नहीं लगी!

अब यही बचा कि वे गुमनामी के गड्ढे में दफ़न हो जायँ, या अपनी खिसकती साख को सँभालने के लिए किसी पवित्र दिखनेवाले आंदोलन में जा मिलें। बहुत पहले लोकनायक जयप्रकाश नारायण भूदान आंदोलन से जुड़कर कुछ ऐसा ही रास्ता दिखा चुके थे।

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के लिए एक आंदोलन से जुड़ने की भूमिका, अचानक, उस दिन बन गयी जब उन्होंने बिस्रामपुर के आश्रम में मंत्रीजी से कहा, "अगर मैं यहाँ पर आकर आपके साथ काम करूँ?"

○ ○ ○

ये सब बहुत पुरानी बातें हैं। तब के प्रौढ़ बहुत बूढ़े हो गए हैं, निरंतर 'विद्युच्चलं जीवितम्' की चेतावनी से आतंकित, और बच्चे अब प्रौढ़ता की देहली छूने जा रहे हैं। फिर भी बिस्रामपुर की ऊबड़-खाबड़ धरती और छोटी झाड़ियोंवाले जंगल में कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह को उस जंगल की याद आ रही है जहाँ अचानक सारा संतुलन खोकर सुंदरी ने उन पर हमला किया था, उनकी रायफल की नली का रुख आसमान की ओर कर दिया था।

कुछ ही दूरी पर भरके शुरू हो जाते थे; भयानक नहीं, मामूली, और उनका टेढ़ा-मेढ़ा विस्तार बेतवा के किनारे खत्म होता था। बेतवा टीलों से काफ़ी नीचे थी, उसकी धार का टकराव इसी ओर था। नदी की धार इस ओर गहरी थी, दूसरी ओर उसका छिछला फैलाव था, मोटी ललछौं रेत थी, हलकी ढलानवाले खेत थे जिनमें बरसात के बाद रबी की बुवाई होगी। यहाँ नदी की धार धनुषाकार हो गयी थी, उसकी एक नोक पर आश्रम का परिसर था, दूसरी नोक पर, काफ़ी दूर, एक दूसरा टीला था—यहाँ से ऊँचा, जिस पर एक पुरानी हवेली थी, उसका बहुत-सा हिस्सा महुए के पेड़ों से ढका था। पीछे आते हुए रामलोटन से उन्होंने पूछा, "वह इमारत कौन-सी है?"

"दुबे महराज," उसने कहा; बात साफ़ नहीं हुई।

मज़बूत देह और तनी मूँछोंवाले इस किसान को उन्होंने तीन दिन पहले देखा था। वह प्रार्थना गृह के बाहर चबूतरे पर बैठा हुआ था। बाद में उन्होंने पाया कि वे जहाँ कहीं भी हों, वह कुछ दूरी पर टहलता रहता है। मंत्रीजी ने बताया था कि आश्रम में उसे हाल ही में रखा गया है। उन्होंने समझ लिया था कि रामलोटन का असली काम उनके अंगरक्षक का है। फौजी कप्तानों और भारतीय पुलिस सेवा के अफ़सरों को चुस्त वर्दी में अपने अंगरक्षकों

में देख चुकने के बाद रामलोटन के स्तर पर अपना अधःपतन उन्हें काफ़ी दिलचस्प जान पड़ा था। फिर भी उन्होंने कुछ कहा नहीं। बिलकुल अकेले बाहर निकलने के लिए वे अभी तैयार नहीं थे; (शायद कभी नहीं होंगे; और जब एक बार वे अकेले निकलेंगे तो वह उनकी अंतिम यात्रा होगी।)

इसमें शक नहीं कि यहाँ के कार्यकर्ताओं में वह सबसे उपयुक्त अंगरक्षक दीख पड़ता था। उन्होंने सोचा : इसे सूबेदार मेजर की वर्दी पहना दी जाए तो उसमें खूब जँचेगा।

○ ○ ○

जो किया वह सरकारी तंत्र का जाना-माना तरीका था। उन्होंने इस सहकारी योजना पर राज्य के मुख्यमंत्री को एक पत्र लिखा। अपने व्यक्तित्व का पूरा वज़न डालने के लिए उन्होंने इसे व्यक्तिगत पत्र की तरह लिया। कभी अपने बधाई और शुभकामना संदेश में मुख्यमंत्री ने लिखा था, "मेरे योग्य कोई सेवा हो तो निस्संकोच लिखें।" अपने पत्र में छिपे तौर से इस सदिच्छा का हवाला देते हुए उन्होंने मुख्यमंत्री के उस पत्र का भी उल्लेख कर दिया। उन्होंने सारे मामले में तुरंत एक उच्चस्तरीय जाँच की माँग की। इस मुद्दे की जाँच पर उन्होंने विशेष ज़ोर दिया कि फार्म पर सहकारी कर्ज के मामले में कुछ किसानों को व्यक्तिगत रूप से ऋणी बताकर उनकी ज़मीन के फर्जी रेहननामे लिखाये गए हैं और उन्हें ज़मीन से बेदखल कर दिया गया है।

ऐसा ही पत्र उन्होंने सहकारिता मंत्री को लिखा पर फ़र्क यह था कि वह व्यक्तिगत न होकर वह था जिसे सरकारी भाषा में अर्धशासकीय कहते हैं। उसकी प्रतिलिपि उन्होंने राज्य के मुख्य सचिव को भी भेजी। पहले वह कहीं उनसे मिल चुका था। जिले के कलेक्टर और पुलिस कप्तान को भी उन्होंने अलग से लिखा।

कुछ ही दिनों में इन खतों के नतीजे आने शुरू हो गये।

सबसे पहले उन्हें मुख्यमंत्री के हस्ताक्षर से जवाब मिला। मुख्यमंत्री ने उन्हें पत्र के लिए धन्यवाद दिया था और उसे किसी उपयुक्त अफ़सर के पास 'तुरंत एवं आवश्यक कार्रवाई' के लिए भेज देने की बात लिखी थी। खास बात यह थी कि उस टाइप किये पत्र की अंतिम पंक्ति के रूप में मुख्यमंत्री ने खुद अपनी लिखावट में "सादर अभिवादन और अमित शुभकानाओं के साथ" जोड़ दिया था।

कुछ ऐसा ही जवाब कुछ देरी से सहकारिता मंत्री के यहाँ से आया। उसमें सिर्फ़ दो भिन्नताएँ थीं। उसमें हस्ताक्षर के सिवाय सब कुछ टाइप में था और अभिवादन आदि का कोई ज़िक्र न था।

ज़िले के कलेक्टर और कप्तान की ओर से कोई जवाब नहीं मिला, पर इतना हुआ कि एक दिन दोपहर बाद, जब वे सो रहे थे, एक डिप्टी सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस उनसे मिलने आया और मंत्रीजी से यह कहकर चला गया कि कोई भी दिक्क़त हो तो तुरंत थाने पर इत्तला दी जाए, थाने पर पूरी हिदायत दे दी गयी है कि गवर्नर साहब को कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए, कोई ज़रा भी बदमाशी करे तो साले को उसी वक्त बंद कर दिया जाए।

उन्हें आशा थी कि जिले के युवा अधिकारी पत्र पाते ही उनसे मिलने चले आएँगे। पर ऐसा नहीं हुआ। डिप्टी एस.पी. ने मंत्रीजी को बताया कि पुलिस कप्तान साहब गुंडा-विरोधी अभियान में फँसे हैं और कलेक्टर साहब की माताजी दिल्ली के एक अस्पताल

में भर्ती हैं, वे छुट्टी लेकर वहीं गए हैं।

सबसे ज़्यादा सक्रियता राज्य के मुख्य सचिव ने दिखायी। उन्होंने उनके पत्र को 'मूल रूप में' राज्य की सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को एक जोरदार पत्र के साथ भेजा और उनसे अपेक्षा की कि वे स्वयं मामले को देखें और पूरी कार्रवाई करके उन्हें एक महीने में सूचित करें। इसके जवाब में रजिस्ट्रार ने तुरंत एक पत्र लिखकर उसकी प्रतियाँ तीन लोगों को भेजीं—श्रीमान कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह बार-ऐट-ला को, राज्य के मुख्य सचिव को और अतिरिक्त कृषि निदेशक (सहकारी कृषि क्षेत्र) को। पत्र का अभिप्राय यह था—सहकारी फार्म मेरे अधिकार क्षेत्र के बाहर हैं। यह काम राज्य कृषि निदेशक के संगठन में अतिरिक्त कृषि निदेशक देखते हैं और इसीलिए मामले के सारे कागज़ात अ.कृ.नि. (स.कृ.क्षे.) को 'तुरंत आवश्यक कार्रवाई' के लिए भेजे जा रहे हैं।

अतिरिक्त कृषि निदेशक को कुछ दिनों बाद जब उन्होंने अधूरे मन से एक पत्र लिखा तो उन्हें बताया गया : दुबे महराज शराब पीकर पागलों की तरह बकझक कर रहा है, कह रहा है कि शिकायत करनेवाले को गोली मार दूँगा।

○ ○ ○

प्रभास भाई मंत्रीजी के सहायक थे। रहनेवाले इसी क्षेत्र के थे, अनपढ़ और गरीब माँ-बाप की संतान, पर भाग्यचक्र ने उन्हें पहले कलकत्ता भेजा, बाद में शांतिनिकेतन। उनके आरंभिक नाम 'छेदालाल' का 'प्रभास कुमार' के रूप में कायांतरण शायद शांतिनिकेतन ही में हुआ। वहाँ रहते हुए उन्हें जैसे ही पता चला कि बिस्रामपुर में उनके मन का समाज-कार्य उनकी राह देख रहा है और उसके साथ कुछ वेतन भी मिल सकता है, वे यहाँ चले आये। वे सुशिक्षित, कर्मठ और कर्तव्यनिष्ठ आदमी थे और यह भले ही लगे कि वे दूसरों के निर्देश पर ही काम करते हैं, करने को बहुत-सा काम वे अपनी समझ से भी निकाल लेते थे।

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के पत्रों के जवाब में बहुत-से पत्र भले ही आये हों पर बात जहाँ थी, वहीं रह गयी थी। पर वे मामले को ठंडा नहीं होने देना चाहते थे और ज़रूरत पड़े तो राजधानी जाकर मुख्यमंत्री से मिलने तक को तैयार थे। आश्रम के सीमित दायरे से बाहर का यह काम मंत्रीजी को खास उत्साहित नहीं कर रहा था, पर वे समझ चुके थे कि कुँवर साहब को रोकना कठिन होगा। अपने निजी विचारों के बावजूद वे कुँवर साहब की इच्छानुसार ही चल रहे थे। उन्हीं के कहने से मंत्रीजी ने प्रभास भाई को यह काम सौंपा था कि वे शहर जाकर राजधानी के कुछ अफ़सरों से फ़ोन पर कुँवर साहब की ओर से बात कर लें।

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने तय कर लिया था कि सहकारी फार्म से उदासीन रहने की नीति अब नहीं चलेगी। उन्हें लगा कि इस फार्म से जुड़े हुए किसानों के लिए कुछ कर दिखाने में ही उनके इस नये अवतार की सार्थकता होगी। दुबे महराज ने जिस दिन नशे में ऊधम मचाया था और गोली मार देने की धमकी दी थी उसी के दूसरे दिन प्रभास भाई को शहर जाने का हुक्म मिला। उनको दो काम दिये गये। उन्हें कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह का एक पत्र जिला मजिस्ट्रेट को देना था। उसमें उन्होंने अनुरोध किया था कि कुछ तात्कालिक समस्याओं के समाधान के लिए जिला मजिस्ट्रेट कृपया यथाशीघ्र आश्रम में आकर उन्हें दर्शन दें। प्रभास भाई का काम था कि वे जिला मजिस्ट्रेट से यहाँ आने की निश्चित तारीख ले लें और मुमकिन हो तो यह तारीख इसी सप्ताह में हो। अगर ज़िला मजिस्ट्रेट आने में आनाकानी

करें तो इसका अर्थ होगा कि वे निकम्मे अफ़सर हैं और उनसे दुबे महराज और सहकारी फार्म में से किसी एक को भी ठीक करने की आशा नहीं की जा सकती। तब प्रभास भाई का यह काम होगा कि वे वहीं से मुख्यमंत्री के सचिव को फ़ोन करें और मुख्यमंत्री से कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की मुलाकात की तारीख और समय निश्चित करा लें।

प्रभास भाई कुँवर साहब का पत्र लिए हुए शाम के पाँच बजे जिला मजिस्ट्रेट के बँगले पर पहुंचे। अर्दली से उन्होंने जब पूछा कि साहब बँगले पर हैं, तो जवाब मिला कि हैं पर मुलाकातियों से मिलने का समय सवेरे नौ से ग्यारह तक का है। प्रभास भाई ने कहा कि मैं गवर्नर साहब का खत लेकर आया हूँ और मुझे डी.एम. से आज ही मिलना है। अर्दली ने उनकी घिसी हुई चप्पल, खादी के धोती-कुर्ते, दो दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी को एक नज़र देखा, मन ही मन दोहराया कि आजकल पता नहीं चलता कि कौन क्या है और डी.एम. को बँगले के अंदर खबर देने चला गया।

थोड़ी देर में ज़िला मजिस्ट्रेट अंदर से निकलकर बरामदे में आये। उनके पैरों में सफ़ेद जूते थे, पतलून भी झकाझक सफ़ेद थी और देह पर वे बनियाइन जैसी सफ़ेद कमीज़ पहने थे। उनका रंग साँवला था, आँखों पर चश्मा लगा था, देह दुबली-पतली थी, उम्र तीस-बत्तीस की रही होगी। वे हाथ में टेनिस का रैकेट लिए थे। साफ़-सुथरे कपड़ों के आतंक के बावजूद वे प्रभास भाई को घरेलू क़िस्म के, लगभग गाँव-घर के लड़के जैसे लगे। उन्होंने प्रभास भाई को भौहें चढ़ाकर देखा और सवालिया ढंग से कहा, "आप?"

प्रभास भाई ने कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह का पत्र उनकी ओर बढ़ाया, "यह पत्र गवर्नर साहब ने आपके लिए भेजा है।"

उन्होंने पूछा, "आप राजधानी से आ रहे हैं?"

"जी नहीं, बिस्रामपुर से।"

प्रभास भाई समझ गए कि जिला मजिस्ट्रेट को गलतफ़हमी हुई है पर यह नहीं समझे कि गलतफ़हमी के कारण वे खुद हैं, बोले, "यह पत्र कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह का है। पिछले साल तक वे गवर्नर थे। वे आजकल बिस्रामपुर में हैं।"

"आप गलत कहते हैं। वे हमारे राज्य के गवर्नर कभी नहीं थे।"

"आप ठीक कह रहे हैं श्रीमन्।"

तब तक डी.एम. लंबे क़दमों से बँगले के फाटक की ओर बढ़ने लगे थे। प्रभास भाई उनसे कुछ पीछे हटकर साथ-साथ चलने लगे। डी.एम. ने कहा, "यह पत्र वहाँ अर्दली को दे दीजिए।"

प्रभास भाई को मालूम था कि बँगले के पास ही क्लब है और उन्होंने अनुमान लगा लिया था कि जिला मजिस्ट्रेट टेनिस खेलने जा रहे हैं। वे डी.एम. के कदम से कदम मिलाकर चलते रहे, बोले, "श्रीमान्, मुझे इस पत्र का उत्तर लेकर जाना है। बिस्रामपुर की स्थिति विस्फोटक हो रही है। इस विषय पर मैं इस पत्र के साथ आपकी सेवा में आया हूँ।"

डी.एम. टेनिस कोर्ट में पहुँचने की जल्दी में होंगे या शायद इस बात से—आहत हुए हों कि गवर्नर का झूठा-मूठा हवाला देकर उनकी शाम में खलल डाला गया। उन्होंने ठिठककर कहा, "आप जाइए, पत्र का उत्तर बिस्रामपुर पहुँच जाएगा।"

"पर श्रीमन्, मुझे, खुद इसका उत्तर लेकर...।"

"आपने सुना नहीं, पत्र का उत्तर बिस्रामपुर पहुँच जाएगा।" कहते हुए डी.एम. ने दूसरे वाक्य का उच्चारण एक-एक शब्द पर ज़ोर देते हुए किया, जैसे यह बात किसी मानसिक रूप से बाधित व्यक्ति को समझायी जा रही हो। प्रभास भाई समझ गये, समझ गये कि यह हमारे गाँव-घर का लड़का नहीं है, किसी अजनबी दुनिया की उपज है।

प्रभास भाई बँगले पर लौट आये। वह पत्र अर्दली को दे दिया गया। गनीमत है कि उसकी प्राप्ति की रसीद पाने में कोई उलझन नहीं हुई। अब प्रभास भाई को असली विपत्ति का सामना करना था। उनकी सबसे बड़ी विपत्ति नये ज़माने की मशीनें थीं। उनसे उन्हें घबराहट होती थी। टेलीफ़ोन भी इन्हीं मशीनों में था। उसके रिसीवर पर हाथ रखने के मुकाबले किसी साँप के फन पर हाथ रखना शायद उन्हें ज़्यादा आसान लगता। वे अपने एक मित्र के यहाँ गये और उनके टेलीफ़ोन पर उन्होंने मुख्यमंत्री के सचिव को ट्रंककाल करना चाहा। प्रभास भाई ने अपने मित्र से कहा कि आप यह नंबर एस.टी.डी. पर मिला दें। मित्र ने तीन-चार बार कोशिश की पर उस समय सचिव का फ़ोन खाली नहीं था। तब मित्र ने प्रभास भाई को किसी फ़ोन पर सीधी ट्रंक डायलिंग की प्रक्रिया समझायी। ट्रंककाल के दूसरे रहस्यों में भी उसे दीक्षा दी, यानी साधारण, तुरंत या 'लाइटनिंग' आदि भेदो-प्रभेदों का तंत्र समझाकर ट्रंककाल लगवाने का तरीका भी सुझाया। प्रभास भाई धैर्यपूर्वक सुनते रहे, न उन्हें समझना था, न वे समझे।

मित्र को किसी काम से बाहर निकलना था। पूरी प्रक्रिया समझाकर उसने कहा, "अब मैं रात नौ बजे तक लौटूँगा। तब तक तुम फ़ोन पर बात कर लेना और नहा धो लेना। टी.वी. देखने का मूड हो तो वह सोने के कमरे में है। भोजन हम लोग साथ ही करेंगे।"

प्रभास भाई को अच्छी तरह जानते हुए भी मित्र उनकी वह घबराहट नहीं भाँप पाये जो टी.वी. का नाम सुनकर प्रभास भाई के चेहरे पर फैल गयी थी। रात को जब वे घर वापस आये तो नौकर से उन्हें मालूम हुआ कि प्रभास भाई की मुख्यमंत्री के सचिव से बात नहीं हो पायी और इसीलिए उनसे मिलकर बात करने को वे साढ़े आठ वाली गाड़ी से राजधानी चले गये हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रभास भाई ने फ़ोन मिलाने की कोशिश ही नहीं की। इस मशीन के जंजाल से जूझने के मुकाबले उन्हें यह ज़्यादा आसान लगा कि रेल से तीन सौ किलोमीटर की यात्रा करके राजधानी में मुख्यमंत्री के सचिव से जाकर मिल लिया जाए।

○ ○ ○

अहमदाबाद वापस आकर सुशीला ने गीता प्रवचन की एक प्रति कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह को भेज दी। जैसा कि उसने बताया था, आचार्य विनोबा भावे ने अपने हाथ से उस पर 'नित्य पठनीय' लिखकर हस्ताक्षर किया था।

अगर गीता के उपदेश को अमृत माना जाए तो सुशीला ने उनके लिए बड़ी घातक मात्रा में ज़हर भी भेजा था। पता नहीं, निर्मल भाई के साथ उसके असफल विवाह का परिणाम था या जीवन में कुछ दूसरी कुंठाएँ, पिछले सालों में उसके स्वभाव में एक अजीब-सी निर्ममता आ गयी थी। साधारण बातचीत में भी कभी-कभी वह किसी ऐसे अप्रत्याशित बिंदु पर उत्तेजित हो जाती थी कि दूसरों को उसका कारण समझना कठिन हो जाता था। उसकी इस निर्ममता और क्रूरता का निशाना कोई भी हो सकता था, पर सबसे गहरा घाव जिसे लगा वे कुँवर

जयंतीप्रसाद सिंह थे। उसमें भी विडंबना यह थी कि सुशीला का वह हमला अपनी समझ में सुंदरी, और विशेष रूप से विवेक के प्रति अपने निजी लगाव के कारण किया था।

'गीता प्रवचन' खोलते ही किताब में रखा हुआ उन्हें एक लिफाफा मिला। यह एक पत्र था जो आज से चौदह साल पहले सुंदरी ने सुशीला को डाक से भेजा था। सुशीला को कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के व्यवहार में एक अवांछित आत्मसंतोष दीख पड़ा था। उसी को ध्वस्त करने के लिए उसने इस पत्र का अस्त्र की तरह इस्तेमाल किया था। उसने उन पर आरोप लगाया था कि उन्होंने दूसरों की ज़िंदगी में भयानक उथल-पुथल पैदा कर दी है। अब एक अजीब-सी प्रतिशोध भावना से वह खुद उनकी ज़िंदगी में उथल-पुथल पैदा करने जा रही थी। पर उसने अपने मंतव्यों और उसके परिणामों को पहचानने की कोशिश नहीं की थी, कुल इतना सोचा था; वह वहाँ आश्रम में बैठकर सोच रहा है कि उसने अपने पुराने पाप का प्रायश्चित कर लिया है। पर उसे मालूम तो हो कि उसके उस पाप की ज्वाला कितनी दूर तक फैल गयी है और आज भी किस-किस को जला रही है!

यह पत्र सुंदरी ने सुशीला को उसके किसी पत्र के उत्तर में भेजा होगा। तब सुशीला की शादी हुए कुछ ही साल बीते थे। उसी उत्साह में उसने सुंदरी पर ज़ोर डाला होगा कि अस्वाभाविक वैराग्य को राह छोड़कर उसे अब अपने मन की बात मान लेनी चाहिए और शादी के जिस प्रस्ताव को वह इतने सालों से ठुकराती आ रही है उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

पत्र कुछ लंबा था पर कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की नस-नस को झकझोर देने के लिए इतना ही काफ़ी था :

"तेरी सभी बातें सही हैं, पर जब तू उन्हें तर्क बनाकर इस्तेमाल करती है तो वे गलत हो जाती हैं।

"माना कि विवेक मेरे लिए सोलह साल से इंतज़ार कर रहा है और हम दोनों प्रौढ़ता के कगार पर पहुँच गए हैं। पर वह समझदार है; रोमियो, महीवाल, मजनूँ की जाति का नहीं है। उसे यह भी अच्छी तरह मालूम है कि मैं समाज-कार्य के महासागर में शादी रचाने के लिए नहीं कूदी थी और अब वह स्वयं देख रहा है कि प्रत्येक बीतते हुए दिन के साथ मैं किनारे से लगातार दूर होती जा रही हूँ, जीवन की जो पद्धति मैंने अपने लिए चुनी है उसके साथ मेरा रिश्ता दिन-प्रति-दिन मज़बूत होता जाता है।

"...तू समझती है कि मैं एक छोटी-सी पुरानी घटना को लेकर अपनी और विवेक की जिंदगी जला रही हूँ। तू बार-बार यह बात दोहराती है और अगर इसे दुबारा लिखा तो मैं तेरे पत्र का जवाब नहीं दूँगी।

"मैं पहले भी लिख चुकी हूँ—यह पुरानी घटना नहीं हैं, क्योंकि इस अभागे नाटक के सभी पात्र आज भी मौजूद हैं और उस घटना को अतीत की विस्मृति में दफ़न कर देने का कोई रास्ता नहीं है। वह एक सोयी हुई नागिन की तरह है जो किसी भी वक्त फन काढ़कर फुफकारने लग सकती है।

"...वह घटना इतनी छोटी भी नहीं है। यह एक पुरुष की बेजा हरकत भर नहीं है। ऐसा होता तो भुलाया जा सकता था। सार्वजनिक जीवन में महिलाओं के साथ ऐसा होता ही रहता है। जिन्हें बहुत विश्वास योग्य माना जाता है वे भी महिला सहकर्मियों के साथ अवांछित चेष्टाएँ कर बैठते हैं। हमें समझदारी और संतुलन के साथ ऐसी समस्याओं का सामना करना

पड़ता है। हम हमेशा अपना सिर नहीं पीटने लगते। पर कुँवर साहब ने कुचेष्टा भर नहीं की, उन्होंने बाक़ायदा विवाह का प्रस्ताव रखा! भले ही वह प्रस्ताव आवेश में किया हो या, जैसा कि तू कहती है, अपने अपराध को ढकने के लिए। पर प्रस्ताव उन्होंने किया और उसके बाद सब कुछ बदल जाता है।

"मैं यही मानती हूँ कि यह भाग्य का इशारा था। उसके तीन दिन पहले ही विवेक ने अपने मन की बात खोली थी। तेरे लिए यह सब कुछ खेल जैसा है। तू तभी से कह रही है कि मैं 'हाँ' कह दूँ। मैं भी यही चाहती थी। मेरा मन, मेरा रोम-रोम 'हाँ' कहने के लिए उतावला था पर मेरी अंतरात्मा मुझे रोक रही थी। समाज के प्रति मेरे आदर्श, मेरे संकल्प मुझे चुनौती दे रहे थे। फिर भी लगता था कि विवेक के प्रस्ताव के सामने वे अपने हथियार फेंकनेवाले हैं। तभी कुँवर साहब का आक्रमण हुआ और उस आक्रमण ने मुझको बचा लिया।

"उस समय मेरा संतुलन टूट गया था। मैं कुछ भी कर सकती थी। चिल्ला सकती थी, उन पर स्टूल उठाकर फेंक सकती थी। पर ऊपर से मैं शांत रही। उस रात, जब तू खर्राटे भर रही थी, मेरी पलक तक नहीं झँपी। मैं दरवाज़ा पीटना चाहती थी, कुछ तोड़-फोड़ करना चाहती थी। पर सवेरा होते-होते मैं सो गयी। जागने पर मुझे लगा कि कुँवर साहब पर नाराज़ होना व्यर्थ है, मेरा भाग्य उनके माध्यम से मुझे एक संदेश भेज रहा है। वे मुझे अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं। इसी से तय हो गया है कि मैं उनके पुत्र की पत्नी नहीं बन सकती, उनके महल में पुत्रबधू की तरह रहते हुए हर सवेरे उनसे आशीर्वाद पाने का अभिनय नहीं कर सकती।

"तू इसे भाग्य की विडंबना कहती है, पर कुँवर साहब का व्यवहार मेरे लिए दैवी कृपा सिद्ध हुआ है। उसने कुँवर साहब को कुछ क्षणों के लिए खलनायक बनाकर मुझे अपने मानसिक ऊहापोह से छुटकारा दिला दिया है। इसीलिए मेरे मन में कुँवर साहब के लिए क्रोध या घृणा नहीं हैं। उन्हीं के कारण मैं कह सकी थी कि विवेक, मुझे विवाहित जीवन के सपनों में न भटकाओ, मैंने अपने लिए जो रास्ता चुना है, उसी पर मुझे जीवन भर चलना है।

"...विवेक की तू फ़िक्र न कर। मेरे बार-बार 'नहीं' कहने से उसे हैरानी भले ही हो, पर वह मेरी भावनाओं को पहचानता है। वह जानता है कि मैं एक साथ दो नावों पर नहीं चढ़ सकती और पहली नाव का मोह मुझे उससे उतरने नहीं दे रहा है!"

पत्र में और भी बहुत कुछ था, पर उनके मन को बेरहमी से झकझोरकर अवसन्न कर देने के लिए इतना ही काफ़ी था। एक साथ उठती हुई परस्पर-विरोधी भावनाओं के बवंडर में उन्हें सिर्फ़ एक विचार डंक जैसा मार रहा था—मुझसे यह कैसी क्रूरता हुई!

याद करने को बहुत कुछ था, पर अतीत के बहुत-से अनुमान, तथ्य, घटनाएँ—अग्निकांड के बाद बिजली के तारों की तरह—एक दूसरे से उलझकर चिपक गयी थीं और उन्हें अलग-अलग करके देखना मुमकिन न था। उनके अनुभव की प्रक्रिया सुन्न होती जा रही थी। बर्फ़ की पतली तह पहले सतह पर जमती है, नीचे द्रव बना रहता है। यहाँ इसका उलटा हो गया था। नीचे अतल में ठोस बर्फ जम गयी थी, बर्फ़ ही बर्फ़ थी, सिर्फ़ सतह पर कुछ बुलबुले दिख रहे हैं। उन्हीं बुलबुलों में एक हलका मज़ाक था जो उन्होंने पिछले साल विवेक से किया था।

याद करने को बहुत कुछ था पर इस वक्त उन्हें वही मज़ाक याद आया।

वे दिल्ली के ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ़ मेडिकल साइंसेज़ में भर्ती थे। अब तक तय हो चुका था कि उन्हें कोई गंभीर बीमारी नहीं है। सवेरे जो महिला डॉक्टर उनका ब्लड प्रेशर लेने आती थी, उस दिन भी आयी। उस वक्त विवेक उन्हीं के पास बैठा था।

यह डॉक्टर लगभग बत्तीस साल की लंबी, छरहरी लड़की थी—बहुत ही आकर्षक। उसकी आवाज़ और भी आकर्षक थी, बोलती थी तो सुननेवाला बाहरी दुनिया से कट जाता था, उसके लिए अकेले वही रह जाती थी। दक्षता और कमनीयता का वह अद्भुत मिश्रण थी।

उस दिन भी उनका रक्तचाप ले चुकने के बाद वह रोज़ की तरह कुछ क्षणों के लिए उनके बिस्तर के पास कुर्सी पर बैठ गयी। उन्होंने उसका विवेक से परिचय कराया और कुछ देर तीनों हलकी-फुलकी बातें करते रहे। फिर उसने घड़ी देखी, मुस्करायी, कहा, "मुझे अब चल देना चाहिए।" और चली गयी।

उन्होंने विवेक पर अर्थ-भरी निगाह डाली, बोले, "इससे शादी क्यों नहीं कर लेते? मेरे मन में अपनी पुत्रवधू की एक तस्वीर है। हू-ब-हू इससे मिलती है।"

विवेक ने तुरंत जवाब दिया—जैसे वह बरसों से ऐसे सवाल का जवाब तैयार कर रहा हो, "नॉट गुड एनफ़!" यानी—इस लायक़ नहीं।"

वे बिस्तर पर बैठे हुए, चश्मा चढ़ाये, कोई पत्रिका देख रहे थे। चश्मा उतारकर उन्होंने नक़ली आश्चर्य की मुद्रा बनायी, अंग्रेज़ी में कहा, "आई बेग योर पार्डन," (क्षमा करें, आपकी बात सुन नहीं पाया।)

विवेक ने कहा, "मेरा मतलब है : आई ऐम नॉट गुड एनफ़ फ़ॉर हर! (मैं उसके लायक़ नहीं हूँ!)

विवेक के विवाह की सारी संभावनाएँ उन्हीं के हाथों नष्ट हुई हैं! उन्होंने महसूस किया, विवेक के आगे उनका यह सुझाव नहीं था, मज़ाक भी नहीं था, उनकी क्रूरता का प्रदर्शन भर था।

○ ○ ○

एक मंजे हुए हत्यारे की तरह वे ठंडे दिमाग से अपनी हत्या के तरीके के बारे में सोचते रहे थे और कई विकल्पों को खारिज करके उन्होंने अंत में बेतवा की धारा को इस काम के लिए चुना था।

फिर भी हत्या या आत्महत्या—इनमें से कोई शब्द उनके मन में नहीं उभरा था। एक दिवास्वप्न जैसा था; उसमें कोई विभीषिका या आवेश नहीं था, सिर्फ़ एक एहसास था कि वे एक नया खेल खेलने जा रहे हैं जिसके बहुत से नियम खेल के मैदान ही में तय किये जाएँगे। सवेरे उठकर टहलते हुए उन्होंने दूर तक बेतवा के दोनों किनारों पर निगाह डाली थी और जाँच परखकर तय कर लिया था कि उन्हें जो करना है वह नदी के दूसरे किनारे पर किया जाएगा।

नदी के उस पार जाने में कोई नयापन न था। वर्षा ऋतु के बाद इधर वे कभी-कभी शाम होने के पहले नाव से नदी के उस किनारे निकल जाते थे। उधर रेतीवाले किनारे पर चढ़ाई बहुत हलकी थी, कुछ ऊँचाई पर खेत शुरू हो जाते थे जिनमें गेहूँ बोया जा चुका था। वहाँ रेत के विस्तार में घास फूस उग आयी थी, कुछ छोटी-छोटी झाड़ियाँ भी थीं। पर नदी की धारा के पास सिर्फ़ मोटी, चमकीली रेत थी।

खेतों से आगे, और कहीं-कहीं उनके बीच में छिटपुट पेड़ थे। एक महुए के पेड़ों का झुरमुट तैयार हो गया था। वहाँ मल्लाहों की कुछ झोंपड़ियाँ थीं। जब वे नदी किनारे पर रेती में टहल रहे होते, उनका मल्लाह कभी-कभी उन झोंपड़ियों में चिलम पीने चला जाता था।

शाम के साढ़े चार बजे होंगे। उनकी नाव नदी के किनारे छिछले पानी में रुकी। वहाँ पर लकड़ी का एक पुराना स्लीपर कहीं से लाकर डाल दिया गया था। पहले की तरह रामलोटन ने नाव से उतरकर उसे नदी के पानी तक खींच लिया; उसका हाथ पकड़कर वे नीचे उतरे, स्लीपर पर सावधानी से पाँव रखते हुए, जूतों को पानी से बचाकर, वे सूखी बालू पर आ गए; रामलोटन से बोले; "मैं यहीं टहलूँगा, तुम लोग तब तक उधर जाकर आराम कर लो।" उन्होंने महुए के झुरमुट की ओर इशारा किया।

रामलोटन कुछ हिचका, फिर नाव से एक कंबल उठा लाया, उसे किनारे बिछाकर मल्लाह के साथ झुरमुट की ओर चला गया।

वे बहाववाली दिशा में नदी के किनारे-किनारे चलते गए। मन में कोई आवेग नहीं था, पर अजीब-सा खालीपन था—जैसे किसी परिचित की शवयात्रा से वे अकेले लौट रहे हों। उन्हें ऐसा नहीं लग रहा था कि कुछ उनके साथ हो रहा है, यही जान पड़ता था कि कुछ किसी दूसरे के साथ होने जा रहा है और वे उसे सिर्फ़ देख रहे हैं।

याद करने को बहुत कुछ था पर सहसा उन्हें एहसास हुआ कि वे सिर्फ़ अपने जूतों के बारे में सोच रहे हैं। घुटनों के दर्द के बावजूद उन्होंने सोचा कि झुककर जूतों को खोल लें और उन्हें किसी झाड़ी में छोड़ दिया जाए। पर ऐसा किया नहीं—ऐसा कर चुकने पर शायद वापसी का रास्ता बंद हो जाएगा।

पर जूते गीले हो गए थे और उनमें से बायें पैरवाला ढीला पड़ गया था। पाँव झटकते ही वह रेत में गिर गया। कुछ दूर वे सिर्फ़ एक पैर के जूते के साथ चलते रहे। उन्होंने आँख उठाकर नदी की विस्तीर्ण धारा और उसके ऊपर झलकते हुए नीले आसमान की ओर देखा। उतरती शरद ऋतु की शाम के आकाश में तोतों के कुछ झुंड, कुछ अबाबीलें भर थीं। इस निर्जनता में उन्हें एक क्षणिक, बचकाने हुलास का अनुभव हुआ। दूसरा जूता भी बालू में छूट गया।

नंगे पाँवों में रेत के साथ खुजली-सी लग रही है। शायद पंजे पर कुछ चीटियाँ चढ़ आयी हैं। बालू में दबी हुई कोई नुकीली घास अँगूठे और उँगली के बीच कहीं चुभ गयी है। बड़े मसलों के दफ़न हो जाने के बाद मन को उलझाने के लिए बस इतना ही बचा है।

घास-फूस, चीटियाँ, कीड़े-मकोड़े और भुनगे भी अब छूट चुके हैं। नदी है जो किनारे पर कुछ दूर तक उथली है, आगे गहरी हो गयी है। किनारे पर सबसे ज़्यादा गहराई उस पार, आश्रम के घाट से थोड़ा आगे बढ़कर है जहाँ धारा मुड़ती है। वहाँ होने और न होने का फ़र्क एकाध मिनट में मिट सकता था। पर वहाँ की आत्मीयता से विश्वासघात नहीं किया जा सकता। यहाँ निस्संगता है, यह तटस्थ क्षेत्र है।

ऊपर खूब नीला आसमान है, उनके आगे-पीछे नदी है। उस पार आश्रम की इमारत का सफ़ेद कोना ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की मरकत हरियाली के बीच में झलक रहा है। सारी अवसन्नता को झटककर एक बार वे फिर नये सिरे से वह सब सोचना चाहते हैं जो पिछले दिनों से बराबर सोचते रहे हैं; पर इतना ही सोच पा रहे हैं : मेरा पायजामा इतना गीला क्यों है?

○ ○

जवान होते-होते उन्हें अपने वर्ग की परंपरा में बहुत-सी कलाएँ सिखा दी गयी थीं—घुड़सवारी; कुश्ती; पोलो, फुटबॉल और हॉकी जैसे खेल, स्केटिंग, विलायती नाच, निशानेबाज़ी आदि आदि। उन्हें तैरना भी सीखना चाहिए था, पर उसमें एक अंधविश्वास ने झमेला खड़ा कर दिया।

उनके सिर पर सामने के बालों में एक गोल चक्र बना हुआ था। उनकी दादी उसे 'भौंर' कहती थीं। उसकी शक्ल नदी में उठनेवाली भँवर जैसी थी। जब तक बाल बहुत बड़े न हो जाते, यह भौंर कंघे का अनुशासन नहीं मानती थी, उसके बाल अलग-अलग दिशाओं का रुख किये रहते थे। यह समस्या तो सिर्फ़ साज सज्जा की थी; असली समस्या दादी के अंधविश्वास की थी। वे मानती थीं कि जिसके बालों में ऐसी भँवर होती है उसे पानी में डूबने का खतरा रहता है। इसीलिए वे अपने पोते को नदी में नहाने से या तैराकी करने से हमेशा रोका करती थीं।

उनके पिता इस आदिम सामुद्रिक शास्त्र को नहीं मानते थे और ज़ोर देते थे कि कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह को दूसरे सामान्य लोगों की तरह तैरना चाहिए। पर दादी की रोक-टोक ने उन्हें बचपन से ही पानी से दूर रहना सिखाया था। उस हिचक से उबरने में उन्हें बहुत देर लगी। पर तब तक वे जवान हो चुके थे और उस उम्र में नये सिरे से तैरना सीखने का उनमें उत्साह नहीं रहा। पर उसके पहले उन्होंने दो-चार बार पानी में हाथ-पैर चलाये थे और आधा-अधूरा इत्मीनान कर लिया था कि आपातस्थिति में वे कुछ देर अपना बचाव कर लेंगे।

आज आखिरी क्षणों में उन्होंने अचानक ऐसा ही चाहा। उन्होंने घबराकर महसूस किया कि उनकी साँस रूँध रही है और वे नदी की तेज़ धार में बहे जा रहे हैं। उन्होंने हाथ-पैर चलाकर उस बहाव को काटने की कोशिश की और उथले किनारे की ओर बढ़ना चाहा पर बहाव उनके लिए भारी पड़ रहा था। पानी से भी ज़्यादा घातक उनकी दहशत थी और वे दोनों में डूब उतरा रहे थे।

चेतना के बिखरते हुए कणों के बीच उन्होंने चीखना चाहा : रोको, रोको! रोको! पर उनके साथ जो हो रहा था उसे रोकनेवाला कोई न था।

उनकी शिथिल बाहें अब कोई भी मुक़ाबला करने लायक नहीं थीं पर हाथ-पैर अनियंत्रित ढंग से चल रहे थे। वे चिल्ला रहे थे पर आवाज़ गले से बाहर नहीं निकल रही थी।

पानी के ऊपर आते ही अर्धचेतन आँखों पर हरियाली और धूप का एक सुनहरा मायालोक था। उनकी विचार शक्ति ध्वस्त हो रही थी, पर एक कौंध में उन्हें लगा कि उस पार के ये हरे चमकीले धब्बे, नदी का यह निर्मल बहाव—सब कुछ मेरा है! पर यह अस्पष्ट कौंध भर थी।

अब चेतना के भीतर तरंगहीन नीरंध्रता के सिवाय कुछ भी नहीं बचा था। बाहर भी धारा के बहाव और शरीर के शिथिल समर्पण के सिवाय और कुछ नहीं था। सन्नाटा। वे नदी के भीतर हैं, बाहर हैं, वे खुद नदी बन चुके हैं।

उधर बेतवा का प्रवाह, लहरें, भँवरे—सभी अपना काम मुस्तैदी से कर रही हैं।

○ ○ ○

पिता के आखिरी पत्र ने विवेक की शंकाओं का समाधान करने के बजाय नयी शंकाएँ, नयी जिज्ञासाएँ पैदा कर दी थीं। पत्र में दावा किया गया था कि वे विवेक को अपनी मृत्यु के गोपनीय प्रसंग में शामिल कर रहे हैं। पर उनके आत्मघात का कारण अब भी विवेक के लिए गोपनीय ही बना हुआ था।

दिल्ली वापस आकर उसने उस पत्र को कई बार पढ़ा, पर आत्महत्या की गुत्थी कहीं से भी नहीं सुलझी। जीवन की व्यर्थता, स्मृतियों के दंश, कष्टपूर्ण रोगों की संभावना-ये सब बुढ़ापे के वर्णन में इस्तेमाल होनेवाले घिसे-पिटे मुहावरे-क्लिशे-भर हैं और किसी सामान्य मनोदशावाले व्यक्ति के लिए आत्महत्या का कारण नहीं बन सकते! इस तरह का निर्णय किसी बहुत गहरे और निरंतर अवसाद का ही नतीजा हो सकता है।

पत्र में एक और गुत्थी थी—कि उनका व्यर्थता-बोध दूसरों को भी अपंग बना रहा है। विवेक के लिए यह वाक्य बराबर एक पहेली बना रहा। उसने आश्रम में मंत्रीजी से खुलकर बात की थी, जानना चाहा था कि वहाँ कोई ऐसी घटनाएँ तो नहीं हुईं जिनसे उन्हें अवसाद का शिकार होना पड़ा हो। पर मंत्रीजी कोई ऐसी घटना सोच नहीं पाये थे। उनकी समझ में कुँवर साहब के आश्रम में रहते हुए जो सुधार हुए थे उससे उन्हें काफ़ी खुशी होती थी। सहकारी फार्म से दुबे महराज का अधिकार समाप्त होने पर उन्हें विशेष संतोष का अनुभव हुआ था। "हाँ, और गीता! वे आध्यात्मिक चिंतन की ओर झुक रहे थे। दोपहर बाद जब वे आराम कर चुकते, इन दिनों वे प्रभास भाई के साथ बैठकर शंकर का गीता-भाष्य पढ़ते थे," मंत्रीजी ने कहा था।

उसने निस्संगता के साथ अपने पिता के जीवन पर विचार किया और पाया कि वह उनके वर्ग के बहुत से दूसरे व्यक्तियों जैसा ही था। लगभग वे सभी आत्मकेंद्रित होते हैं, सिर्फ़ अपने लिए रहते हैं, परिवारवालों को अपनी जीवन-शैली में ढला हुआ देखना चाहते हैं। वे अपने छोटे-छोटे अहंकारों के साथ आत्मतुष्ट जीवन बिताते हैं, छोटी-छोटी महत्त्वाकांक्षाएँ पालते हैं और जाने-अनजाने एक दूसरे को ठेलते-धकियाते हुए उनसे आगे निकलना चाहते हैं। ऐसी जीवन-शैली में आत्महत्या तक खींच ले जानेवाला व्यर्थता-बोध किसी गहरे चिंतन का नतीजा नहीं हो सकता—इसके पीछे कोई न कोई बड़ी घटना होनी चाहिए! पत्र की छद्म दार्शनिकता इस गुत्थी का जवाब नहीं हो सकती।

उसे मालूम था कि सुशीला कुछ समय पहले उसके पिता से बिस्रामपुर में मिली थी। एक रात उसने सुशीला को अहमदाबाद फ़ोन किया और जानना चाहा कि बिस्रामपुर में उनकी मनःस्थिति कैसी थी।

सुशीला ने जो कहा उसका निष्कर्ष था—वे बहुत सहज, शांत, संतुष्ट थे; लगता था कि उन्होंने अपने लिए अब ज़िंदगी का सही लक्ष्य पा लिया है।

विवेक को लगा कि उसे कोई रटा-रटाया संवाद सुनाया गया है। उसने वही सवाल उसे कुरेद-कुरेदकर पूछा, "याद करो सुशीला; तुम्हें उनके व्यवहार में कुछ भी ऐसा नहीं दीखा जो इस घटना का आभास देता! अकेलापन, अवसाद, टूटन—कुछ भी नहीं?"

"कुछ भी नहीं विवेक, जब से तुमने मुझे फ़ोन पर उनके निधन का असली कारण बताया है, मैं खुद सदमें में हूँ। पिछले दिनों मैं बराबर सोचती रही हूँ, पर मेरी समझ में कुछ

नहीं आता।"

उसके बाद उसने बताया कि वह अगले सप्ताह दिल्ली आ रही है।

सुशीला की बात का एक अंश सच था, उसे भारी सदमा पहुँचा था। बिस्रामपुर में कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने अपनी सादगी के जीवन का प्रदर्शन करते हुए उससे प्रायश्चित की बात कही थी तो उसको उनके अंदाज़ में एक नैतिक अहंभाव दिखायी दिया था। वह उसे बरदाश्त नहीं कर पायी थी। तभी उसने तय किया था कि सुंदरी और विवेक के संबंधों में इस आत्मतुष्ट बूढ़े की लंपटता ने जो खलल डाला है, उसका पता उसे होना चाहिए। क्रूरता के इसी आवेग में उसने सुंदरी का पत्र कुँवर साहब के पास भेज दिया था।

पर उसे ऐसी घातक प्रतिक्रिया की आशा न थी। उसे लगता था कि यह आत्महत्या नहीं है, कुँवर साहब की हत्या हुई और यह हत्या उसने खुद की है।

अब इस अपराध-बोध को उसे अकेले ही ढोना होगा। विवेक अपने पिता की आत्महत्या का कारण कभी नहीं जान सकेगा क्योंकि सुशीला किसी भी दशा में सुंदरी और कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के बीच के तीस साल पुराने प्रसंग को ज़बान पर नहीं ला सकेगी।

○ ○ ○

पर कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की महायात्रा की सबसे बड़ी विडंबना कुछ और ही है। उनका यह मानना सही था कि उन्हीं की कुचेष्टा के कारण विवेक और सुंदरी के प्रेम का प्रतिफलन विवाह में नहीं हो सका। पर यह सोचना सही नहीं था कि उसी के कारण विवेक का सारा जीवन एक ट्रैजेडी बन गया है।

प्रेम की ऐसी असफलता बहुतों को बुरी तरह से झकझोरती है, उनकी जिंदगी में हमेशा के लिए उथल-पुथल मचा देती है और उसका सारा संतुलन बिगाड़ देती है। पर असफल प्रेम को हम जितनी बड़ी ट्रैजेडी मानते हैं उसके पीछे लोककथाओं, महाकाव्यों, उपन्यासों और फ़िल्मों आदि द्वारा गढ़े गए मिथकों का भी बड़ा हाथ है।

विवेक इसे समझता था; फिर वह सुंदरी के साथ अपने लगाव को—विवाह न हो सकने के बावजूद—'असफल प्रेम' की श्रेणी में नहीं रखता था। उसे यकीन था कि सुंदरी अगर उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर रही है तो उसका कारण सर्वोदय में उसकी अटूट निष्ठा है जिसके चलते वह अपने लिए चुनी हुई जीवन-प्रणाली को बदल नहीं सकती। उसे बड़ी कुंठा हुई थी, पर उससे सुंदरी के प्रति उसके विश्वास और सम्मान में कमी नहीं आयी थी और तभी सुंदरी के हाथों इतना बड़ा झटका खाने के बावजूद उससे बाद में सामाजिक संबंध बनाये रखना उसे अहसज नहीं लगा था।

कुछ हद तक उसमें एक सहज निस्संगता थी जो किसी भी घटना को उसके मनोदेश पर एक लंबी काली छाया की तरह लगातार मँडराने की इजाज़त नहीं देती थी। सुंदरी के लिए उसने बड़े गहरे और जुनून-भरे लगाव का अनुभव किया था जिसके प्रभाव में उसके लिए यथार्थ के रंग-रूप बदलने लगे थे; पर सुंदरी के अस्वीकार का झटका खाकर, काफ़ी अर्से तक आत्मविश्लेषण करने के बाद, वह अपने पुराने यथार्थ में लौट आया था। उसमें कुछ बदलाव ज़रूर आया था, पर वह घायल नहीं हुआ था। सुशीला की अगली दिल्ली यात्रा में विवेक के साथ जो बात हुई, उससे इस बारे में विवेक के विचारों की जानकारी मिलती है। सुशीला ने विवेक से उसके जीवन की ट्रैजेडी पर सहानुभूति जताने की कोशिश की थी। तब उसने

सुशीला को बड़े ठंडे ढंग से समझाया था :

"तुम ट्रैजेडी का अर्थ नहीं समझतीं, तभी ऐसा कह रही हो। ट्रैजेडी एक भयावह चीज़ है। किसी से प्रेम हो और उससे शादी न हो पाये—यह ट्रैजेडी नहीं है। आज की सामाजिक व्यवस्था में जिंदगी के हज़ार क्लेशों में यह एक क्लेश भर है; ज़्यादा से ज़्यादा कुछ लंबे दौर का न्यूसेंस है।

"ट्रैजेडी क्या होती है, जानना हो तो इतिहास में बहुत पीछे जाने की भी ज़रूरत नहीं है। यहूदियों पर हिटलर के अत्याचारों का इतिहास पढ़ो, भारत-पाक बँटवारे के समय के भयानक नरसंहार और दूसरे अपराधों की याद करो; या उसके कुछ ही साल पहले का बंगाल का अकाल; या बाद का वियतनाम युद्ध! ये ट्रैजेडी हैं, भूकंप या ज्वालामुखी के उत्पात की तरह हम इन्हें भगवान के मत्थे भी नहीं मढ़ सकते, इन्हें हमारी ही पशुता ने रचा है।

"और, तुम्हें व्यक्तिगत ट्रैजेडी चाहिए? तो सुनो, इस वक्त जब आराम से हम इस वातानुकूलित कमरे में गपशप कर रहे हैं, ठीक इसी वक्त इसी देश में न जाने कितनों की हत्या हो रही होगी, कितनी मासूम बच्चियों को कोड़े मारकर वेश्या बनाया जा रहा होगा, न जाने कितने बलात्कार हो रहे होंगे, कितने बच्चों के हाथ-पाँव तोड़कर उन्हें अपाहिज बनाकर भीख माँगने के लिए मजबूर किया जा रहा होगा...!

"ट्रैजेडी को लेकर अब मुझसे कभी ऐसी हलकी बात मत करना।"

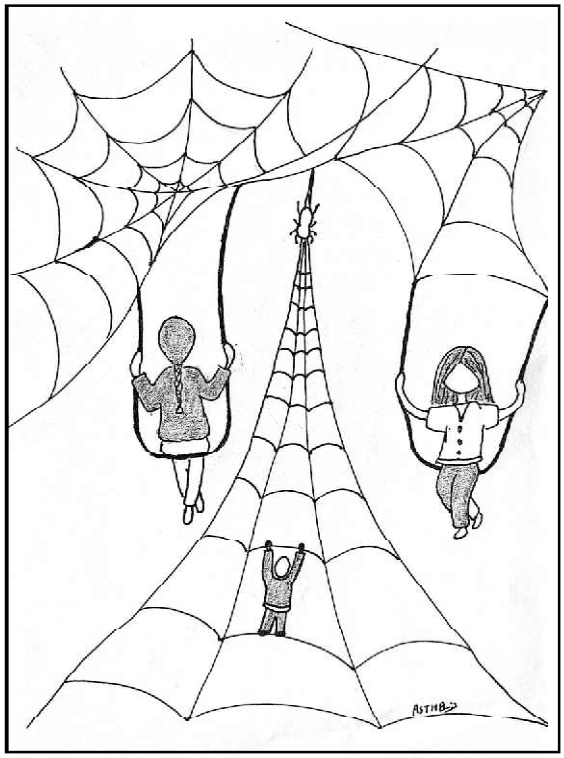

बब्बरसिंह और उसके साथी

दूसरे दिन आँख खोलते ही संजय ने सुना कि बाँध टूटने से शहर के एक हिस्से में दो-तीन मीटर पानी भर गया है, सड़कों और पार्कों में नावें चल रही है और पूरे शहर में उथल-पुथल मची हुई हैं। बहुत-से मुहल्लों में बाढ़ में फँसे लोगों को उनके घरों से हटाकर सुरक्षित जगहों पर पहुँचाया जा रहा है।

चिड़ियाघर भी बाढ़ की चपेट में आ गया था। वहाँ के कई जानवर और पक्षी मर गए थे और बहुत-से जानवर तैरकर बाड़े से बाहर आ गए। टूटे हुए बाँध से नदी का पानी रिसकर अब भी चिड़ियाघर की ओर आ रहा था। बारिश में टूटे बाँध की मरम्मत के लिए बालू से भरी हुई जो सैकड़ों बोरियाँ फेंकी गई थीं, उनसे कहीं-कहीं बाँध की दरारें बिल्कुल ठीक नहीं हुई थीं।

संजय और विजय के घर भी चिड़ियाघर के पास ही थे। वहाँ अभी तक ज़्यादा पानी नहीं आया था, सड़कें किसी भी समय पूरी तरह से डूब सकती थीं। दोनों के परिवार नीचे की मंज़िल छोड़कर दुमंज़िले पर आ गए थे और उन्होंने ज़रूरत पड़ने पर कई दिन वहीं रुकने का इन्तज़ाम कर लिया था।

संजय बहुत परेशान था। एक तो ऐसे मौसम में विजय के घर तक पहुँचना मुश्किल था, उसके पापा ने सबको बाहर निकलने से मना कर रखा था। दूसरे, उसे बब्बरसिंह और उसके पूरे परिवार की गहरी चिन्ता सता रही थी। उसने रंजना से पूछा, "दीदी, सिंह भाई साहब का क्या होगा?"

रंजना बोली, "मैं भी यही सोच रही हूँ। अगर उनका बाड़ा भी डेढ़-दो मीटर गहरे पानी में आ गया तो वे बेचारे उसमें कितनी देर तक तैरते रहेंगे?"

"वे तैरकर बाड़े के बाहर नहीं आ सकते?"

रंजना ने कहा, "वैसे तो सिंह तीन-चार मीटर ऊँची छलाँग लगा सकते हैं, पर पानी में तैरते हुए सिंह भाई साहब ऊपर के लिए बिल्कुल सीधी छलाँग कैसे लगा पाएँगे? बाड़े की रेलिंग भी कम-से-कम पाँच मीटर ऊँची होगी।"

संजय सिर लटकाए हुए सोचता रहा, "तब क्या होगा? बच्चे क्या करेंगे?"

बाढ़ की ख़बरें रेडियो और टी.वी. पर आ रही थीं। पर बहुत-सी ख़बरें कानों-कान शहर में फैल रही थीं। उनमें कुछ सच्ची घटनाएँ थीं, कुछ सिर्फ़ अफ़वाहें थीं।

एक ख़बर यह थी कि चिड़ियाघर के दो रीछ अपने बाड़े से बाहर निकल आए हैं

और शहर में घूम रहे हैं, उन्होंने एक बच्चे को मार डाला और एक आदमी को घायल कर दिया है। रेडियो पर लोगों को चेतावनी देते हुए दोपहर बाद एक ख़बर यह भी थी कि चिड़ियाघर का बाघ यानी टाइगर, अपने बाड़े से बाहर निकल आया है। घंटे भर बाद ख़बर आई कि वह शहर के बाहरी हिस्से में धनी लोगों की बस्ती में एक सड़क पर देखा गया; चिड़ियाघर के प्रबन्धक उसे बेहोश करके पकड़ने की व्यवस्था नहीं कर सके। मजबूरी में उसे गोली मार देने का निर्णय लिया गया, पर तब तक शेर ने एक ऐसे हिरन पर हमला कर दिया था जो खुद चिड़ियाघर से भागकर बाहर आ गया था। हिरन शेर के हाथों ओर शेर शिकारियों के हाथों मारा गया। यह भी मालूम हुआ कि खतरनाक जानवरों से निपटने के लिए सरकार ने शिकारियों के दल शहर और आस-पास के क्षेत्र में भेज रखे हैं।

बूँदें अब भी पड़ रही थीं, पर उनमें तीखापन नहीं रह गया था। तीन बजे के लगभग कुछ देर के लिए सूरज का फीका प्रकाश भी दिखाई दिया। इस समय उन इलाक़ों में बाहर निकलना ज़्यादा मुश्किल नहीं था जहाँ बाढ़ का पानी नहीं पहुँचा था। लेकिन चिड़ियाघर और उसके आसपास के मुहल्लों में तो पानी भरा हुआ था। संजय जानता था कि उसके लिए चिड़ियाघर की ओर जाना बहुत कठिन होगा—एक तो सड़कों पर पानी, दूसरे चिड़ियाघर के छूटे हुए जानवरों का ख़तरा। फिर भी चार बजते-बजते उसके लिए घर में बैठे रहना नामुमकिन-सा हो गया।

रेडियो पर बब्बरसिंह की कोई ख़बर नहीं आई थी, पर संजय जानता था कि जामुन का जो पेड़ जड़ से उखड़कर बाड़े में गिर गया है उसकी एक मोटी डाल रेलिंग पर टिकी हुई है। उसके सहारे बब्बरसिंह किसी भी समय बाड़े की क़ैद तोड़कर बाहर आ सकता है।

उसने रंजना से कहा, "दीदी चलो, हम लोग घर से बाहर निकल चलें।"

रंजना ने मना कर दिया, बोली, "घर से निकल भी पड़े तो कहाँ जाएँगे? उधर तो सड़कों पर पानी भरा है।"

"पानी है तो वहाँ सरकारी नावें भी हैं। बाढ़ से घिरे लोगों के लिए उन पर सामान ढोया जा रहा है और जो दूसरी जगहों पर जाना चाहते हैं उन्हें अपने घरों से हटाया जा रहा है। दीदी, हम लोग ऐसी ही किसी नाव पर चढ़ लेंगे और पता लगाएँगे कि बब्बरसिंह, उसकी सिंहिनी और बच्चों का क्या हाल है।"

रंजना ने कहा, "पता चल भी गया तो क्या करोगे?"

"उसे समझाऊँगा कि दो-एक दिन में पानी उतरते ही वह वापस आ जाए। इस समय हर नाव पर एक या दो शिकारी भी चले आ रहे हैं। मैं शिकारियों को भी समझाऊँगा कि वे बब्बरसिंह पर गोली न चलाएँ।"

रंजना ने कहा, "तुम बड़े भोले हो, भैया! शिकारी तुम्हारे समझने से मान थोड़े ही जाएँगे। अगर उन्हें ख़तरनाक जानवरों को देखते ही गोली मारने का हुक्म हुआ है तो उन्हें वह हुक्म मानना ही होगा। वैसे भी, वे तुम्हें नाव पर नहीं मिलेंगे, जानवरों की खोज में इधर-उधर भटक रहे होंगे। बब्बरसिंह से भी तुम नहीं मिल पाओगे। अगर वह ज़ू से बाहर आ गया है तो वह रास्ते में खड़ा होकर तुम्हारा इन्तज़ार थोड़े ही कर रहा होगा। अब तक कहीं दूर निकल गया होगा।"

संजय समझ गया कि रंजना इस समय बाहर नहीं निकलेगी। उसने विजय को

टेलीफ़ोन किया। फ़ोन मिलते ही विजय ने कहा, "तूने रेडियो पर ख़बर नहीं सुनी? सिंह भाई साहब भी बाड़े से बाहर निकलकर कहीं ग़ायब हो गए हैं, सिंहिनी का भी पता नहीं है, उसी के साथ दोनों बच्चे भी गायब हैं।"

संजय ने उसे बाहर निकलने का सुझाव दिया, पर विजय ने साफ़-साफ़ कुछ भी नहीं कहा। हर बार 'नहीं-नहीं' कहता रहा। विजय बोल भी बहुत धीमी आवाज़ में रहा था। इसका कारण संजय की समझ में आ गया। उसने सोचा कि हो-न-हो, विजय के पापा ने उसे बाहर निकलने से मना किया होगा और इस समय वे उसी कमरे में मौजूद होंगे जहाँ विजय टेलीफ़ोन पर बात कर रहा है, तभी खुलकर बोल नहीं रहा।

उसने तय किया कि मैं बाहर जरूर जाऊँगा और अकेले ही जाऊँगा। उस समय उसके पिताजी सो रहे थे, रंजना रसोईघर में चली गई थी। संजय बरसाती लेकर अकेले ही घर से बाहर निकल आया।

उस समय चिड़ियाघर के पास की बहुत-सी इमारतों की पहली मंजिल दो-तीन मीटर पानी में डूबी थी। सड़कों पर नावें चल रही थीं। जिस नाव पर संजय को बैठने को मिला, उसमें कई बोरों में आटा, दाल, चावल, नमक, मिट्टी का तेल, मोमबत्ती, दिया-सलाई आदि चीजें लदी थीं। यह नाव चिड़ियाघर के बग़ल से निकलती हुई शहर के किनारे एक गाँव की ओर जा रही थी जहाँ के लोग चारों ओर से बाढ़ से घिर गए थे।

नाव पर कुछ गाँववाले बैठे थे, कई सरकारी कर्मचारी थे और राइफल लिए हुए पुलिस के दो सिपाही भी थे। बातचीत से मालूम हुआ कि इस इलाके में सुरक्षा के लिए हर एक नाव पर एक या दो राइफलधारी लोगों को तैनात किया गया है। संजय ने एक पुलिसवाले से पूछा, "बब्बर शेर का कहीं पता चला?"

"वह यहाँ कहाँ होगा जी?" उसने जवाब दिया, "अब तक तो वह भागकर दूर किसी जंगल में छिप गया होगा।"

तब तक नाव एक ऐसी जगह आ गई थी जहाँ सड़क एक नाले के ऊपर से गुज़रती थी। यहाँ एक पुल था। उस पर पानी बहुत उथला था। इसलिए कुछ लोग नाव से उतरकर उसे हाथों से ठेलने लगे। नीचे नाला उफन रहा था और अगर पानी आधा-पौना मीटर भी बढ़ जाता तो पुल के डूबने का ख़तरा था। संजय उस नाले के भयानक बहाव को देखकर सहम-सा गया। तब तक नाव ने पुल पार कर लिया था और वह फिर सड़क की ढाल पर गहरे पानी में आ गई थी।

नाले के किनारे-किनारे पुल के पास एक बाँध बना हुआ था। उस पर एक पक्की सड़क जाती थी। पर पुल के पास ही बाँध कट गया था और नाले का बहुत-सा पानी दूसरी ओर निचले मैदान में भर गया था। वहाँ एक लम्बी-चौड़ी झील-जैसी बन गई थी। ऊँचे बाँध में लगभग दो सौ मीटर आगे जाकर एक और कटाव पैदा हो गया था। वहाँ से भी नाले का पानी बहकर इस झील में जा रहा था। इस तरह नाले के किनारे के इस बाँध की शक्ल पर इस समय एक लम्बे द्वीप-जैसी हो गई थी।

बाँध पूरब से पश्चिम की ओर बनाया गया था। नाव से उसकी ओर देखते ही छितरे हुए बादलों के रंगीन टुकड़े पश्चिम के क्षितिज पर दिखाई देते थे। सूरज डूबने में अभी आधा घंटा बाक़ी होगा। घने बादलों को भेदकर उसकी किरणें इस समय पश्चिम में काले और लाल

रंगों की बेतरतीब तस्वीरें बना रही थीं।

इसी द्वीप में सबसे ऊँची जगह पर बब्बरसिंह चुपचाप खड़ा था।

उसे देखते ही संजय ने मल्लाह को नाव धीमी करने को कहा। बब्बर शेर को देखते ही नाव के सभी यात्री सन्नाटे में आ गए, फिर किसी ने एक सिपाही से कहा, "उस्ताद, देखना, निशाना चूकने न पाए। वह शेर इतने खुले में खड़ा होकर तुम्हारी गोली का ही इन्तज़ार कर रहा है।"

संजय ने चिल्लाकर सिपाही को रोकना चाहा, पर तुरन्त ही उसे मालूम हो गया कि मारे डर के सिपाही खुद ही गोली नहीं चलाएँगे। पहला सिपाही कह रहा था, "मैं यहाँ शिकार करने के लिए नहीं, आप लोगों की हिफाज़त के लिए भेजा गया हूँ। अगर यह शेर नाव पर हमला करे तो उसे मैं पहले ही मार दूँगा। पर जब तक वह दूर खड़ा है उसे छेड़ने की ज़रूरत नहीं है।" यह कहकर उसने मल्लाह से कहा, "जल्दी करो। नाव आगे बढ़ाओ।"

पर तब तक संजय नाव पर खड़ा हो गया था। उसने मुँह पर दोनों हाथ लगाकर ज़ोर से पुकारा, "सिंह भाई साहब! बब्बरसिंह! सिंह भाई साहब!" पर सिंह पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उधर लोग संजय का हाथ खींचकर उसे बैठाने की कोशिश करने लगे। किसी ने कहा, "यह छोकरा पागल हो गया है क्या?" पर संजय वैसे ही खड़ा रहा और ज़ोर-ज़ोर से पुकारता रहा—"सिंह भाई साहब! बब्बरसिंह!"

पुकारते-पुकारते वह निराश हो चला था, पर तभी उसे बब्बरसिंह की दहाड़ सुनाई दी। पानी भरे हुए मैदान में वह दहाड़ बहुत देर तक गूँजती रही। संजय समझ गया कि सिंह ने उसकी आवाज़ सुन ली है।

अब संजय ने और भी ज़ोर से चिल्लाकर कहना शुरू किया, "सिंह भाई साहब, लौट आओ। आज तुम वहीं रहना। कल से ही पानी घटना शुरू हो जाएगा। तब तुम चिड़ियाघर वापस चले आना। मैं शिकारियों से कह दूँगा, कोई तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचाएगा।"

पर इसके जवाब में भी उसे सिर्फ़ सिंह की दहाड़ सुनाई दी। चिड़ियाघर में जिस तरह वह बब्बरसिंह की बात समझ जाता था, इस समय वैसा नहीं हुआ। घबराकर संजय ने फिर पुकारा, "बब्बरसिंह! मेरी बात सुन रहे हो न? तुम्हें वापस आना है। तुम अगर बचकर निकलना भी चाहोगे तो शिकारी तुम्हें खोज लेंगे। तुम्हारा गीर वन यहाँ से बहुत दूर है, हज़ारों किलोमीटर दूर। तुम वहाँ तक नहीं पहुँच पाओगे। रास्ते में ही मार दिए जाओगे। तुम वापस आ जाओ, सिंह भाई साहेब! वापस आ जाओ!"

इस बार सिंह पूरी ताक़त से गरजा। काफ़ी देर तक गरजता रहा। उसके बाद चारों ओर एक अजीब-सा सन्नाटा छा गया।

संजय ने एक बार और कोशिश की, चिल्लाया, "हम तुम्हें बहुत प्यार करते हैं, सिंह भाई साहब! हमें छोड़कर मत जाओ। कल तक ज़रूर वापस आ जाना।"

इस बार सिंह ने मुड़कर नाव की ओर देखा। वह नाव से बहुत दूर था, पर घबराहट में सिपाही ने राइफल नाव के फ़र्श पर रख दी। सिंह नाव की ओर थोड़ी देर देखता रहा, फिर उसने एक लम्बी-सी दहाड़ निकाली, फिर सन्नाटा छा गया। इसके बाद संजय ने उसे नहीं पुकारा। नाव बहुत आगे बढ़ आई थी और उसकी आवाज़ अब बब्बरसिंह तक पहुँच नहीं सकती थी।

सिंहिनी को शिकारियों ने दूसरे दिन शहर के एक पार्क में मार गिराया। उसके बच्चे साथ ही में थे। उन्हें बेहोश करके पकड़ लिया गया। पर बब्बरसिंह का पता आज तक नहीं चला। अगर वे मारे गए होते तो उसकी ख़बर ज़रूर मिलती, क्योंकि बाढ़ का दबदबा मिट जाने पर भी बहुत दिनों तक चिड़ियाघर से भागे हुए जानवरों की खोजबीन होती रही थी। उनमें से जो ख़तरनाक जन्तु वापस नहीं लौटे, उनकी ख़ासतौर से खोज की गई। पर कोई नहीं जान पाया कि बब्बरसिंह का क्या हुआ।

नाव की यात्रा कर संजय जब घर लौटा, तो अँधेरा हो चला था। बाढ़ के कारण शहर के कई भागों में बिजली ग़ायब थी। पानी की छपाछप में वह अँधेरा और भी डरावना दिखता था। पर संजय के मुहल्ले में बिजली आ रही थी। घर पहुँचते ही उसने चैन की साँस ली, पर उसका मन बहुत उदास था।

रंजना को उसने बब्बरसिंह के साथ इस मुलाक़ात का पूरा हाल सुनाया। रंजना भी उदास हो गई, बोली, "इसीलिए मैं तुम्हें जाने से रोक रही थी।"

थोड़ी देर बाद रंजना की आँखों में एक नई चमक आ गई। उसने संजय से कहा, "भैया, बब्बरसिंह ने जो किया है वह ठीक ही है। सिंह जंगल का राजा होता है। वह आज़ादी की ज़िन्दगी जीता है। चिड़ियाघर की क़ैद से एक बार बाहर निकलकर दुबारा वह उसी कैद में कैसे लौट सकता है?"

"पर दीदी," संजय ने कहा, "शिकारी उसे मार डालेंगे।"

रंजना बोली, "जिसे आज़ादी प्यारी होती है वह जान की परवाह नहीं करता, न आराम की ही। माना कि उसे यहाँ मुफ्त में, बिना हाथ-पैर हिलाए, अच्छा खाना मिलता था, तुम्हारी मीठी बातें सुनने को मिलती थीं, पर तुमने यह कैसे सोच लिया कि इनके लालच में वह अपनी आज़ादी की राह छोड़ देगा?"

संजय ने गहरी साँस छोड़ी। अचानक उसे क्लास में पढ़ाई गई अंग्रेज़ी की एक कहावत याद आई—"किसी के बारे में कोई ख़बर न मिले तो समझो, ख़बर अच्छी ही होगी।" संजय ने सोचा—तो बब्बरसिंह के साथ सब-कुछ ठीक होना चाहिए।

क्या पता, बब्बरसिंह जंगली रास्तों से होशियारी के साथ अब भी गीर के जंगल की ओर बढ़ रहा हो; या हो सकता है कि वह सचमुच वहाँ पहुँच गया हो।

राग विराग

स्कूल के बाहरी बरामदे में कई चारपाइयाँ बिछी हैं—मच्छरदानियों से ढँकी हुईं। कुछ काठ की कुर्सियाँ हैं। मेडिकल टीम छोटे-छोटे गुटों में बँटकर बरामदे के अन्दर या बाहर सहन में बैठी गपशप कर रही है। स्कूल के अहाते ही सीमा पर दो हाथ ऊँची चहारदीवारी है। कुछ लोग उस पर भी पैर लटकाकर बैठे हैं। उन सबसे दूर बाहर कोने में एक पेट्रोमैक्स जल रहा है। पतंगों और भुनगों की इफरात के कारण उधर जाने की कोई हिम्मत नहीं कर रहा है। बरामदे में और बाहर—मच्छर सब कहीं गोलबन्द होकर चक्कर काट रहे हैं।

शंकर—चलो, हम लोग उधर कुएँ की जगत पर बैठेंगे। मच्छर तो होंगे पर वहाँ ठंडक होगी, इतने भुनगे और पतंगें भी न होंगे।

सुकन्या—नहीं शंकर, उधर कीचड़ है, अँधेरा है।

शंकर—पर वहाँ मैं भी हूँ।... और मेरी टार्च भी।

कुएँ से कुछ हटकर नीम के दो पेड़ हैं। उनकी टहनियों में हवा की सरसराहट बसी है। यहाँ की ठंडक सचमुच ही ज़्यादा आरामदेह है। एकान्त और अँधेरे की घनिष्ठता में दोनों काफ़ी देर तक एक-दूसरे की निकटता, उसकी ऊष्मा का एहसास करते हुए बैठे रहते हैं।

शंकर—इस तरह किसी गाँव में रात बिताना—तुम्हारे लिए बिलकुल नया है न?

सुकन्या—दिन बिताना भी इतना ही नया है। ठेठ गाँव से यह मेरा पहला एनकाउंटर है—तुम जानते ही हो!

शंकर—बचपन में कभी कोई गाँव नहीं देखा?

सुकन्या—नहीं; पापा और मम्मी—दोनों ओर से मैं शहर की हूँ। पापा इलाहाबाद के, माँ दिल्ली की।

शंकर ने अपने हाथ की उँगलियाँ उसकी उँगलियों में फँसा रखी हैं। वह धीमी आवाज में बोल रही है।

सुकन्या—जानते ही हो, सात साल की थी तब माँ का देहान्त हुआ। पता नहीं कैसे, उन्हें फूड प्वायजनिंग हो गई थी। अस्पताल में बहुत कोशिश की गई; पर वे उन्हें बचा नहीं सके।

बहुत दिन बाद इस तरह उसे माँ की याद आई है। शायद यह अँधेरे का असर है या इतने लोगों के होते हुए भी गाँव की वीरानगी का।

सुकन्या—...उसके बाद मुझे डलहौजी के सनोवर स्कूल में भर्ती करा दिया गया, सेकेंडरी एजूकेशन वहीं पूरी की। पढ़ाई के दिनों स्कूल में रहती, छुट्टियों में नाना के यहाँ दिल्ली

चली जाती; तो कभी-कभी दो-चार दिन पापा के साथ भी बिता लेती—तभी जब उनकी तैनाती किसी अच्छे शहर में हो। कुछ अकेलापन था, पर मुझे उससे तकलीफ नहीं थी। वह सहज स्कूली लड़कियों की ज़िन्दगी थी जिसमें कोई हलचल या उतार-चढ़ाव नहीं।... हलचल तब आई जब जनाब से जान-पहचान हुई।

वह हलकेपन से पूछना चाहता है, 'और चढ़ाव उतार' पर वह सुकन्या के मूड में दखलअन्दाज़ी नहीं करना चाहता। बिना हिले-डुले यह खामोशी से बैठा रहता है।

सुकन्या—खुद माँ बहुत दिन पापा के पास नहीं रह पाई। पापा ने शुरू में चार-पाँच साल स्टेट मेडिकल सर्विस में काम किया था। तीन साल उन्हें देहात में अकेले काटने पड़े। माँ का वहाँ रहना बहुत कठिन था...।

सहसा वह शंकरलाल की पीठ को अपनी बाँह के वृत्त में ले लेती है। कहती है, "तुम मुझे समझते क्या हो? मैं दिल्ली की लड़की हूँ।"

अब शंकर हिलता है। उसे अपनी ओर खींचता है। सुकन्या अपना हाथ उसकी पीठ से हटा लेती है, सीधी बैठ जाती है।

अचानक शंकर को याद आता है—माँ दिल्ली में थी तो हरचन्दपुर के प्राइमरी हेल्थ सेन्टर में गाउन पहने हुए वह महिला कौन थी जिसने मेरे लिए अन्दर से डाक्टर के घर का दरवाजा खोला था।

पर आज सवेरे से ही उसने डॉक्टर को अपने मन से देशनिकाला दे रखा है। यह सारा देश आज सुकन्या का है।

शंकर—तो, दिल्ली की लड़की....फिर?

सुकन्या—फिर क्या?

शंकर—सेकेंडरी एजुकेशन के बाद?

सुकन्या—एक साल बी.एस.सी. में बिताकर मेडिकल कॉलेज। पापा यहीं तैनात थे। तब, इतने सालों बाद, जब मैं वयस्क हो चुकी थी, मुझे उनके साथ रहने का, उन्हें पहचानने का मौका मिला।

शंकर—पहचाना?

यह शब्द मुँह से निकलते ही उसे पछतावा होता है कि उसने गलत बात गलत मौके पर निकाली। सुकन्या कहीं इसमें व्यंग्य का सन्देह न कर बैठे। पर वह ध्यान नहीं देती।

सुकन्या—हाँ, पहचाना। पहचानने में चार दिन भी नहीं लगे। इतना प्यारा पापा बड़ी मुश्किल से मिलता है।

शंकर—और इतनी प्यारी लड़की भी...।

सुकन्या—पता नहीं।

शंकर की बाँह उसके कन्धों को घेरे हुए है। उसका कसाब कुछ बढ़ जाता है। पर लगता है, सुकन्या को इसका भी पता नहीं।

2

अचानक स्कूल के सहन में जलता हुआ पेट्रोमैक्स भक-भक करके बुझने लगता है। कोई वहाँ पहुँचकर उसमें हवा भरता है, पर रोशनी के नाम पर हलकी उजास-भर बची रहती

है। कोई अन्दर से दूसरा पेट्रोमैक्स लाने के लिए आवाज़ लगाता है। उसकी जगह बरामदे में एक लालटेन नज़र आती है।

सुकन्या—अब चलें।

शंकर—कुछ देर रुके रहें, पेट्रोमैक्स को ठीक से जल जाने दो।

सुकन्या—तुम्हारे पास टॉर्च भी तो है।

कुएँ की जगत से सुकन्या को नीचे उतारने के लिए शंकर उसे हाथ का सहारा देना चाहता है। पर वह पहले ही नीचे उतर आई है। उसका पैर कीचड़ में पड़ता है। वह उधर से लापरवाह है। उनके और स्कूल की चहारदीवारी के बीच करीब पचास फुट खाली ज़मीन है, बीच में एक गलियारा है। पानी और कीचड़ के धब्बों को बचाते हुए इस फासले को सावधानी से ही पार किया जा सकता है। सुकन्या का हाथ पकड़कर सामने टॉर्च की रोशनी फेंकता हुआ वह तीन-चार कदम-भर चल पाया है कि सुकन्या लड़खड़ाती है और उसके सहारे के बावजूद फिसलकर कीचड़ में गिर पड़ती है। उसके जिस्म का दायाँ हिस्सा और गाल कीचड़ में लिथड़ जाता है। शंकर का हाथ उसके हाथ से छूट गया है।

वह तुरन्त नीचे झुकता है और दूसरा हाथ बढ़ाकर सुकन्या को उठाना चाहता है। पर इस कोशिश में वह भी फिसलता है और सुकन्या की जाँघों और कमर पर टेटे-मेढ़े गिर पड़ता है। जलती हुई टॉर्च छिटककर दूर जा गिरी है। उसकी रोशनी का वृत्त किसी दूसरी ओर मुड़ा हुआ है।

बरसात की बादलों भरी, धुँधली रात में वे दोनों गलियारे के कीचड़ और पानी में दो पालूत जानवरों की तरह उठने की कोशिश में लिथड़ रहे हैं। अचानक गीलेपन की ठंडक के बावजूद, शंकर अपने जिस्म से लिपटते, छिटकते और टकराते हुए दूसरे जिस्म की ऊष्मा का प्रबल अनुभव करता है। वह सुकन्या को खींचकर मज़बूती से अपनी बाँहों में बाँध लेता है। बाहरी परिवेश में उसके लिए अब कुछ नहीं है; न कीचड़ है न धुँधलका है, न ऊपर सरसराती नीम की टहनियाँ हैं, न उनके ऊपर बादलों की अस्पष्ट गड़गड़ाहट है। सिर्फ़ सुकन्या है।

गीली धरती और नक्षत्रहीन आकाश के नीचे, किसी आदिम उत्सव के से नशे में, दोनों एक-दूसरे की बाँहों में समाकर एक-दूसरे को अपने में समाहित करने की कोशिश कर रहे हैं। लगता है कि गिरते, फिसलते, उठते, लड़खड़ाते हुए उनमें से एक ओर का कीचड़ दूसरे की जज्ब कर लेगा। गालों और ओंठों पर लगी हुई मिट्टी ने दूसरी ओर की मिट्टी को प्रगाढ़ता से चूमा है। मेडिकल कॉलेज में पढ़े हुए हाइजीन के सारे सबक इस समय मिट्टी में मिल गए हैं।

यह सब गिने-चुने सैकेंडों की बात है जिसके दौरान एक अनोखे क्षण में शंकरलाल अपने अतीत से कट जाता है। असह्य आवेग में उसकी साँस रुँधने लगती है। वे किसी तरह खड़े हुए हैं, पर फिसलन-भरी धरती पर अब भी डगमगा रहे हैं। उसी डगमग हालत में शंकरलाल को एक अपरिचित-सी, पर अपनी ही आवाज़ सुनाई देती है, "अब और इन्तज़ार नहीं, सुकन्या। मैं तुमसे शादी करूँगा। देखो, 'न' मत कहना।" उनके ओंठों की बीच की मिट्टी में अब यह थरथराती हुई आवाज़ भी जुड़ गई है।

सुकन्या का जिस्म ठिठकता है, कड़ा पड़ जाता है। उसने अपना सिर पीछे खींच

लिया है। उसकी साँस फूल रही है।

सुकन्या—कभी दिन की रोशनी में बात करेंगे...वह टॉर्च...!

टॉर्च का प्रकाश-वृत्त दूसरी ओर फैल रहा है। रोशनी होते हुए भी शंकरलाल के लिए रोशनी बुझ गई है। बहुत सँभलकर वह टॉर्च उठाने के लिए झुकता है।

उसके साथी दो लालटेनें लिए उनकी ओर आ रहे हैं। वे नदी में बाढ़ से घिरे हुए दो टापुओं पर झकझोरे हुए पेड़ों की तरह अलग-अलग खड़े हैं। समवेत शोर-गुल के बीच कोई कहता है, "हम वहाँ मच्छरों से परेशान हैं और आप लोग यहाँ चैन से मड बाथ ले रहे हैं।"

3

शंकरलाल ने सत्रह साल के अन्तराल के बाद अपने पुराने मेडिकल कॉलेज के परिसर में कदम रखा है। संस्था ने इस हीरक जयन्ती वर्ष में होनेवाले कई आयोजनों के बीच उसे एक सेमिनार में मुख्य वक्ता के रूप में आमन्त्रित किया है। सेमिनार भारत के विशेष सन्दर्भ के साथ ऊष्ण कटिबन्धीय देशों में संक्रमण सम्बन्धी बीमारियों को लेकर है और उनसे जुड़े हुए शोध-कार्य की नई दिशाओं पर उसे अपना व्याख्यान प्रस्तुत करना है।

ऑडिटोरियम की पहली पंक्ति के कोनेवाली सीट पर बैठी हुई सुकन्या शंकरलाल के इस नए, अपरिचित अवतार को देख रही है। पास की सीट पर लँगड़ी मौसी है, जो इस कॉलेज की बुजुर्ग और सम्मानित पूर्व छात्रा है।

पहले के मुकाबले शंकरलाल का वजन घटा हुआ है, इससे वह छरहरा और कुछ लम्बा-सा दीख रहा है। सत्रह साल पहले जो चेहरा गोल था, वह अब लम्बोतरा, कुछ-कुछ तिकोना-सा हो गया है, मुमकिन है कि गाल की हड्डियों के कुछ उभर आने के कारण ऐसा दिख रहा हो। दाढ़ी की बढ़त लगभग पन्द्रह दिन की है और शायद यह उसके चेहरे की नियमित सजावट में शामिल है। सिर और दाढ़ी के बाल काले कम और सफ़ेद ज़्यादा हैं, और सिर पर कन्धे के अनुशासन के खिलाफ बगावत कर रहे हैं। वह एक नफीस सूट पहने हुए है, जो समझा जा सकता है कि पेरिस का सिला हुआ होगा।

अपने व्याख्यान में यह मलेरिया-निरोध के लिए विकसित की जानेवाली वैक्सीन पर विस्तार से बात करता है। आरम्भ में यही उसके कार्य का विशेष क्षेत्र रहा है। इस सम्बन्ध में अफ्रीकी देशों में—विशेष रूप से गाना में—जो काम हो रहा है, उसका वह उल्लेख करता है। विकासशील देशों में दूसरी संक्रमणजन्य बीमारियों के लिए जो महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य हो रहे हैं, उसका आकलन करते हुए व्याख्यान के अन्तिम चरण में वह शोध-कार्य में आनेवाली कुछ अड़चनों का ज़िक्र करता है।

शंकरलाल—पहली समस्या वित्तीय संकट की है। जी हाँ, अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैंड जैसे विकसित देशों में भी संस्थागत शोध-कार्य वित्तीय कमी के कारण बाधित होता रहता है। विडम्बना यह भी है कि हम वैज्ञानिक जिस प्रोग्राम को प्राथमिकता देते हैं, उसके लिए फंड्स की कमी है और जो प्रोग्राम महत्त्व के हिसाब से दूसरे दर्जे पर हैं उनके लिए कभी-कभी लगता है कि न सिर्फ़ राष्ट्र का खजाना पूरी तौर से खोल दिया गया है, बल्कि विश्व स्वास्थ्य संगठन और विश्व बैंक भी उनके लिए अतिरिक्त उत्साह दिखा रहे हैं। इसका कारण क्या है, इसकी ज़्यादा विवेचना करके मैं विषयान्तर का दोषी नहीं बनना चाहता। पर हम सब जानते हैं कि

इसके पीछे विश्व बाज़ारवाद भी एक बड़ा कारण है।

बाज़ारवाद वित्तपोषक संस्थाओं को ही नहीं प्रेरित करता, वह वैज्ञानिकों में भी अवैज्ञानिक कोटि की दिलचस्पियाँ जगाकर उन्हें अपने केन्द्रीय कार्य से विचलित कर सकता है। यही नहीं, वह राजनीतिक लॉबी भी तैयार करता है। एच.आई.वी. की पहचान का झमेला आपमें से अधिकांश लोग जानते ही होंगे। यह इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण है।

जब आठवें दशक के अन्त में मैं इंग्लैंड गया, वह समय ट्रापिकल बीमारियों की परम्परागत समस्याओं पर शोध का था। पर 1984 तक आते-आते न सिर्फ़ एच.आई.वी. की पहचान कर ली गई बल्कि उसे एड्स की बीमारी का कारण भी समझा जाने लगा। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र प्रशासन पर समलैंगिकों के दबाव और उनकी राजनीतिक लॉबीइंग की वजह से इस विषय में शोध के लिए इतनी वित्तीय सहायता मिली कि डॉ. गैलो जैसे वैज्ञानिक सब कुछ छोड़कर इसी दिशा में काम करने लगे। उधर फ्रांस में पाश्चर इंस्टीट्यूट के डॉ. लुक मांटेनियर ने एच.आई.वी. की पहचान करके उसका एड्स से सम्बन्ध स्थापित किया। यहाँ तक सारी बात वैज्ञानिक स्तर की रही। पर आगे बाज़ारवाद सक्रिय हुआ। मांटेनियर के सीक्वेंस का रॉबर्ट गैलों को पता था और जब उम्मीद थी और कि वे संयुक्त रूप से किसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, डॉ. गैलो ने उसका अपने हक में पेटेंट करा लिया। आपसी मुकदमेबाजी हुई और अन्ततः दोनों ही उस पेटेंट के लाभार्थी घोषित हुए।

इसके बाद बाज़ारवाद को खुली छूट मिली। एड्स के घोषित कारणों के आधार पर एक अमेरिकी दवा कम्पनी ने तुरत-फुरत एक दवा निकाली जिसकी मान्यता में विलम्ब नहीं लगा और वह बाज़ार में आ गई। पर हमारे यहाँ के सामान्य जन के लिए यह असम्भव रूप से महँगी दवा है। और आज जब इतने दिन बाद एड्स के फैलाव में अफ्रीका और दक्षिण-पूर्व एशिया का हिस्सा विश्व का अस्सी प्रतिशत है तब गरीबी के कारण इस महँगी दवा का इन देशों के लिए कोई मतलब नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में, अगर एच.आई.वी. और एड्स का फैलाव सचमुच ही गरीब अफ्रीका और एशियाई देशों में इस भयानक हद तक है, तो एड्स के कारण, उसके निदान, उसके उपचार आदि पर जितना शोध और अनुसन्धान अब तक हुआ है वह इन देशों के एड्स से ग्रस्त लोगों के लिए पूरी तौर से निरर्थक है।

बाजारवाद का एक और भी पक्ष है। कोई प्रचार होता है तो उसके प्रतिपक्ष का भी प्रचार होता है। एच.आई.वी. के मामले में जो दावे किए जा रहे हैं, उनके विरोधी दावे भी हमारे सामने हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता कैरी मुलिस का दावा है कि एच.आई.वी. और एड्स का सम्बन्ध कहीं भी वैज्ञानिक स्तर पर सिद्ध नहीं हुआ है। एड्स के आतंक का भय दिखानेवाली सारी गवेषणाओं को वे अधकचरी मानते हैं। बीच के भी कुछ मत हैं। उधर बाजार में सम्बन्धित दवा कम्पनियाँ अपनी उपचार-क्षमता का डंका पीट रही हैं।

इस बाजारवाद का शिकार वे अनेक परियोजनाएँ हो सकती हैं जो मलेरिया, टी.बी. डिप्थीरिया, हैपेटाइटिस बी आदि से सम्बन्धित हैं। शोधकर्ताओं की मुख्य चिन्ता एड्स की है। परिणाम यह है कि फ्रेंच वेस्टइंडीज में मेरे इस लगभग गुमनाम शोध संस्थान का अधिकांश काम आज एच.आई.वी. और यक्ष्मा के कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर है।

आप लोगों की जिज्ञासा होगी कि इस पूरे वाद-विवाद में—जिसके वैज्ञानिक पक्ष से लेकर बाजारू पक्ष तक अनेक पहलू हैं—मैं कहाँ खड़ा हूँ। मलेरिया मेरा मूल विषय है और

मुझे अपने से उम्मीद है कि मैं उस तरफ फिर लौटूँगा। पर मुझे पाश्चर इंस्टीट्यूट में डॉ. लुक मांटेनियर, शेरमेन और बारे सीनूसी जैसी हस्तियों के साथ काम करने का अवसर मिला है और मुझे उनके निष्कर्षों पर सन्देह करने का कोई भी समुचित कारण नहीं दीखता।

मूल विषय से थोड़ा हटकर अभी मैंने जो निवेदन किया वह सिर्फ़ यह दिखाने के लिए कि ट्रॉपिकल बीमारियों से सम्बन्धित शोध और अनुसन्धान का रास्ता उतना साफ़-सुथरा और सपाट नहीं है जैसा कि हम लोग सोचते हैं। वहाँ भी कदम-कदम पर काँटे हैं और... फिर भी...।

4

व्याख्यान के बाद चाय के दौरान मेडिकल कॉलेज के कई पुराने साथियों ने, जिनमें कई प्रोफेसर हैं, उसे घेरकर सवालों और निजी घनिष्ठताओं में बाँधने की होड़-सी लगा ली है। थोड़ा अन्तराल देकर वह उस घेरे को सौम्यता से तोड़ता है और भीड़ से कुछ हटकर लॉन में कुर्सी पर बैठी हुई लँगड़ी मौसी के पास जाना चाहता है। सुकन्या उसे पहले ही मिल जाती है। शंकरलाल ने व्याख्यान शुरू करने के पहले मंच से जब श्रोताओं को झुककर अभिवादन किया था, तो सुकन्या की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया था और सुकन्या ने मुस्कराकर उसे स्वीकार भी किया था। अब दोनों एक-दूसरे के सामने हैं।

शंकर—कैसी हैं आप?

सुकन्या—आप?

शंकर—बहुत दिन से किसी को 'तुम' कहने का मौका नहीं मिला। तुम! कैसी हो?

सुकन्या—ठीक हूँ। और तुम कैसे हो शंकर?

शंकर—फाइन, थैंक्यू!

विलायती अभ्यास के कारण यही दो शब्द चुस्ती से निकलते हैं और उन्हें बोलते ही वह संकुचित हो जाता है। मुस्कराकर यह इस औपचारिकता का समाधान पेश करता है।

शंकर—आजकल क्या कर रही हो?

सुकन्या—यहाँ के महिला अस्पताल में चीफ सुपरिटेंडेंट हूँ।

शंकर—यह तो काफी सीनियर जगह हुई।

सुकन्या—देख नहीं रहे हो? अब तक काफी सीनियर हो गई हूँ।

वह देख रहा है। मंच से भी उसने देखा था, चवालीस साल की उम्र में भी यह पहलेवाली छरहरी कमनीय लड़की ही दिखी थी। पर नजदीक से यह देख रहा है कि चेहरे पर वक़्त की मार के लक्षण छिप नहीं रहे हैं। उसकी आँख के कोनों पर झुर्रियों की बहुत पतली रेखाएँ खिंच आई हैं। ओठों के दोनों सिरों पर ऐसा कसाव है जो पहलेवाली कमनीयता की जगह कठोरता का आभास दे रहा है। सिर्फ आवाज नहीं बदली है, वही सहलाती-सी तरलता, वही सहजता!

एक उत्साही डॉक्टर हाथ में चाय के दो प्याले लिए उनके पास आता है। हाथ में चाय लेते हुए, एक दुचित्ता 'थैंक्यू' कहकर यह फिर सुकन्या की ओर मुड़ता है।

शंकर—तुम्हारे पापा?

सुकन्या—उम्र के हिसाब से ठीक हैं। पता नहीं क्यों उन्होंने देहरादून में मेरे नाम

से एक फ़्लैट खरीद लिया है। वहीं रहते हैं। यहाँ भी आते रहते हैं।

शंकर—यहाँ तुम हो—और?

सुकन्या—और कौन?

शंकर के पास उत्तर नहीं है। सुकन्या ही खामोशी तोड़ती है।

सुकन्या—सूरज से नहीं मिलना है?

शंकर—सूरज तुम्हें याद है? कभी मिला तुमसे?

सुकन्या—तुम्हें शायद रोज ही याद करता है।

शंकर—गलती मेरी है। मुझे शायद अपने आप में इतना नहीं सिमटना चाहिए था।

सुकन्या—कछुए की तरह!

शंकर—हाँ, कछुए की तरह!

एक क्षण बाद—

सुकन्या—यहाँ कब तक हो?

शंकर—कल रात पूर्व छात्रों के डिनर में शामिल होना लाज़मी है, परसों सवेरे दिल्ली, अगले दिन पेरिस...।

सुकन्या—और आज?

शंकर—रात प्रिंसिपल के घर पर डिनर, उसके पहले अनौपचारिक सवाल... जवाब...।

शंकर बोलते-बोलते ठिठक जाता है, सुकन्या उसे सवालिया निगाह से देख रही है।

शंकर—फिर भी, हम मिलेंगे।

सुकन्या वैसे ही देखती रहती है। यह अपनी बात दोहराता है।

शंकर—मिलेंगे।

सुकन्या—सच?

शंकर—सच।

मौसी को कुछ लड़कियों ने घेर लिया है। न जाने क्यों, वह अब उनसे सुकन्या के साथ नहीं मिलना चाहता। बाद में मिलने का निश्चय करके वह आसपास मँडराते हुए मित्रों के पास पहुँच जाता है।

5

हलके ढंग से 'सच'? 'सच' कहकर वे एक-दूसरे के साथ नहीं, खुद अपने साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। सुकन्या जानती है कि यह सच नहीं है; शंकरलाल भी ऐसा ही समझता है, पर उम्मीद इसके विपरीत कर रहा है।

शाम होनेवाली है। लँगड़ी मौसी सुकन्या के बँगले पर बैठी हुई कॉफी पी रही हैं। सुकन्या अन्दर कोई काम निपटाकर उनके पास आती है।

सुकन्या—शंकर से क्या बात हुई।

मौसी—यही कि आप कैसी हैं। और, आपसे मिलकर बहुत अच्छा लगा, इतना अच्छा कि...।

सुकन्या—और?

मौसी—यही बात अलग-अलग शब्दों में कई बार कही गई।

सुकन्या—यह शायद वर्कैहलिक होने का नतीजा है। प्रोफेसर दुबे बता रहे थे, वह पन्द्रह-सोलह घंटे से कम काम नहीं करता। तभी उसमें कुछ विचित्रता-सी दीखती है। कैसी विचित्रता, यह मत पूछिए; क्योंकि मैं बता नहीं सकती।

मौसी—मुझे उसमें कोई विचित्रता नहीं लगी, हाँ जिस्मानी हालत में कुछ बदलाव आया है। वह हम सब में आया है। उसके मैनर्स भी अब कुछ यूरोपीय किस्म के हैं—या अमरीकी।

हाँ, शंकर को देखकर मुझे ऐसा लगता है...पर पता नहीं कि मुझे तुमसे कहना चाहिए या नहीं। गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ?

सुकन्या—पर, मौसी, प्लीज! आपस में ऐसा दुराव-छिपाव आपने पहले तो कभी किया नहीं।

मौसी—बताती हूँ। मन में आया है तो कहना तो है ही, पर मुझे गलत मत समझना।

बहुत साल पहले, जब शंकर ने तुमसे प्रपोज किया था उससे भी पहले, तुमने शंकर के विवाह-प्रस्ताव की सम्भावना भर से अपना जवाब 'नहीं' में तैयार कर लिया था—यह कहते हुए भी कि तुम्हारे मन में उसके लिए गहरा लगाव है। कारण क्या था? यह कि वह अपने साथ बहुत-सा वजनी और बेकार सामान लादकर सफर कर रहा है और उसके झमेले में शामिल होना आसान नहीं है। उसकी अपढ़ माँ, मज़दूर भाई, टूटा-फूटा घर...। तुम्हें डर था कि ऐसा वर्ग-भेद, इतनी चौड़ी सांस्कृतिक खाई के होते हुए सफल विवाहित जीवन की उम्मीद नहीं की जा सकती है!

यह सिर्फ़ सत्रह साल पहले की बात है—सदियों पहले की नहीं। और अब वह खाई कहाँ गई? परिवार की मुफलिसी और अशिक्षा का दूर-दूर तक पता नहीं। वह खुद विदेश में एक विख्यात वैज्ञानिक है। परिवार में तीन भतीजे हैं जो अफ़सर हैं या वकील हैं। ऐसे समाज में जिसमें मध्य वर्ग निरन्तर फैल रहा हो और निचला वर्ग ऊपर की और बराबर बढ़ रहा हो, इस तरह का दुराग्रह क्या आज तुम्हें बचकाना नहीं दीखता? ऐसा रोज़ हो रहा है। तेज़ी से बदलते हुए समाज में जो तुम्हें आज गाँव का खेतिहर मज़दूर जैसा दीखता है वही कल शहरी मध्य वर्ग का इज्जतदार सदस्य बन जाता है। फौजी छावनी में तुमने यह तमाशा और भी नजदीक से देखा होगा। वहाँ न जाने कितने ब्रिगेडियर और मेजर जनरल होंगे जिनके बचपन की शुरुआत पंजाब के किसी गाँव से हुई होगी, जहाँ वे खेतों पर काम करते हुए अपने बाप को रोटी पहुँचाने जाया करते थे।

वर्ग-भेद को लेकर किसी आदमी के बारे में फ़ैसला देना वैसे भी वाहियात बात है; पर मुझे लगता है कि उससे भी ज़्यादा वाहियात बात है किसी आदमी पर शुरू से ही उसके वर्ग का ठप्पा लगा देना। उसे स्थायी बना देना। वह वर्गवाला ठप्पा कभी भी धुल सकता है।

हाँ, जाति की बात कुछ और है। तुम्हारे पापा ने शंकरलाल की जाति जाननी चाही थी और उसने उन्हें बताया भी था। वर्गों में तो आपसी आवाजाही मुमकिन है, हो ही रही है, पर जाति का स्ट्रेट जैकेट इसकी इजाज़त नहीं देता। बेहूदगी में जाति-भेद के मुकाबले वर्ग-भेद कहीं नहीं ठहरता। उसके ठप्पे की स्याही का धुलना सम्भव नहीं। तभी तुम्हारे पापा इस बारे में सेंसिटिव थे। वर्ग-भेद देर-सवेर मिटेगा ही, पर जाति के नाम से मेरी रूह खुश्क होती है।

यह कैंसर जैसी है। मरते-मरते फिर से खड़ी हो जाती है। और पलटकर हमला करती है, मिटती नहीं। देख नहीं रही हो, राजनीति ने किस तरह मेहनत और मरम्मत करके आज जाति-भेद के किले को कितना मज़बूत बना दिया है?

तुम्हारे साथ हैरत की बात यह हुई कि तुमने शंकरलाल को जाति के आधार पर खारिज नहीं किया जबकि वह उससे स्थायी रूप से चिपकी हुई है, उसे खारिज किया वर्ग और हैसियत के आधार पर, जो कि बराबर बदलती जा रही थी!

सुकन्या—मौसी, तुम जाति के आधार पर शंकर को खारिज किए जाने की वकालत कर रही हो?

मौसी—हरगिज़ नहीं, उसे किसी भी आधार पर खारिज करना गलत होता। पर गलत होकर भी जाति से जुड़ा हुआ सदियों पुराना दुराग्रह तो समझा जा सकता है, वर्ग-भेद का दुराग्रह न मैं तब समझी थी और न अब!

सुकन्या—मौसी, इतनी कठोर न बनो। मैंने जो भी किया या नहीं किया, उस सबकी सज़ा मैं तुम्हारे सामने भोग चुकी हूँ। पहले ही।

उसकी आवाज़ रुँध जाती है, पर आँखें सूखी हैं। मौसी खामोशी से सिर झुका लेती हैं।

कुछ देर बाद मौसी अपने घर चली जाती है। सुकन्या अस्पताल में तीन दिन की छुट्टी का प्रार्थना-पत्र लिखती है और उसी रात की गाड़ी से देहरादून जाने की तैयारी करने लगती है।

6

सुकन्या को न उसने मिलने की जगह बताई है न समय। सिर्फ़ एक अन्धविश्वास है कि वह ज़रूर मिलेगी और कुछ भी निश्चय न होने के कारण यह निश्चय है कि वह उसे वहाँ मिलेगी जहाँ उनके होने का किसी तीसरे को पता नहीं होगा। एक वैज्ञानिक के लिए यह तर्कहीनता शर्मनाक है, पर उसे भरोसा है कि अकेले में एक बार सुकन्या से मिलने की उसकी प्रबल आकांक्षा उसे वहाँ तक ज़रूर खींच लाएगी।

इतने साल कोशिश करके, मन के कोने-कोने को झाड़-बुहारकर, उसने सुकन्या को अपनी जीवन-परिधि से खारिज करने में सफलता पा ली थी, पर उसे आज पहली बार देखते ही सब तर्कों के ऊपर उसे लगा है कि उसे सुकन्या से मिलना है और उससे अगर भविष्य की कोई खिड़की खुलती हुई दिखे तो उसे बन्द नहीं करना है। फिर भी, कोई निश्चित पहल करने में उसे हिचक है; आशंका और डर का भी अनुभव होता है।

एक डॉक्टर मित्र की मोटर लेकर वह सूर्यास्त के पहले जंगल के किनारेवाले नाले की ओर चल देता है, जहाँ आज से सत्रह साल पहले वे साथ-साथ स्कूटर से जाते थे। इस छोटी यात्रा की असंगति और तर्कहीनता के पूरे एहसास के बावजूद उसके मन में एक अस्पष्ट और धुँधला दिवास्वप्न है जो उसे आगे बढ़ा रहा है। जैसे-जैसे कार और नाले के किनारे खड़े इमली के पेड़ का फासला घटता जाता है, उसकी आशा का स्वरूप स्पष्टतर होता जा रहा है। उसे लगता है कि सुकन्या वहाँ पहले से मौजूद होगी और भाग्य उसे फिर से वह सब शुरू करने का मौका देगा जो अनजाने कारणों से उसके हाथ से फिसलकर गिर गया है।

अचानक उसे एहसास होता है कि सत्रह साल पहले उसके मन में कर्नल भारद्वाज

के लिए जैसी कटुता थी वह धीरे-धीरे छीजकर खत्म हो गई है और उसकी विषाक्त छाया से उसने सुकन्या को कई बरस पहले मुक्त कर दिया है। यही नहीं, पहले जिस तीव्रता से वह अपने पिता की मृत्यु की ट्रेजेडी का अनुभव करता था, वह किसी भारी-भरकम टैंक जैसा उसके जीवन के रेगिस्तान में बराबर आगे बढ़ता रहा है और उससे उड़नेवाली बालू की धुंध में पुरानी कटु स्मृतियाँ अदृश्य होती जा रही हैं।

इसके पीछे नए-नए अनुभव भी हैं। अफ्रीका और दक्षिण-पूर्व एशिया के विकासशील देशों में उसने भयानक बीमारियों का प्रकोप देखा है और हरचन्दपुर ब्लॉक के गाँवों के मुकाबले वहाँ कहीं ज़्यादा विपन्न गाँवों में चिकित्सा सुविधाओं की कमी के कारण सैकड़ों बच्चों को दम तोड़ते पाया है। थाईलैंड में डेंगू, केन्या और नाइजीरिया में पीत ज्वर के सत्यानाशी तांडव की उग्रता वह भुला नहीं पाया है। उसके अनुभवों से उसके नज़रिए में बदलाव आया है। उसके पिता की मृत्यु त्रासद रही है, पर आज उसके लिए त्रासदी का चरमबिन्दु वह नहीं है।

सड़क के नाले के किनारे तक की ढलान अब पहले जैसी मुश्किल नहीं है। कार को नीचे उतारकर वह उसे नाले के पास हमवार ज़मीन पर रोक देता है। सामने का परिदृश्य देखकर उसे झटका-सा लगता है।

नाले के दूसरी और पहले जो ऊबड़-खाबड़ धरती थी, वह भी खूब हरी-भरी रहती थी। वहाँ तब बबूल के छोटे-छोटे पेड़ों का जंगल पनप रहा था। बरसात में उनकी शक्ल पीले फूलों की छतरी जैसी हो जाती थी। पर आज यह धरती जली-भुनी-सी है। नाला सूख रहा है। शहरी आबादी का कुरूप अनियन्त्रित विस्तार और निकट आ गया है। दूर सड़क से इतने ट्रक गुज़र रहे हैं और उनके हॉर्न इतने अराजक ढंग से गूंज रहे हैं कि लगता है, मानो ऊपर कोई भयानक दंगा हो रहा है। उनका कोहराम थम नहीं रहा है।

इस ओर से आम, इमली, महुए के अधिकांश पेड़ कट गए हैं। जो बचे हैं उनके तने की छाल ईंधन के लिए छील ली गई है और उनमें से कुछ ने फुनगी से सूखना शुरू कर दिया है। पहलेवाले जंगल का अभेद्य विस्तार आज उतना घना नहीं है। पुराने पेड़ कट रहे हैं। उनकी जगह नए पनप नहीं रहे हैं।

जिस इमली के घने, छायादार पेड़ के तने को घेरकर पहले बेंच बनाई गई थी वह कट चुका है। बेंच गायब है, दूब का मैदान रूखा-बंजर बन गया है। नाले के इस किनारे कीचड़ में बहुत ऊँची-घनी हाथी घास उगी हुई है। वह नीचे सड़ रही है, ऊपर से सूख रही है।

सुकन्या वहाँ नहीं है और बुद्धि से देखा जाए तो उसके वहाँ होने का कोई कारण भी नहीं है। शंकरलाल नाले के किनारे ज़मीन पर कुछ देर बैठा रहता है। फिर उठता है और धीरे-धीरे टहलने लगता है। सहसा उसकी नज़र कार से कुछ ही दूरी पर किसी दूसरी कार के टायरों के निशान पर पड़ती है। उसकी सारी चेतना इस सवाल पर टिक जाती है कि क्या सुकन्या अभी यहीं आई थी? क्या वह लौट गई है? उसकी कल्पना को फैलने के लिए अचानक एक विस्तीर्ण क्षितिज मिल जाता है।

वह एक जगह स्थिर होकर खामोशी से खड़ा हो जाता है और गहरी साँस लेकर हवा में किसी सुगन्ध को पकड़ने की कोशिश करता है। एक बार लगता है कि वहाँ सचमुच ही किसी अच्छे सेंट की भीनी खुश्बू है। यह कई बार गहरी साँस लेता है। कुछ क्षणों के बाद अपने भ्रम को पहचानते हुए यथार्थ में लौट आया है। सबसे बादवाली साँस हताशा की है।

7

धीरे-धीरे टहलता हुआ फिर नाले के किनारे पहुँचता है और पाँव फैलाकर ज़मीन पर बैठ जाता है। दिमाग लगभग शून्य है। वर्तमान में केवल सामने का दृश्य है। भविष्य को इस विचार के साथ उसने पहले ही विसर्जित कर दिया है कि अब 'परसों' के बजाय कल सवेरे की उड़ान से ही उसे दिल्ली चला जाना है।

उसकी आँखों के आगे एक मटमैला, निस्तेज सूर्यास्त है और नाले में फैली हुई, ऊपर से सूखती, ऊँचे कद की हाथी घास है। वह घास को देखता रहता है; देखता रहता है और धीरे-धीरे उसकी भौहें संकुचित हो जाती हैं।

घास के अन्दर मच्छर हैं। घास की फुगनियों पर भी वे झुंड-के-झुंड मँडरा रहे हैं। कुछ उड़कर उसकी ओर आ रहे हैं। वह घास को गौर से देखने लगता है। फिर मच्छरों को गौर से देखता है।

कुछ ही देर में वहाँ सिर्फ़ वह है और मच्छर हैं। उन्हें वह असाधारण एकाग्रता से देख रहा है। उसे लगता है कि इस कोटि और आकार के मच्छर उसने पहले कहीं नहीं देखे हैं। बड़ी उत्सुकता से यह महसूस करता है कि यह नई चीज़ देख रहा है, उसकी पड़ताल होनी चाहिए।

जेब से रूमाल निकालकर वह मच्छरों के झुंड को निशाना बनाता है और दो-चार को ज़िन्दा या मुर्दा पकड़ने की कोशिश करता है। दो बार की नाकामयाबी के बाद वह तीसरी बार झपट्टा मारने जा रहा है, तभी पीछे से किसी की आवाज़ सुनाई पड़ती है—मच्छर मार रहे हैं साहब?

एक बूढ़ा आदमी है। नाले के किनारे खड़ी मोटर और ज़मीन पर बैठे हुए साहब की हरकतें देखकर यहाँ खिंचा चला आया है।

शंकरलाल—हाँ भाई, मेरा यही काम है।

बूढ़ा—मच्छर मारते हैं?

शंकरलाल—एकदम ऐसा नहीं, पर खरगोश, चूहे, पिस्सू, मक्खी, मच्छर—मेरा इन्हीं का साथ है।

वह बात समझ नहीं पाता और अपना अगला सवाल तुरन्त सोच भी नहीं पाता।

शंकरलाल दूर-दूर तक इधर-उधर मँडराते हुए मच्छरों को देखता रहता है, बूढ़े से मज़ाक के तौर पर कहना चाहता है, 'सच तो यह है कि मेरी ज़िन्दगी भी मच्छर की ज़िन्दगी है।'

पर वह ऐसा कुछ नहीं कहता। ऐसा कहना हास्यास्पद होगा। यही नहीं, इसमें आत्मदया का विलास छिपा है और ऐसे विलास से परहेज करना उसने बरसों पहले सीख लिया है।

लेख

श्रीलाल शुक्ल के न होने का अर्थ

❑❑ प्रेम जनमेजय

28 अक्तूबर की सुबह एक अत्यंत ही दुखद समाचार मिला कि हमारे समय के श्रेष्ठ रचनाकार एवं मानवीय गुणों से सम्पन्न श्रीलाल शुक्ल नहीं रहे। श्रीलाल शुक्ल बहुत दिनों से अस्वस्थ थे, परंतु निरंतर यह भी विश्वास था कि वे जल्दी स्वस्थ होंगे। परंतु हर विश्वास रक्षा के योग्य कहाँ होता है। उनका जाना हिन्दी साहित्य की अपूर्णीय क्षति है। उनके जाने से एक ऐसा अभाव पैदा हुआ है जिसे भरा नहीं जा सकता है। परसाई की तरह उन्होंने भी हिंदी व्यंग्य साहित्य को, अपनी रचनात्मकता के द्वारा, जो सार्थक दिशा दी है वह बहुमूल्य है। हिंदी व्यंग्य साहित्य के भवन का निर्माण अनेक हाथों ने किया है, परंतु इसके आधार स्तंभ के रूप में—हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल और रवींद्रनाथ त्यागी ने सुदृढ़ किया है। 28 अक्तूबर को श्रीलाल शुक्ल के जाने से इस पीढ़ी का अंतिम प्रतिनिधि भी चला गया।

श्रीलाल जी की साहित्य के प्रति गहरी समझ और उनके अध्ययनशील व्यक्तित्व से मैंने बहुत कुछ सीखा है। वे बहुत सजग थे और 'हम्बग' से चिढ़ के कारण वे लाग-लपेट में विश्वास नहीं करते थे। वे बातचीत में बहुत जल्दी अपनी आत्मीयता को सक्रिय कर देते थे। अपने लेखकीय व्यक्तित्व की एकरूपता को वे तोड़ते रहे हैं। ऐसे में जब अधिकांश साहित्यकार स्वयं को एक फ्रेम में बंधे होता देख प्रसन्न होते हैं वे अपनी अगली कृति में अपने पिछले फ्रेम को तोड़ते दिखाई देते हैं। एक ही रचना से अति प्रसिद्धि प्राप्त करने के पश्चात वैसी ही कृति को दोहराकर उसे भुनाने तक का प्रयास श्रीलाल जी ने नहीं किया है। उनके साहित्यकार व्यक्तित्व के अनेक रंग हैं। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से वर्तमान व्यवस्था की विसंगतियों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनका लेखन एक चुनौती प्रस्तुत करता है। उन्होंने विषय एवं शिल्प के धरातल पर ऐसी अनेक चुनौतियाँ उपस्थित की हैं जो सकारात्मक सृजनशील प्रतियोगिता का मार्ग प्रशस्त करती हैं। 'राग दरबारी' एक क्लासिक है तथा कोई भी क्लासिक दोहराया नहीं जा सकता। हाँ 'राग दरबारी' के बाद व्यंग्य उपन्यास लिखे गए पर वे चुनौती प्रस्तुत नहीं कर पाए। गोपाल चतुर्वेदी, शेरजंग गर्ग और मुझसे बातचीत के दौरान अपने लेखन पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था—'राग दरबारी' से पहले मेरे जो दो उपन्यास हैं—'अज्ञातवास' और 'सूनी घाटी का सूरज', ये 1958 और 60 के बीच लिखे गए हैं। ये अत्यंत गंभीर कोटि के उपन्यास हैं—अज्ञातवास तो खास तरीके से। ये कहना सही नहीं है कि 'राग दरबारी' से मैंने कोई डेविएशन किया, 'राग दरबारी' खुद एक डेविएशन था। दूसरी बात, मेरा ख्याल है कि जानबूझ कर, उस शैली में कोई और टाइम-स्पेस ले लेना, उसका भी कोई अर्थ नहीं था, ऐसे में लगता कि मैं अपने आपको रिपीट

कर रहा हूँ। जैसा मैंने 'मकान' में लिखा है, उसका मुख्य चरित्र प्रथम पुरुष अर्थात जनरल स्टाइल में है। वो प्रथम पुरुष में अपनी कहानी कहता है। उसके बाद के जो अध्याय हैं उसमें वो कथावाचन के तरीके से आगे है। एक चेप्टर आत्मकथा वाला है और दूसरे में जो वर्णनात्मकता है वो एक तरह का 'ईजी शॉटकर्ट है। ऐसे वर्णन में आपको अधिक मेहनत नहीं करनी है। मगर जो जनरल है उसमें मैं अपने आपको प्रक्षिप्त नहीं करता हूँ, उसमें वो अपने आपको प्रक्षिप्त करता है। वो थोड़ा-सा कठिन काम है और साथ ही साथ आसान इस अर्थ में है कि जिस चीज़ का कोई सम्बंध नहीं है, उसको भी आप उपन्यास का अंश बना सकते तो टेक्निकली वो प्रथम पुरुष में लिखा जाने वाला।'

31 दिसंबर, 1925 को लखनऊ ज़िले के अतरौली कस्बे में जन्मे श्रीलाल शुक्ल का 1949 में उत्तर प्रदेश की प्रशासनिक सेवा में चयन हुआ। 1983 से राजकीय सेवा से सेवानिवृत्ति के उपरांत लखनऊ में रहकर स्वतंत्र रूप से साहित्य साधना में सक्रिय रहे।

आप श्रीलाल जी पर कुछ भी सतही कहकर किनारा नहीं कर सकते हैं। वे विनम्र हैं पर ऐसी संतई विनम्रता नहीं कि आप इसे उनकी कमज़ोरी मान लें। श्रीलाल जी से अनेक बार मिला हूँ। उनके साथ नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए हिन्दी हास्य-व्यंग्य संकलन तैयार करते हुए, 'व्यंग्य यात्रा' के उन पर केंद्रित अंक को तैयार करते हुए। उन पर केंद्रित अंक तैयार करते हुए मेरा बहुत मन था कि उनसे एक बेतकल्लुफ बातचीत की जाए। इस बीच श्रीलाल जी की बीमारी की सूचनाओं एवं सुविधाजनक समय की तलाश के कारण समय खिसकने लगा। दिसंबर, 2008 के प्रथम सप्ताह की एक तिथि तय कर ली गई और लखनऊ में गोपाल चतुर्वेदी से अनुरोध किया गया कि वे इसका सुभीता जमाएँ। हम जब पहुँचे, उन्होंने नाश्ता भी नहीं किया था। पर उन्होंने जिस गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया उसे देख सर्दी की गुनगुनी धूप भी शरमा गई होगी। हमारे समय से पूर्व पहुँचने का कहीं रोष नहीं। वो तो हमारे लिए नाश्ते का भी त्याग करने को तैयार थे, पर हमारे आग्रह और अपनी बहू साधना के अधिकार के सामने उनकी एक न चली। मैं जिस तनाव में जी रहा था उससे मैं एकदम मुक्त हो गया। फोटो सेशन के समय, उनकी चारपाई पर, सम्मान के कारण उनसे कुछ दूर बैठकर जब मैं फोटो खिंचवाने लगा तो उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर मुझे अपने नज़दीक करते हुए कहा—'नज़दीक आइए फोटो अच्छा आएगा।' उस दिन हम दस मिनट का समय लेकर गए थे पर दो घंटे का समय लेकर आए। वे अद्‌भुत अविस्मरणीय क्षण थे।

पिछले दिनों उनसे आखिरी बात तब हुई थी जिस दिन उन्हें ज्ञानपीठ द्वारा सम्मान दिए जाने की घोषणा हुई थी।

21 सितम्बर को सुबह, एक मनचाहा, सुखद एवं रोमांचित समाचार, पहले सुबह छह बजे आकाशवाणी ने समाचारों द्वारा और फिर सुबह की अखबार ने दिया—श्रीलाल शुक्ल और अमरकांत को ज्ञानपीठ पुरस्कार। एक समाचार पत्र ने शीर्षक दिया, 'उम्र के इस पड़ाव में खास रोमांचित नहीं करता पुरस्कार—श्रीलाल।' पढ़ते ही मन ने पहली प्रतिक्रिया दी कि श्रीलाल जी पुरस्कार आपको तो खास रोमांचित नहीं करता पर मेरे जैसे, आपके अनेक पाठकों को, बहुत रोमांचित करता है, विशेषकर व्यंग्य के उस विशाल पाठक वर्ग को, जिसे लगता है कि यह पुरस्कार बड़े स्तर पर व्यंग्य की स्वीकृति की भी घोषणा है। इस समाचार को पढ़कर मेरा मन तत्काल श्रीलाल जी को फ़ोन करने का हुआ, पर यह सोचकर कि इन दिनों उनका

स्वास्थ्य ठीक नहीं है, कुछ देर बाद करूँ तो अच्छा रहेगा, रुक गया। पर अधिक नहीं रुक पाया। मेरा मन अनन्त सुख नहीं पा रहा था और बार-बार इस जहाज़ पर आ बैठता था कि श्रीलाल जी से बात की जाए। मन चाहे वृद्ध हो अथवा युवा, उसकी बात माननी ही पड़ती है। सुबह के सवा आठ बजे के लगभग श्रीलाल जी की बहू, साधना शुक्ल को फ़ोन लगाया। साधना जी का स्वर बता रहा था कि इस समाचार से वे बहुत प्रसन्न हैं। मैंने उन्हें बधाई दी और कहा—'आज सुबह बहुत ही अच्छा समाचार मिला, आपको बहुत-बहुत बधाई।' साधना जी ने कहा—'आपको भी'। मैंने कहा—श्रीलाल जी ने एक संवाददाता से कहा है कि उम्र के इस पड़ाव में यह पुरस्कार कोई खास एनर्जी या रोमांच नहीं देता। साधना जी, उन्हें न करता होगा पर यह पुरस्कार उनके विशाल पाठक वर्ग को एनर्जी देता है, रोमांचित करता है।' साधना शुक्ल—'बिलकुल, प्रेम जी। बहुत ही अच्छा लग रहा है।' मैं—श्रीलाल जी को मेरी ओर से बधाई दीजिएगा।' साधना शुक्ल ने पूछा—'पापा से बात करेंगे।' मैं—उनका स्वास्थ्य...कर पाएँगे क्या वो बात...।' साधना शुक्ल—'मैं उन्हें देती हूँ।' कुछ देर बाद श्रीलाल जी का स्वर सुनाई दिया। मैंने कहा—'सर, प्रणाम, आपको इस सम्मान पर बहुत-बहुत बधाई।' श्रीलाल जी—'धन्यवाद, प्रेम जी।' मैंने दोहराया—'सर, आपने कहा है कि आपको उम्र के इस पड़ाव में यह पुरस्कार कोई खास एनर्जी या रोमांच नहीं देता, पर यह पुरस्कार मुझ समेत आपके विशाल पाठक वर्ग तथा हिन्दी व्यंग्य को एनर्जी देता है, रोमांचित करता है।' श्रीलाल जी—'ऐसा नहीं है प्रेम जी, ऐसे पुरस्कारों से संतोष अवश्य होता है। इस उम्र में अक्सर साहित्यकारों को उपेक्षित कर दिया जाता है। यह पुरस्कार संतोष देता है कि मैं उपेक्षित नहीं हूँ।'

जानता था कि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है, इसलिए कहा—'अच्छा सर अब आप आराम करें।' श्रीलाल जी—'प्रेम जी, आपने मुझ पर अच्छी पुस्तक संपादित की है। इस पुस्तक ने मुझे रीबिल्ड (Rebuild) किया है। इसकी एक प्रति और भिजवा सकेंगे?' (श्रीलाल जी 'व्यंग्य यात्रा' के, उन पर केंद्रित अंक के संदर्भ में अपनी बात कह रहे थे। जिसे नेशनल पब्लिशिंग हाउस ने—'श्रीलाल शुक्ल : विचार विश्लेषण एवं जीवन' के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित किया है।') मैं—'क्यों नहीं सर, मैं प्रकाशक से कहकर भिजवाता हूँ। प्रणाम।' मैंने बात समाप्त करते हुए कहा। मन चाह रहा था कि उनसे अधिक से अधिक बात हो पर साथ ही उनके स्वास्थ्य सम्बंधी चेतावनी भी, मन निरंतर दे रहा था।

स्ट्रोक के कारण उन्हें लिखने में कठिनाई होती थी। उन्होंने एक उपन्यास आरंभ किया था। हाथ से लिखना उनके लिए कठिन था, ऐसे में जब मैंने उनसे कहा कि आप बोलकर लिखवा लें तो उनका कहना था—'मैं डिक्टेट नहीं कर पाता हूँ। डिक्टेट कराने से लेखन का सुख जाता रहता है। जो चीज़ बिल्कुल एकांत में करने की है वह पब्लिक में आ जाती है। जिस रचना को आप शेयर करते हैं वो रचना खराब हो जाती है। असल में एक मैजिक वर्ल्ड है जिसमें आप रचना के साथ रह रहे हैं। उसको जब आप कम्यूनीकेट करते हैं तो उसे खराब करते हैं।'

श्रीलाल शुक्ल हिंदी साहित्य का गौरव हैं। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। उनसे जुड़े अनेक क्षण मेरी अमूल्य धरोहर हैं।

[संपादक : व्यंग्य यात्रा, 73, साक्षर अपार्टमेंट, के-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063]

मो. 98111 54440

मैं व्यंग्य के लिए व्यंग्य नहीं लिखता : श्रीलाल

❑❑ विजय विशाल

चार्ल्स लैंब ने कहा था, 'कब्र के पत्थरों पर व्यंग्य अंकित नहीं होता।' बात सही है, जो गुज़र गया उस पर हम व्यंग्य नहीं करते और जो अभी उपस्थित ही नहीं है, वह हमारे व्यंग्य का विषय नहीं होता। हम व्यंग्य करते हैं उस पर जो हमारे सामने है और जिसे हम और हमारा समाज पसंद नहीं करता। व्यंग्य समसामयिक जीवन की अनचाही स्थितियों से जन्म लेता है। हम जो चाहते हैं, उसकी संगति में जब हमारा यथार्थ नहीं होता तब हमारे भीतर असंतोष उपजता है, आक्रोश जन्म लेता है। उसी से व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है। यह व्यंग्य की अभिव्यक्ति उस सबके विरोध में होती है जिससे हमारी सामाजिक उन्नति अवरुद्ध हो रही होती है। संक्षेप में यूँ कह सकते हैं कि पुरानी परंपराओं को तोड़कर स्वच्छ, सुंदर, सुदृढ़, पारदर्शी शोषणविहीन समाज के निर्माण के लिए एक सच्चा व्यंग्यकार सदैव प्रयत्नशील रहता है।

हिंदी साहित्य में व्यंग्य की परंपरा नई नहीं है। यह हमें सात सौ साल पहले कबीरदास के साहित्य में भी मिलती है। कबीरदास ने मध्यकाल की सामाजिक विसंगतियों यथा जाति भेद, अंधश्रद्धा, हिन्दू-मुस्लिम धर्मों में व्याप्त आडम्बरों, अंधविश्वासों, सामंती व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था के दुर्गुणों, रूढ़ियों आदि कुरीतियों पर व्यंग्य किये हैं। मगर 'स्टायर' के अर्थ में व्यंग्य की विकासमान और नियमित धारा हिंदी साहित्य में भारतेन्दु युग से शुरू होती है। हालाँकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मात्र पैंतीस वर्ष की अल्पायु में ही देहांत हो गया था, इसके बावजूद उन्होंने उस काल की पूरी साहित्यिक पीढ़ी को प्रभावित किया। इसमें बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। प्रेमचंद के लेखन में भी जहाँ-तहाँ व्यंग्य का पुट देखा जा सकता है। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' द्विवेदी युग के विशिष्ट व्यंग्यकार कहे जा सकते हैं। उन्होंने 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' नाम से एक स्तंभ लिखा और सामाजिक, राजनैतिक विसंगतियों पर तीखे प्रहार किये। इनके साथ और भी अनेक व्यंग्यकार इस पीढ़ी में हुए हैं। इसी तरह विश्व क्लासिक साहित्य में जुबेनाल, सर्वाटीज, रैवले, स्विफ्ट, गोगोल, डिकेन्स, मार्कट्वेन, स्टीफेन लीकाक आदि लेखकों का उल्लेख किया जा सकता है।

हिंदी साहित्य लेखन में व्यंग्य लेखन को एक पृथक विधा का दर्जा देने में साहित्यकारों में अनेक मतभेद हैं। कोई इसे रचना में अंतर्भूत 'स्पिरिट' मानते हैं तो किसी का मानना है कि साहित्य की किसी भी फ़ार्म में व्यंग्य लिख सकते हैं। कुछ साहित्यकारों

का मानना है कि व्यंग्य के छोटे कैनवास में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्थितियों की अभिव्यक्ति कहाँ तक सम्भव है? तो कुछ मानते हैं कि व्यंग्य सब कुछ समेट लेने की अपनी क्षमता के कारण बहुत सार्थक है, इससे उसका कैनवास बहुत व्यापक बन जाता है। इसलिए उसे साहित्य की किसी एक विधा की सीमा में बाँधना सम्भव नहीं है। इस बहस से भले ही आप सहमत हों या न हों पर इतना ज़रूर तय है कि किसी भी व्यंग्यकार पर समसामयिक घटनाओं का प्रभाव सर्वाधिक होता है। जीवन के संघर्ष उसके दृष्टिकोण को दिशा निर्देशित करते हैं। वे उसे वर्ग-विभक्त समाज में दूसरों का हक छीनकर सांसारिक सफलता प्राप्त करने की अमानवीयता और टुच्चेपन को समझाते हैं। जिसके चलते एक व्यंग्यकार अमानुषिक यथास्थितिवादी एवं विकास विरोधी रूढ़ियों पर प्रहार करने में सक्षम होता है। व्यंग्य वह औज़ार है जो जीवन के झाड़-झंखाड़ को काट फेंकता है। ऐसी परम्परा जो जीवन को शक्ति देने के बजाय बीमार बना देती हो, जो समाज में व्याप्त अन्याय, अनाचार, मिथ्याचार, पाखंड व दोमुँहेपन को बढ़ाती हो, उन परंपराओं पर व्यंग्य की चोट पड़ती है। कह सकते हैं कि व्यंग्य मूलतः समाज हित में होता है। यदि व्यंग्य चेतना को झकझोर देता है, विद्रूप को सामने खड़ा कर देता है, आत्म-साक्षात्कार कराता है, सोचने को बाध्य करता है, व्यवस्था की सड़ांध को इंगित करता है और परिवर्तन की ओर प्रेरित करता है तो वह सफल व्यंग्य है।

आधुनिक हिंदी साहित्य व वर्तमान सन्दर्भों में केशवचन्द्र वर्मा, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी, लतीफ घोंघी, सुदर्शन मजीठिया, शंकर पुणतांबेकर जैसे वरिष्ठ लेखकों व उनके बाद की नई पीढ़ी के लेखकों की एक लम्बी कतार है जिन्होंने अपने समय की विसंगतियों व विद्रूपताओं को उद्घाटित करने के लिए व्यंग्य लेखन को अपना माध्यम चुना। ऊपर वर्णित तमाम वरिष्ठ व्यंग्यकारों के साहित्यिक अवदान को लेकर अनेक समीक्षकों व आलोचकों ने बहुत कुछ समय-समय पर लिखा है, उनके साहित्य का मूल्यांकन किया है, अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने न केवल इनकी रचनाओं को ही प्रकाशित किया है, बल्कि इनके समग्र व्यक्तित्व व कृतित्व पर पत्रिकाओं के विशेषांक भी प्रकाशित किये हैं। कई विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों के शोधार्थियों ने इनके लेखन पर शोधकार्य करके उपाधियाँ अर्जित की हैं या कर रहें हैं। इसलिए इस आलेख में मैं श्रीलाल शुक्ल के साहित्यिक अवदान पर बात करने के बजाय साहित्य लेखन के बारे उनके विचार क्या थे, अपने लेखन को लेकर क्या सोचते-समझते रहे आदि मुद्दों पर अपनी बात रखने का प्रयास कर रहा हूँ।

श्रीलाल शुक्ल मूलतः कथाकार हैं, सिर्फ़ व्यंग्यकार नहीं। लेखक के रूप में अपने समय के अनुभवों से, अपना रिश्ता कायम करने का सबसे ज़्यादा भरोसे का माध्यम उनके लिए कथात्मक विधाएँ ही रही हैं—'सूनी घाटी का सूरज', 'अज्ञातवास', 'सीमायें टूटती हैं', 'मकान', 'पहला पड़ाव', 'बिस्रामपुर का संत' जैसी कृतियाँ उपन्यास के रूप में सामने आईं। फिर जिस रचना ने उन्हें सर्वाधिक चर्चा का पात्र बनाया वह है—'राग दरबारी', वह भी उपन्यास ही है, एक ऐसा उपन्यास जिसने कथा-शिल्प के सर्वथा एक नये विन्यास और एक नये मिज़ाज से हमारा परिचय करवाया। बावजूद इसके श्रीलाल शुक्ल के कई हास्य-व्यंग्य संग्रह भी समय-समय पर आते रहे जिसमें 'अंगद का पाँव', 'यहाँ से वहाँ', 'उमरावनगर में कुछ दिन', 'कुछ ज़मीन पर कुछ हवा में', 'आओ बैठ लें कुछ देर' तथा 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ' प्रमुख हैं।

आज जब समाज की खाल गैंडे जैसी हो गई है, व्यंग्य लिखना गैंडे को सुई से कोंचने जैसा है। समाज की इस मोटी होती खाल के कारण व्यंग्य भी अब मनोरंजन का पर्याय बनता जा रहा है। ऐसे माहौल में व्यंग्यकार की वैचारिक प्रतिबद्धता को लेकर श्रीलाल शुक्ल कहते हैं कि व्यंग्य लेखन का सम्बंध सामाजिक स्थिति की मूल्यगत आलोचना से है, इसलिए सार्थक लेखन के लिए ज़रूरी है कि लेखक की जीवनमूल्यों के विषय में तथा जीवन की गुणवत्ता के विषय में बहुत स्पष्ट दृष्टि हो। अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वे साफ़ शब्दों में कहते हैं—"कमज़ोर, विपन्न और वंचित लोगों के साथ-साथ मैं वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध रहा हूँ।" इसके साथ ही वे यह कहने से भी नहीं हिचकते कि वामपंथी प्रतिबद्धता का अर्थ 'पार्टी लिटरेचर' लिखना नहीं है। यदि आइडियोलोजी का प्रचार करना है तो हमें साहित्यकार होने के बदले पार्टी का कार्यकर्ता होना चाहिए। लेखन उनके लिए एक स्वच्छंदता का क्षेत्र है, सीमाओं, आग्रहों या प्रतिबद्धताओं का नहीं। आखिरकार प्रतिबद्धता भी एक प्रकार से व्यक्तित्व का परिसीमन है। यह बात स्मरण रखना ज़रूरी है कि व्यंग्य लेखन वैचारिक शून्य में नहीं किया जा सकता। इसके लिए मूल्यगत आचार होना ज़रूरी है, अन्यथा ऐसा लेखन ऊपरी चमक-दमक के बावजूद निरर्थक सिद्ध होगा। अपने समसामयिक परिवेश को नज़रअंदाज करके रचनात्मक लेखन भोथरा होगा। हालाँकि वे किसी लेखकीय संघ या संस्था का सदस्य कभी नहीं रहे, लेकिन सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में उन्हें यह चुनाव करने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि उन्हें कमज़ोर के साथ खड़े होना है।

उनकी दृष्टि में सामाजिक दायित्वबोध और उनके व्यक्तिगत निजी जीवन में कोई अन्तर्विरोध नहीं रहा, बल्कि सामाजिक दायित्वबोध से उनके निजी जीवन को अतिरिक्त सार्थकता मिलती रही। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए अपने एक आलेख में वरिष्ठ कहानीकार ममता कालिया लिखती हैं कि—"वे हिंदी के एकमात्र कथाकार हैं जिन्होंने खाकी रंग की सरकारी फाइलों की अटपटी जानकारी व शब्दावली से अपनी मौलिक रचनात्मक भाषा का अनुसन्धान किया है। पूर्णकालिक ज़िम्मेदार नौकरी इतने घंटे (बरस) बिताकर कई आदमी यांत्रिक और बेजान हो जाते हैं, उनसे फाइलों की बू आने लगती है पर श्रीलाल शुक्ल जी ने इन सीमाओं को अपनी सामर्थ्य बनाया।" अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे आगे यह भी कहती हैं कि स्वाधीनता के बाद देखे गए सपनों से मोहभंग, बेरोज़गारी की हताशा, सरकारी दमनचक्र की रफ्तार और इन सबसे पैदा होता नायक का मरजीवड़ा पराक्रम उनकी रचनाओं में कूट-कूट कर भरा है। उन्हें पढ़ते हुए यही लगता है कि अरे यह तो हूबहू हम हैं, हम जो डिग्रियों से लैस, कर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे कूद पड़ने को आतुर और कृतसंकल्प हैं, हमारा मोल आज़ादी की इस अंधेरनगरी में टेक सेर भी नहीं है।

श्रीलाल शुक्ल व्यंग्य को साहित्य की अलग विधा नहीं मानते, अपितु वे इसे अभिव्यक्ति की शैली कहते हैं। उनका यहाँ तक कहना है कि जो अपने को व्यंग्य लेखक कहता है वह भ्रम में है, भटकाव की स्थिति में है। उनके अनुसार व्यंग्य की परिभाषागत अलग पहचान करना कठिन है। व्यंग्य करुण कथा के मूल स्वर में बदल गया है। फंतासी पहले व्यंग्य का ही हथियार था, अब कथा लेखन के शिल्प में भी फंतासी स्वीकार्य है। अधिकांश व्यंग्य लेखक इस बात से बेखबर हैं कि व्यंग्य का अधिकांश कार्य यथार्थवाद की प्रतिष्ठा के बाद कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक द्वारा पूरा हो रहा है। व्यंग्य के कैनवास को वे

व्यापक मानते हुए कहते हैं कि इतने बड़े व्यापक फलक पर जीवन और समाज की आलोचना की है। आज़ादी के बाद अशिक्षा, दरिद्रता, रूढ़ीग्रस्तता आदि से बाधित समाज में परिवर्तन की सहज आकांक्षा उभर रही थी। सत्ता तन्त्र के उपेक्षापूर्ण रुख के लिए उनके मन में प्रबल आक्रोश था। सीधी और कड़ी आलोचना करना सम्भव नहीं था। ऐसी दशा में प्रबुद्ध साहित्यकारों ने व्यंग्य को माध्यम बनाया और खूब व्यंग्य लिखे गये। व्यंग्य लेखन का स्वरूप इस अर्थ में सीमित हो सकता है कि वह मूलतः एक बौद्धिक प्रक्रिया है। जीवन की विविधता की दृष्टि से उसके फलक को सीमित या छोटा नहीं कहा जा सकता।

हास्य और व्यंग्य के अंतर को स्पष्ट करते हुए श्रीलाल शुक्ल कहते हैं—"हास्य, व्यंग्य का विरोधी नहीं है, वह तो व्यंग्य को अधिक मनोरंजक और स्वीकार्य बनाता है। हास्य जिन परिस्थितियों में उत्पन्न होता है उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, मगर व्यंग्य का कार्य मुख्यतः आलोचनात्मक जो चारों ओर से जीवन का बारीकी से निरीक्षण करके उसकी खामियों को उजागर करने में निहित है।" अपने एक साक्षात्कार में वे मानते हैं कि व्यंग्य वस्तुतः एक सुशिक्षित मस्तिष्क की देन है और पाठक के स्तर पर भी सुशिक्षित प्रतिक्रिया की मांग करता है। वह पाठक को गुदगुदाने के लिए नहीं, बल्कि किसी विसंगति या विडम्बना के उद्घाटन से उसके सम्पूर्ण संस्कारों को विचलित करने की प्रक्रिया है। हालाँकि वे व्यंग्य के लिए हास्य का होना अनिवार्य नहीं मानते मगर इसके बरअक्स व्यंग्य के कुछ तत्वों जैसे विडम्बना, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, फंतासी और पैरोडी आदि को निर्धारित करते हुए कहते हैं कि इनमें हास्य का तत्व बहुत हद तक अपने आप सन्निहित होता है।

इसी तरह व्यंग्य की भाषा कैसी होनी चाहिए? जैसे सवाल पर उनका मानना था कि किसी फ्रेम में बंधी हुई एक निश्चित भाषा साहित्य में नहीं होती। व्यंग्य की भाषा चुटीली होने के बाद भी अपनी विविधता के कारण ही लोकप्रिय हुई है। कथ्य के अनुरूप भाषा बदलती है, बदलनी भी चाहिए। व्यंग्य का प्रयोग केवल अभिधा के सहारे नहीं किया जा सकता। इकहरेपन वाली भाषा व्यंग्य के लिए नाकाफ़ी साबित होती है, क्योंकि शब्दों का बहुआयामी प्रयोग ही व्यंग्य को पैना बनाता है।

हालाँकि हिंदी साहित्य के अधिकतर पाठक श्रीलाल शुक्ल को एक व्यंग्य लेखक के रूप में ज़्यादा जानते हैं, परन्तु वे ऐसा नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि मैं स्वयं को मूलतः एक लेखक मानता हूँ और व्यंग्य के रूप में व्यंग्य नहीं लिखता। उपन्यास, कहानी, जीवनी, हास्य कथाएँ और साहित्यिक आलोचनाएँ लगातार लिखता हूँ। विषयवस्तु और अभिव्यक्ति की मांग को देखते हुए जहाँ मुझे लगता है कि व्यंग्यात्मक शैली का उपयोग अधिक उपयुक्त और स्वाभाविक होगा वहाँ मैं व्यंग्य की भाषा का प्रयोग करता हूँ। इस तरह उनका यह कहना स्पष्ट था कि—"मैं व्यंग्य के लिए व्यंग्य नहीं लिखता। व्यंग्य का प्रयोग मेरे लिए रचना की अभिव्यक्ति सम्बन्धी आवश्यकता से जुड़ा है।"

[गाँव व डाक. चैलचौक, ज़िला मण्डी, हि.प्र.-175045]

राग दरबारी–प्रहसन जारी है

❑❑ पद्म गुप्त अमिताभ

जो पाठक 'जार्ज आरवेल' के 1984 से परिचित हैं, वे 'इंग्सॉक' (Engsoc) और 'प्रोलफीड' (Prolfeed) से अवश्य परिचित होंगे। 'इंग्सॉक' एक विशेष प्रकार की विचारधारा से प्रेरित शासन व्यवस्था है तो 'प्रोलफीड' निम्न कोटि और स्तर का वह मनोरंजन और प्रचार तंत्र, जो घटिया और रद्दी है।

श्रीलाल शुक्ल का 'जहालत' के पचास साल, उसके लगभग दो दशक बाद अर्थात् सन् 2003 में प्रकाशित हुआ था। 1984 में जिस 'प्रोलफीड' का ज़िक्र था, श्रीलाल शुक्ल देखते हैं कि वह उसके बीस साल बाद भी खूब धड़ल्ले से परोसा जा रहा है। 'जहालत' के निबंध 'होरी और उन्नीस सौ चौरासी' में होरी को 'प्रोलफीड' खाते हुए दिखाकर वे कहते हैं, 'प्रोलफीड–बकौल जार्ज आरवेल–प्रोलीतेरियत (Proletariat) की खुराक, पार्टी की ओर से जनता को बराबर मिलने वाला कूड़ा, मनोरंजन और फर्ज़ी खबरों का मसाला।' दूरदर्शन 'प्रोलफीड' उगल रहा है।

'पिछले पाँच वर्षों में भारत की औसत सालाना विकास दर 4.9 प्रतिशत रही है जबकि अमरीका की 1.2 प्रतिशत और इंग्लैंड की सिर्फ़ 0.3 प्रतिशत। 1979-80 में कोयले का उत्पादन एक करोड़ चालीस लाख टन था, आज 1983-84 में यह बढ़कर 13 करोड़ 80 लाख टन हो गया। पेट्रोल का उत्पादन उसी दौरान 1 करोड़ 20 लाख टन से बढ़कर 2 करोड़ 60 लाख टन हो गया। जहाँ 1950-51 में सिर्फ़ 5 करोड़ टन अनाज पैदा हुआ था, अब 1984 में 15 करोड़ टन अनाज पैदा हुआ है।'

श्रीलाल शुक्ल आगे कहते हैं, 'हुआ होगा, कहीं गोदाम में सड़ रहा होगा, चूहे खा रहे होंगे, उसे तो यह अनाज 'काम के बदले अनाज' के एवज में दाना-दाना गिनकर ही मिल रहा है। चार दिन भी बुखार आ जाएगा तो घर में चूल्हा नहीं जलेगा।'

1984 में होरी के लिये बहुत कुछ बदला है, सूदखोरी नहीं बदली। ऋण अब रहा ही नहीं, जो भी देता है वास्तव में सहायता दे रहा है। एक तरह दो कामों के लिये दो तरह का ऋण, दो अलग-अलग रास्तों से आने के बावजूद चाहे सहकारी या सरकारी बैंक हों या पुश्तैनी सूदखोर, वसूली के मामले में दोनों एक से घातक हैं, दोनों ही खेत कुर्क करा सकते हैं, दोनों ही हवालात भिजवा सकते हैं। यह सूदखोरी व्यवस्था का द्वित्व (Diachotomy) नहीं है, सार्वजनिक और सहकारी क्षेत्र और निजी क्षेत्र के दुर्दांत सूदखोरों का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व है।

आज़ादी के बाद आर्थिक उभार और राजनीति का फ़ायदा बहुतों को मिला होगा, पर होरी जैसे खेतिहर मज़दूर के लिए न कोई मिनिमम वेजेज़ एक्ट (Mini Wages Act) लागू होने वाला है, न वर्क मेंस कंपेनसेशन एक्ट (Workmen's compensation Act)।

उसके लिए हर दीवार पर, हर अखबार और पत्रिका में गोरे-चिट्टे खेलते-खाते परिवारों के पोस्टर और फ़िल्म एक्टर, संगीतकार, प्रबंध विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, अंतरिक्ष यात्री, उद्योगपति, दार्शनिक, न्यायविद, ज़िन्दगी को समृद्धतर बनाने में लगे हैं, पर होरी की बदक़िस्मती कहिये, उसकी ज़िन्दगी पर हुकूमत तो छूरेबाज़ों, दलालों, सूदखोरों, बौद्धिक नपुंसकों, डकैतों, संवेदनहीन हाकिमों को राजनैतिक मौका-परस्ती की है।

अब वर्तमान में आते हैं। 1984 के चार दशक बाद भी हम वहीं के वहीं हैं। मनी-9 के एडिटर और अर्थशास्त्री अंशुमन तिवारी कहते हैं (दैनिक भास्कर, 17.1.2024), 'दो साल पहले जब श्रीलंका कर्ज़ का आर्थिक संकट झेल रहा था तो आई.एम.एफ. ने भारत के कर्ज़ को लेकर पहले-पहल अलार्म बजाया। मगर सरकारी बिगुल वादन में कौन सुनता। भारत का कुल सार्वजनिक कर्ज़ उसके जी.डी.पी. का शत-प्रतिशत या उससे ज़्यादा है अर्थात् देश जितना उत्पादन करता है उसके कुल मूल्य से अधिक कर्ज़ा। यह स्थिति छोटी और बीमार अर्थ-व्यवस्थाओं वाले देशों की है।

तो होरी के लिए कुछ कैसे बदल सकता है? हाँ, वह राजनीति के मुख्य घटक प्रोलफीड के अतिरिक्त इतिहास, धर्म और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के गंध द्रव्य के प्रचुर प्रयोग से अधिक रसवान, सुस्वादिष्ट और मादक हो गया है।

सभी युवा रचनाकारों की तरह, श्रीलाल शुक्ल ने भी कविता लेखन आरंभ किया। उनकी कविता की अधिक बात नहीं होती, किन्तु अनेक प्रतिष्ठित कवियों ने उनकी कविता की ओर संकेत किया है। वे सभी संयोजन की दृष्टि से तो उसकी तारीफ करते हैं, किन्तु उसमें निहित विषय वस्तु की नहीं। वे एक प्रकार से साफ़-सुथरी और अच्छी कविताएँ थीं जिनकी भाषा, रिद्म (लय-ताल) और छंद ठीक-ठाक था। कुंवर नारायण के अनुसार, उन्हें छंद की गहरी समझ थी। नरेश सक्सेना कहते हैं, 'कविता में उनकी गहरी रुचि थी और अनेक अवसरों पर उन्होंने मुझसे क्लासिकल पोएट्री के बारे में बात की और नई कविता के बारे में बात करते हुए अपनी जिज्ञासाएँ प्रकट की।'

श्रीलाल की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं जैसे सूनी घाटी का सूरज, अंगद का पाँव, यहाँ से वहाँ, उमराव नगर में कुछ दिन, कुछ ज़मीन में कुछ हवा में, आदमी का ज़हर, बिस्रामपुर का संत, आओ बैठ लें कुछ देर, अगली शताब्दी का ज़हर, जहालत के पचास साल, खबरों की जुगाली, अज्ञात वास, राग दरबारी, सीमाएँ टूटती हैं, मकान, पहला पड़ाव और कुछ आलोचना पुस्तकें, किन्तु अधिकांश पाठक उन्हें 'राग दरबारी' के लेखक के रूप में ही स्मरण करते हैं।

अपने प्रकाशन के तुरंत बाद ही 'राग दरबारी' का हिन्दी जगत् में व्यापक और अभूतपूर्व स्वागत हुआ। ऐसा कम ही हुआ होगा कि अपने प्रकाशन के पहले ही साल किसी हिन्दी पुस्तक की 2200 प्रतियाँ बिक गई हों और उसी साल उसे साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिल गया। उसके बाद अगली आधी शताब्दी में इसकी पाँच लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं, अंग्रेज़ी और इतर भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और करोड़ों लोगों ने इसे पढ़ा है।

पत्रकार रवीश कुमार कहते हैं कि—'राग दरबारी हमारी व्यवस्था का लाईव टेलीकास्ट है जो इसके प्रकाशन के समय से आज तक जारी है। क्योंकि राग दरबारी की दुनिया ही हमारी दुनिया है, इसका कारण है कि हमारी व्यवस्था स्वयं ही एक हास्य में बदल चुकी है।'

नेमिचंद्र मानते हैं कि यह मध्यवर्गीय सिनिसिज़्म (एक उपेक्षापूर्ण और उदासीन दृष्टिकोण) का रचनात्मक तर्क है। उनके अनुसार, 'राग दरबारी' शीर्षक एक अत्यंत भावपूर्ण और संगीत रूप (राग दरबारी कान्हड़ा) को सर्वथा अनपेक्षित संदर्भ प्रदान कर देता है।

इसके विपरीत पुरुषोत्तम अग्रवाल इसे सिनिसिज़्म और व्यंग्य नहीं, वेदना का उपन्यास मानते हैं। वे पूछते हैं, 'राजनीति के तमाम रूपों-विरूपों के बावजूद राग दरबारी का शिवपालगंज कितना बदला? शिवपालगंज अधिकतम हिंसक, संवेदनहीन और विवेकहीन होता चला गया।' वे उसे केवल एक व्यंग्य पुस्तक नहीं मानते, बल्कि एक लोकतांत्रिक, आधुनिक और रैशनलिस्ट (तर्कशील बुद्धिवादी) दिमाग की वेदना का दस्तावेज़ मानते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने अपने समाज से प्राप्त निजी अनुभवों से चिढ़कर कोई दस्तावेज़ लिखा हो। वे राग दरबारी से एक उद्धरण देते हैं जिसमें हमारा पात्र कांस की फुनगियों पर गाँठ बांधता हुआ चलता है। थोड़ी देर में मालूम होता है कि सारी कांस की फुनगियों में गाँठ बंध चुकी है और वह किस देवता या बजरंगबली ने कहा है? रंगनाथ के दिमाग पर आत्मगौरव की छाया धीरे-धीरे उतरी। बिना समझे-बूझे उसने एक नए संप्रदाय का प्रवर्तन कर दिया था जिसका दर्शन, कर्मकांड या पुराण इतना भर था कि कांस की फुनगी को गाँठ लगा दी जाए। उसने अपने आपको बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य की कतार में खड़ा पाया और मन ही मन कहा—'अपनी तो, मैं जानता हूँ, तुम्हीं कहो, नया संप्रदाय चलाने की तुम्हें क्या सूझी थी?'

ये जो irreverence (अश्रद्धा या अनादर का भाव) है, बुनियादी तौर पर एक सोचने-समझने वाले संवेदनशील और आधुनिक दिमाग की अश्रद्धा है जो यह नहीं मानता कि सभी सांस्कृतिक मान्यताएँ ठीक हैं, दरअसल कोई भी सांस्कृतिक आग्रह एक या दूसरे से कम या ज़्यादा नहीं है। भारत की आज़ादी के बीस साल बाद भी 'राग दरबारी' प्रत्यक्षतः समाज का एक नकारात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। किन्तु यहाँ स्वीकार्य सत्य है जिसका अनुमोदन भारत के ऊपर लिखी दो पुस्तकों से हो जाता है, पहली पुस्तक है प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन और ज्यां द्रेज़ द्वारा लिखित पुस्तक 'An Uncertain Glory' और दूसरी बी.बी.सी. के संवाददाता Mark Tully द्वारा लिखित पुस्तक 'No Full stops in India'। इनके शीर्षक ही सब कुछ कह जाते हैं, इसलिए हमारे यहाँ जो लोग किसी भी तरह के फैसले तक पहुँचने के पीछे पड़े हैं, वे अंततः पछताएँगे ही और यह कोई संयोग नहीं है कि राग दरबारी किसी निर्णायक स्थिति में खत्म नहीं होता।

'वैद्य जी टहलने चले गए हैं, रंगनाथ वापस जाने के मूड में आ चुका है। वह कुछ सोच रहा है और उसके मन में पलायन संगीत गूँज रहा है।'

डॉ. नामवर सिंह ने 'राग दरबारी' को लेकर कहा है, 'यह गाँव की पृष्ठभूमि पर ऐसी व्यंग्य रचना है, जो आदि से अंत तक उस मिज़ाज को बनाए रखती है। वे कहते हैं, 'श्रीलाल शुक्ल की एक कुँजी है जिसे अंग्रेज़ी में Humbug (पाखंड, कपट) कहते हैं, जीवन में जो पाखंड, छल-प्रपंच, झूठ या ढकोसला दिखाई पड़ता है उसे लोग अच्छा, मीठा-मीठा गप, बनाकर

लिखते हैं, श्रीलाल शुक्ल ने उसे तोड़ने की कोशिश की।'

हिन्दी जगत में सभी 'राग दरबारी' के बारे में एक-सी राय नहीं रखते। श्रीपतराय ने इसे घटिया दर्जे की किस्सागोई कहा था जिसमें केंद्रीय मनीषा का अभाव है।

पुष्पेश पंत भी इसे कालजयी रचना कहते हुए हिचकिचाते हैं। समाज विज्ञान के विद्यार्थी के रूप में उन्हें यह कहने में अटपटा लगता है कि शिवपालगंज में आज का भारत अपना अक्स देख सकता है। वे इसे नेहरू युग के मूल्यों के प्रति मोहभंग का भारत कहते हैं। वे कहते हैं, 'हम लोग टेक्नोलॉजी के उस प्रभाव को भूल रहे हैं जिसने देहात और शहर के रिश्ते को बुनियादी तौर पर बदल दिया है। आज देहात बचा ही कहाँ है? ये सारी यादें उस ज़माने की हैं जो आज की युवा पीढ़ी को पौराणिक लगता है। पुरुषोत्तम अग्रवाल जिस संवेदनशून्य भारत की बात करते हैं, वह भूमंडलीकरण से जुड़ा है और भारत में तो राजनीतिक समीकरण भी इतने बदल गए हैं जिसमें संवेदनाएँ भी बदल गई हैं।'

अनेक लोगों का मानना है कि व्यंग्य लेखन में जो प्रखरता परसाई में थी वह श्रीलाल शुक्ल में नहीं है। परसाई के व्यंग्य लेखन में जो सूक्ष्मता और विलक्षणता है, श्रीलाल शुक्ल में उसका नितांत अभाव है। उन पर अपरिष्कृत होने का आरोप तो सीधा-सीधा लगता है जब कथाकार विभूति नारायण कहते हैं कि—'ऐसा नहीं है कि 'राग दरबारी' में जिस समाज की बात की गई है वहाँ सब कुछ नकारात्मक है, किन्तु वे यह कहने से नहीं चूकते कि एक बड़ी रचना होते हुए भी 'राग दरबारी' में बहुत सारे मौकों पर, हास्य, व्यंग्य से खिसकता हुआ है और कई जगह बड़ा क्रूड (अशिष्ट या अपरिष्कृत) लगता है।'

भारतीय सांख्यिकी संस्थान (Indian Statistical Institute) से पी-एच.डी. और डॉ. मनमोहन की सरकार में राष्ट्रीय सलाहकार समिति के सदस्य रह चुके प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, ज्यां द्रेंज़ 'राग दरबारी' के बारे में कहते हैं कि—'शिवपालगंज उस गाँव से भिन्न नहीं है जहाँ वो एक साल तक रह चुके हैं। वहाँ यदि अधिकतर लोग कठोर मेहनत करके जी रहे हैं और अनेक लोग बेरोज़गार भी हैं तो ऐसे साधन सम्पन्न और उच्च जाति के लोग भी हैं जो मेहनत नहीं करते बल्कि बेईमानी करते हैं, गरीबों का शोषण करते हैं, सरकारी योजनाओं की लूट करते हैं, और जब तक है, ज़मीन या सम्पत्ति बचते हैं। दारू बेचते हैं और क्योंकि वहाँ रेल-लाईन भी है तो चलती हुई ट्रेनों से कोयला चोरी करते हैं। वे नेतागिरी करते हैं, गुंडागर्दी करते हैं, ताश खेलते हैं, कुश्ती करते कराते और चाय पीते, गपशप करते, गांजा पीते और कबड्डी खेलते हैं। यही बेकार और निठल्ला वर्ग या तो लोकतंत्र को manage (अपने हित में नियंत्रित करना) करने की कोशिश करता है या फिर उससे बचने की कोशिश करता है क्योंकि लोकतंत्र केवल आज़ादी ही नहीं, समानता और बंधुत्व भी है। इन चीज़ों से इनके अहं को भी ठेस लगती है। पुराने दिनों में दलित मज़दूर और महिला का नियंत्रण पिटाई से होता था, जो आज के युग में संभव नहीं। इसका रास्ता उन्होंने निकाल लिया है, सार्वजनिक संस्थाओं पर कब्ज़ा। स्कूल, ग्राम पंचायत, कोऑपरेटिव सोसायटी, जन वितरण प्रणाली की दुकान और विकास योजनाओं पर कब्ज़ा। जिस गाँव की बात मैं कर रहा हूँ, वहाँ का सरपंच एक ठाकुर था, उसका बेटा स्कूल चला रहा था और दामाद जन वितरण प्रणाली की दुकान।

आधी सदी बाद सुधार तो बहुत हुआ है, युग बदल गया है और संदर्भ भी, किन्तु शिवपालगंज तो किसी न किसी रूप में बना ही हुआ है।

कथाकार अखिलेश का मत है कि जो लोग 'राग दरबारी' को गरीबों पर व्यंग्य करता हुआ बताते हैं कि वे सब कहीं उच्च वर्ग या मध्य वर्ग के धरातल पर तो नहीं देखते? वे लंगड़ का उद्धरण देकर कहते हैं, 'ऐसा लगता है कि सिस्टम द्वारा लंगड़ का मज़ाक उड़ाया गया है, किन्तु अपनी फलश्रुति में तो 'राग दरबारी' उस सिस्टम पर ही आघात करता है।'

साहित्यकार अरुण प्रकाश के अनुसार, 'साहित्य में कोरे विक्षोभ से काम नहीं चलता, श्रीलाल शुक्ल ने राग दरबारी में इतना निर्मम टोन (सुर, लहज़ा) अपनाया है कि वह कुछ भी उघाड़ने से नहीं चूकता।'

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त भू-मंडलीकरण, नये संदर्भों और बदले हुए राजनैतिक समीकरण बदल जाने के बावजूद 'राग दरबारी' आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। इसकी यात्रा जारी है और उम्मीद करते हैं, आगे भी जारी रहेगी।

[20, आसा सिंह बाग, नारायण गढ़ रोड, अम्बाला शहर, हरियाणा]

मो. 94163 69790

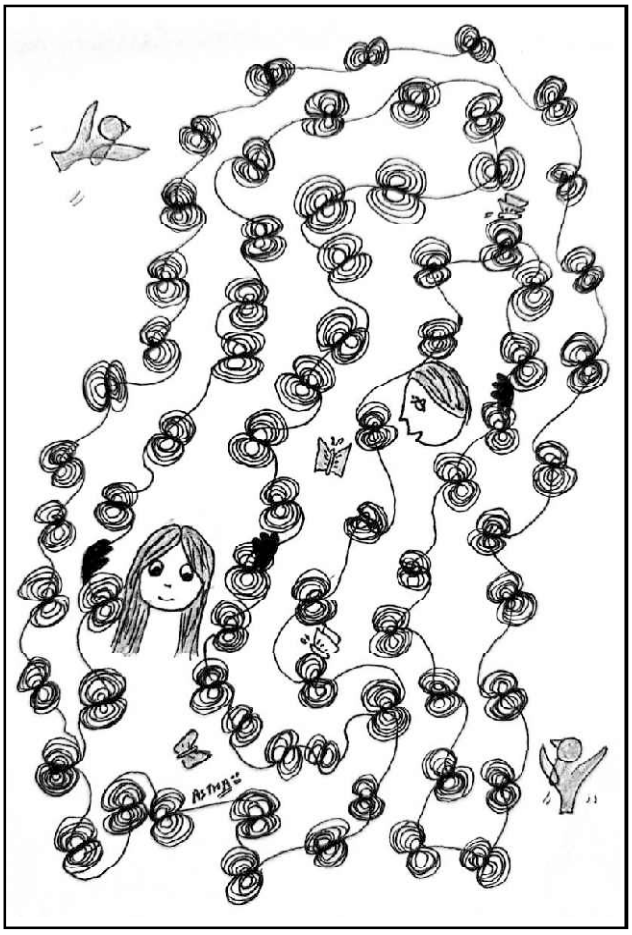

संस्मरण

श्रीलाल शुक्ल से एक मुलाकात : जैसा मैंने जाना

❑❑ लालित्य ललित

यह मुलाकात लखनऊ में उनके निवास स्थान पर हुई, साथ में व्यंग्यकार गोपाल चतुर्वेदी, व्यंग्य यात्रा के संपादक प्रेम जनमेजय और मैं ठहरा व्यंग्य का विद्यार्थी। यह सोच कर गया था कि चलिए इसी बहाने 'राग दरबारी' के रचयिता श्रीलाल शुक्ल जी से मिलना हो जाएगा। वे उस समय अस्वस्थ चल रहे थे। लेकिन इसके बावजूद भी उन्होंने कहा—गोपाल जी, सुनो गोपाल! काला कुत्ता चलेगा!

मुझे बड़ा विस्मय हुआ! कि यह काला कुत्ता क्या है?

कुछ समझ नहीं आया, क्योंकि सरकारी स्कूल से निकला था, तौर-तरीके नहीं जानता था।

प्रेम जनमेजय भी शांत रहे कि देखते हैं अब अगला कदम क्या होगा! तभी श्रीलाल शुक्ल जी ने अपने बेटे से कहा। सुनो! 'ज़रा मेहमान आए हैं, मैं चाय पियूँगा और मेहमान लोग काला कुत्ता चखेंगे!

मेरी स्थिति एक अबोध शिशु-सी थी कि यह काला कुत्ता होता क्या है! दरअसल जब काला कुत्ता सामने आया तो चौंकने की बारी थी मेरी, वह शराब थी जिसका अंग्रेज़ी नाम ब्लैक डॉग था।

श्रीलाल शुक्ल सचमुच में अद्‌भुत व्यक्ति थे, जो उनसे मिलता था उनकी स्मृति में उनके पात्र और उनकी पुस्तकें घूमती रहती थीं। और जब-जब लखनऊ जाना हुआ तो गोपाल जी के माध्यम से उनसे मिलना हुआ, उनकी किंवदंतियों के माध्यम से, उनके किस्से अक्सर घूमते रहते थे।

मन में यह भी आया कि श्रीलाल शुक्ल को जानना हो तो प्रेम जनमेजय को जानना चाहिए। साथ में ये पाया कि लेखक को जितना सरल होना चाहिए, उतना उसके भीतर का बच्चा जिद्दी होता है, वह कुछ बातें समझता है और कुछ इग्नोर करता हुआ आगे बढ़ता रहता है। यही बात है कि लेखन लेखक को परिमार्जित भी करता है और संस्कारित भी।

जैसे एक बार आलोचना के शिखर पुरुष राम विलास शर्मा ने अपने साक्षात्कार में यह कहा था कि इस बात को ऐसे लीजिए जैसे आप किसी दनदनाती हुई रेल में बैठे कहीं जा रहे हों, रास्ते में अज्ञात क़िस्म के गाँव पड़ते हैं और वहाँ बच्चों का हुजूम दिखाई देगा, जो कभी रेल में नहीं बैठें हैं, उनके मन की इच्छा होती है कि पता नहीं उन्हें कब बैठने का मौका मिलेगा! वे कंकर या हल्के पत्थर रेल पर मारते हैं, अब सोचिए दौड़ती हुई, चिंघाड़ती

हुई रेल पर कुछ असर पड़ेगा! नहीं न! तो अपने काम से काम रखिए, वह काम ही आपको अपनी पहचान दिलाएगा, यही तर्क भी है जो अकाट्य है। बात में दम था, यही कारण है कि इतने बरस बाद भी श्रीलाल शुक्ल पठनीय हैं, आज व्यंग्य बिरादरी के अनेक जुगाड़ पुरुष ऐसे भी हैं जो सामान्य से सामान्य सम्मान के लिए सिफ़ारिश जैसे शब्द को प्राथमिकता देते हुए प्रयास करते हैं कि फलाना श्री हमें मिल जाए, उसके लिए उन्हें अपनी रात काली करनी पड़े, वे बस का, जहाज़ का भी सहारा लेने में किसी भी प्रकार की कोताही नहीं करते।

कमाल के लोग हैं, पुरुष तो हैं ही, लेकिन वे महापुरुष की कोटि में अपने को रखना पसंद करते हैं। धन्य है व्यंग्य समाज और वे लोग जो अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनते हैं।

सरकारी अधिकारी रहे हैं श्रीलाल शुक्ल जी, इसलिए उन्हें वक़्त भी मिला रचनात्मक लेखन को और असरदार भी लिख पाए।

आज लखनऊ में उनके नाम का मार्ग है, जिस मार्ग पर पहले वे खुद दौड़ा करते थे, आज अनेक लोग चला करते हैं। यही सच्चाई है, यह बात स्वीकार करनी होगी कि आगे आने वाले समय में आपका लेखन ही याद किया जाएगा और भाई साहब ये जोड़-तोड़ यहीं रह जाएँगे, इन्हें कोई भी नहीं पूछेगा, यह मान लीजिए।

लगता है हमारे यहाँ पाठक तो हैं, लेकिन वे बंटे हुए हैं। उन्हें फिर से जोड़ने की कोशिश है, जिसके प्रयास जो किए गए हैं, वे अभी कम हैं, लेखक का लेखन उसे ख्याति तो देता ही है साथ ही उसे अर्थ भी देता है कि वह भरा पेट रहेगा तो कुछ और भी सार्थक लिख पाएगा।

आज का लेखक कुछ इस कदर चाहता है कि वह सरपट दौड़ लगाता रहे और झट से सबकुछ उसकी झोली में, उसकी खोली में आ जाए। ऐसा कहाँ होता है भाई साहब।

उसके लिए लिखना पड़ता है, तपस्या करनी पड़ती है, विषयों से मिलना होता है तब कहीं जाकर बात बनती है, समझो इस बात को।

आज के लेखक को अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखन का अध्ययन करना होगा, यह जानना होगा कि आखिर उनके लेखन में क्या कुछ था और हमें कितना आत्मसात करना है कि हमारा जीवन आगे बढ़ता हुआ खिल सके। इस बात का गंभीरता से मनन करना होगा, तभी कंटीली राह का रास्ता साफ़ होगा और सफलता की खुशी चेहरे पर दमकती हुई मिलेगी।

श्रीलाल शुक्ल व्यंग्य को अपने में जीते थे और दूसरों में उतना ही रंग भरते थे और रंग जहाँ सतरंगी होता था वहीं वह भावनाओं को उकेरता भी था और कई तरह के भाव चेहरे पर आते और अनायास जी जाने का प्रयास भी करते थे।

'राग दरबारी' उनके जीवन की एक उत्कृष्ट रचना थी। जिसे आज हर पाठक उतना ही पसंद करता है, अब वह मीडिया का कमाल बेशक हो; मीडिया किसी भी रचना को बहुत तेज़ी से व्यापक समूह तक ले जाने में कामयाब है, अब वह भीष्म साहनी का 'तमस' ही क्यों न हो, जब किसी कृति की व्यापकता का और उसके उद्देश्य का प्रसार हो जाता है तो निसंदेह इसके साथ ही जिज्ञासा का भाव उसे पाठकों और चाहने वालों के मध्य लोकप्रिय बना देता है, यही भाव श्रीलाल शुक्ल के साथ दिखाई देता है।

रविंद्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल और शरद जोशी की आपस में विचार धर्मिता भले ही अलग क्यों न हो, उनके उद्देश्य लगभग एक ही थे, एक ही मूल स्वर था और वह था कि

विसंगतियों को समझना और कायदे से प्रहार करना।

मुझे याद आता है कि 'राग दरबारी' मेरे जन्म से दो वर्ष पहले यानी 1968 में प्रकाशित हुआ था और उस पर उन्हें साहित्य अकादेमी सम्मान भी मिला तथा सम्मान मिलने के बाद यकायक वे मुख्य धारा में आ गए। श्रीलाल शुक्ल जी के कई उपन्यास आए, पर उन्हें जो ख्याति मिली वह 'राग दरबारी' ही है।

हरीश नवल की पुस्तक 'कुछ व्यंग्य की : कुछ व्यंग्यकारों की' में लिखा है कि राग दरबारी एक ऐसे समाज की व्याख्या करता है, जिसे केवल बेहद प्रेक्टिकल लोग ही चला सकते हैं।

यह भी कहना उचित होगा कि 'गोदान' के बाद ग्राम चेतना पर लिखा गया 'राग दरबारी' सबसे उत्कृष्ट उपन्यास है, जो प्रायः सभी भाषाओं में रूपांतरित हो कर यशस्वी हुआ है। यह कहना भी उचित होगा कि वे आत्मिक और बौद्धिक धरातल पर अपनी मज़बूती के साथ खड़े रहे।

आज बेशक वे सशरीर हमारे साथ मौजूद नहीं हैं, लेकिन अपने लेखन के साथ, अपनी रचनाओं के माध्यम के साथ हमारे बीच में उसी तटस्थता के साथ विद्यमान हैं।

हरिशंकर परसाई, त्यागी, शरद जोशी और श्रीलाल शुक्ल उस ज़माने के व्यंग्य स्तम्भ थे। मैं अपने आपको खुशनसीब मानता हूँ कि श्रीलाल शुक्ल से और रविन्द्र नाथ त्यागी से मिलने का मौका मिला। व्यंग्य लेखन की परंपरा को निभाने वाले आज अनेक दक्ष लेखक हैं, जो अपने कर्तव्य का निर्वहन बखूबी कर रहे हैं।

प्रेम जनमेजय ने उनके साथ कई परियोजनाओं को साकार किया। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत से उन दोनों के संपादन में हिंदी हास्य व्यंग्य संकलन प्रकाशित हुआ, जिसकी अब तक बीस के लगभग आवृत्ति प्रकाशित हो चुकी हैं। जिसमें बालकृष्ण भट्ट से लेकर गोपाल प्रसाद व्यास, हरिशंकर परसाई, धर्मवीर भारती, सूर्यबाला, नरेंद्र कोहली सहित सुरेश कांत भी शामिल हैं। बहरहाल आज श्रीलाल शुक्ल का नाम सम्मानजनक तरीके से पाठक वर्ग द्वारा लिया जाता है।

[बी 3/43, शकुंतला भवन, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063]

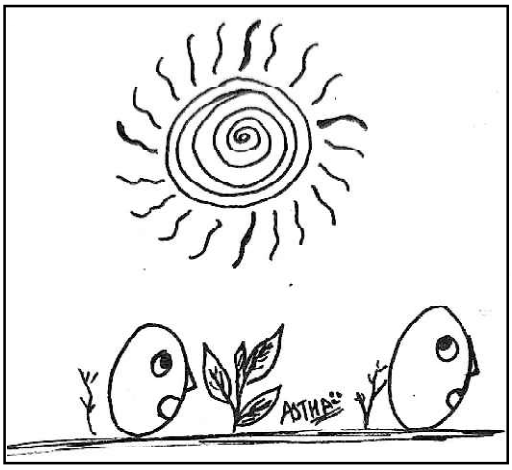

श्रीलाल शुक्ल

जन्म : 31 दिसम्बर, 1925, गाँव अतरौली, लखनऊ (उत्तर प्रदेश)।

शिक्षा : 1947 में, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक ।

नौकरी : 1949 में राज्य सिविल सेवा से प्रारम्भ कर 1983 में भारतीय प्रशासनिक सेवा से सेवानिवृत्त।

प्रकाशित पुस्तकें

प्रारम्भिक विविध प्रयोगों के बाद 'स्वर्णग्राम और वर्षा' (1954) व्यंग्य-कथा से रचना-यात्रा की शुरुआत।

उपन्यास

सूनी घाटी का सूरज	1957
अज्ञातवास	1962
राग दरबारी	1968
आदमी का ज़हर	1972
सीमाएँ टूटती हैं	1973
मकान	1976
पहला पड़ाव	1987
बिस्रामपुर का संत	1998
बब्बर सिंह और उसके साथी	1999
राग-विराग	2001

कहानी-संग्रह

यह घर मेरा नहीं	1979
सुरक्षा तथा अन्य कहानियाँ	1991
इस उम्र में	2003
दस प्रतिनिधि कहानियाँ	2003

व्यंग्य-संग्रह

अंगद का पाँव	1958
वहाँ से वहाँ	1970
मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ	1979
उमरावनगर में कुछ दिन	1986
कुछ ज़मीन पर कुछ हवा में	1990
आओ बैठ लें कुछ देर	1995
अगली शताब्दी का शहर	1996
जहालत के पचास साल	2003
ख़बरों की जुगाली	2005

आलोचना

अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग	1999

विनिबंध

भगवती चरण वर्मा	1989
अमृतलाल नागर	1994

सम्पादन

हिन्दी हास्य-व्यंग्य संकलन	2000

साक्षात्कार

मेरे साक्षात्कार	2002

अनुवाद

राग-दरबारी (अंग्रेज़ी एवं सभी प्रमुख भारतीय भाषाएँ)
पहला पड़ाव (अंग्रेज़ी)
मकान (बांग्ला)
बब्बर सिंह और उसके साथी (अंग्रेज़ी)

सम्मान/पद/पुरस्कार

'राग दरबारी' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार	(1970)
'मकान' पर म.प्र. हिन्दी साहित्य परिषद् का पुरस्कार	(1978)
भारतेन्दु नाट्य अकादमी, लखनऊ के निदेशक	(1979-80)
भारतीय लेखक प्रतिनिधि, अन्तर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन, बेलग्रेड	(1981)
सदस्य, हिन्दी सलाहकार समिति, साहित्य अकादमी	(1982-86)
एमरेट्स फेलोशिप, भारत सरकार	(1987-90)
साहित्य भूषण, उ.प्र. हिन्दी संस्थान	(1988)
गोयल साहित्य पुरस्कार, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय	(1991)
लोहिया सम्मान, उ.प्र. हिन्दी संस्थान	(1994)
शरद जोशी सम्मान, म.प्र. शासन	(1996)
मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, म.प्र. शासन	(1997)
व्यास सम्मान	(1999)
यश भारती, उ.प्र. शासन	(2005)
पद्मविभूषण	(2008)

साहित्यिक यात्राएँ

यूगोस्लाविया, जर्मनी, इंग्लैण्ड, पोलैण्ड, सूरीनाम, चीन आदि।

अमृत महोत्सव

श्रीलाल शुक्ल अमृत महोत्सव समिति द्वारा 2005 में श्रीलाल शुक्ल : जीवन ही जीवन ग्रंथ प्रकाशित—सम्पादक नामवर सिंह।

–'इतना काम है कि सारा काम ठप्प पड़ा है।'

–'लेक्चर का मज़ा तो तब है जब सुननेवाले भी समझें कि यह बकवास कर रहा है और बोलने वाला भी समझे कि मैं बकवास कर रहा हूँ।'

–'अगर हम खुश रहें तो गरीबी हमें दुखी नहीं कर सकती और गरीबी को मिटाने की असली योजना यही है कि हम बराबर खुश रहें।'

–'हर बड़े राजनीतिज्ञ की तरह वे राजनीति से नफ़रत करते थे और राजनीतिज्ञों का मज़ाक उड़ाते थे।'

–राग दरबारी

VIPASHA-223-224 NOVEMBER, 2023-FEBRUARY, 2024 PRICE : ₹30/-

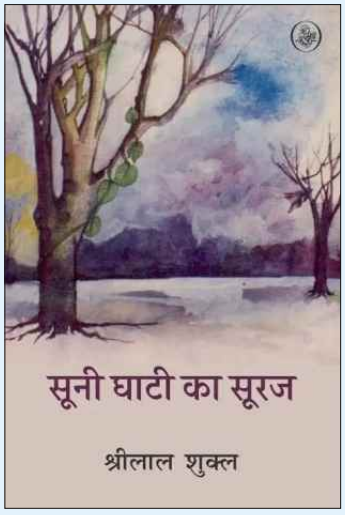

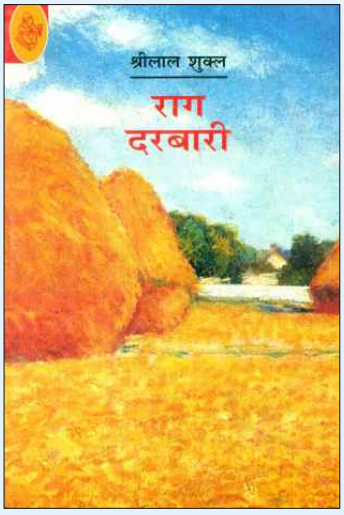

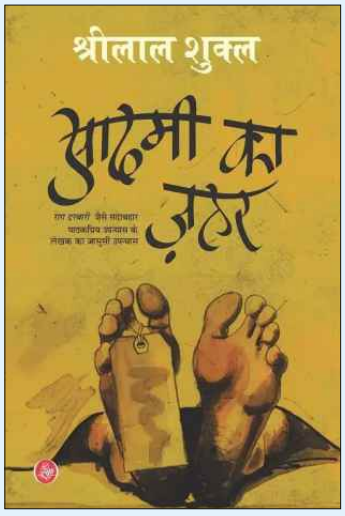

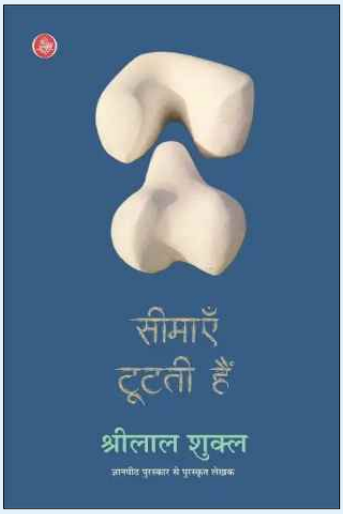

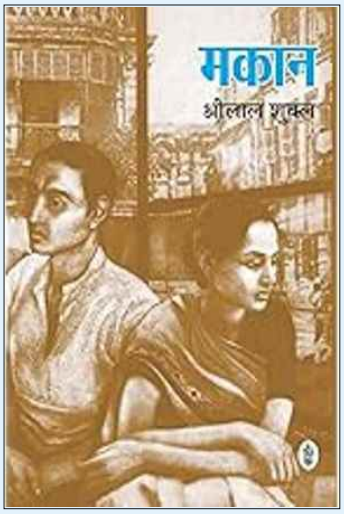

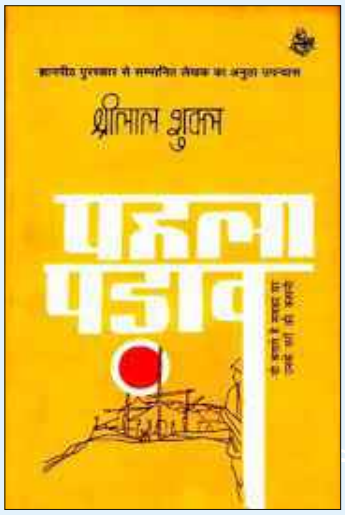

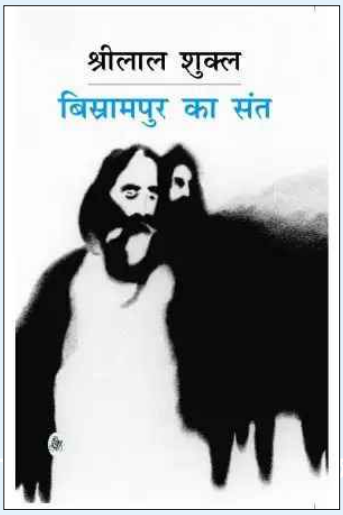

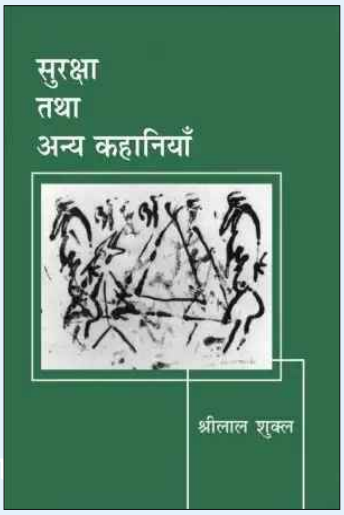

पंजीयक-समाचार पत्र, भारत सरकार द्वारा पंजीकृत संख्या : 42497/85

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि.प्र., शिमला-171009 द्वारा प्रकाशित तथा नियन्त्रक, मुद्रण एवं लेखन सामग्री विभाग, शिमला-5 द्वारा मुद्रित। मुख्य संपादक : डॉ. पंकज ललित